रुद्रटकृत काव्यालङ्कार
का
समीक्षात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत
शोध प्रबन्ध

•

निर्देशिका
डा० (श्रीमती) ज्ञान देवी श्रीवास्तव
रीडर, संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

•

शोधकर्त्री
श्रीमती रूबी वर्मा
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग
महिला सेवा सदन डिग्री कालेज
इलाहाबाद

संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
१९९०

प्राक्कथन

नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि से आरम्भ होने वाली संस्कृत काव्यशास्त्र की विधा प्राचीन होने के साथ- साथ अत्यधिक समृद्ध भी है। समय- समय पर अनेक मूर्धन्य काव्यशास्त्री इसे पल्लवित और विकसित करते आये हैं, जिनमें आचार्य प्रवर रुद्रट भी हैं। इन्होंने "काव्यालङ्कार" नाम से एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें काव्य- लक्षण, काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन, शब्दगत तथा अर्थगत अलङ्कार, काव्यदोष, रस तथा प्रबन्ध- भेद इत्यादि विभिन्न काव्य-शास्त्रीय विषयों का विशद विवेचन किया है। उनके इस ग्रन्थ से संस्कृत काव्य-शास्त्र स्थान- स्थान पर प्रभावित और अनुगृहीत हुआ है।

इन्होंने किन्हीं विषयों में पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुकरण मात्र किया है तो अनेक विषयों में स्थान- स्थान पर अपनी मौलिकता का प्रदर्शन भी किया है, यथा काव्य- लक्षण के विषय में जहाँ उन्होंने आचार्य भामह का अनुकरण किया है वहीं शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों की समष्टि को काव्य हेतु के रूप में प्रतिपादित करके अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। इसी प्रकार अनेक नवीन अलङ्कारों की भी उन्होंने उद्भावना की, जिनमें से अधिकांश को परवर्ती काव्यशास्त्र में स्थान मिला। रस के प्रसङ्ग में भी रुद्रट ने मौलिकता दिखाते हुए उसे भरतमुनि की भाँति स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान किया है जबकि भामह, दण्डी इत्यादि ने उसे रसवदादि की संज्ञा देकर अलङ्कारों में अन्तर्भूत किया है।

इनके इस ग्रन्थ की समीक्षा में लिखे गये प्रस्तुत शोध- प्रबन्ध में बारह अध्याय हैं। जिनमें से पहला और बारहवाँ क्रमशः प्रास्ताविक और उपसंहार हैं। तीसरे से लेकर आठवें - इन छः अध्यायों में शब्दगत तथा अर्थगत अलङ्कारों की समीक्षा की गयी है तथा शेष चार अध्यायों में से द्वितीय में काव्यलक्षण,

काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन तथा प्रबन्ध- भेद, नवें में काव्यदोष, दसवें में विभिन्न रसों तथा ग्यारहवें अध्याय में नायक, सहायक नायक तथा नायिका भेदों की समीक्षा की गयी है।

पूजनीया विदुषी डा० ज्ञानदेवी, रीडर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ एवं ऋणी हूँ, जिनके प्रतिभासम्पन्न निर्देशन एवं अथक प्रयास से यह कार्य सम्पन्न हुआ। इनके प्रतिभाशाली एवं बहुमूल्य सुझाव, सदैव सहायता करने की तत्परता तथा इन सबसे भी बढ़कर उनकी शिष्य-वत्सलता एवं प्रफुल्लित व्यक्तित्व की निर्देशन शक्ति के कारण मैंने सदैव साधिकार स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रेरणा प्राप्त की। अस्वस्थता के बावजूद भी इन्होंने निर्देशन- कार्य में पूर्ण तत्परता दिखायी जिससे यह कार्य निर्विघ्न रूप से समाप्त हो सका ।

मैं डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्व-विद्यालय के प्रति भी अपना आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने इस कार्य से सम्बन्धित प्रेरणा तथा सभी प्रकार की सुविधायें उपलब्ध कराके मुझे अनुगृहीत किया ।

टङ्कक श्री भाईराम यादव एवं पुस्तकालय के अधिकारियों एवं कर्म-चारियों की भी मैं आभारी हूँ ।

अपने गुरुजनों एवं परिवार के सभी सदस्यों की ऋणी होने के साथ- साथ मैं विशेष रूप से अपने पति डा० बृजेश कुमार की ऋणी हूँ जिन्होंने मुझे प्रेरित तो किया ही, साथ ही अपना बहुमूल्य समय देकर इस कार्य से सम्बन्धित अन्य विभिन्न गुत्थियों को अपने परिश्रम से सुलझाया भी है ।

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
पन्चम अध्याय - औपम्यमूलक अर्थालङ्कारों का विवेचन	...230 - 284
उपमा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, साम्य, स्मरण	
षष्ठम अध्याय - अतिशयोक्तिमूलक अर्थालङ्कारों का विवेचन	...285 - 308
विशेष, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, असङ्गति, पिहित, व्याघात, अहेतु	
सप्तम अध्याय - श्लेषमूलक अर्थालङ्कारों का विवेचन	...309- 318
अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र-श्लेष, व्याज-श्लेष, उक्तिश्लेष, असम्भव- श्लेष, अवयव-श्लेष, तत्त्व-श्लेष, विरोधाभास	
अष्टम अध्याय - एक से अधिक वर्गों में आने वाले अलङ्कारों का विवेचन	...319 - 351
सहोक्ति, समुच्चय, उत्तर, विषम, उत्प्रेक्षा, पूर्व, सङ्कर	
नवम अध्याय - काव्यदोष - विवेचन	...352 - 400
पदगत दोष, वाक्य दोष, अर्थदोष, गुणाभाव रूप में विवेचित काव्यदोष, उपमादोष	
दशम अध्याय - रस- विवेचन	...401 - 426
शृङ्गार रस, वीर रस, करुण रस, बीभत्स रस, भयानक रस, अद्भुत रस, हास्य रस, रौद्र रस, शान्त रस, प्रेयान् रस	

प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय

परिचय तथा स्थान -

"काव्यालङ्कार" नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ के प्रणेता तथा अलङ्कार सम्प्रदाय के मूर्धन्य आचार्य विद्वद्वर रुद्रट ने अन्य संस्कृत विद्वानों की भाँति अपने विषय में कुछ नहीं कहा है। इनके विषय में जो भी ज्ञान प्राप्त होता है, वह इन्हीं के प्रख्यात ग्रन्थ के माध्यम से ।

इन्होंने "चित्रालङ्कार" के खड्गबन्ध, मुसलम्, इत्यादि आठ भेदों के जो उदाहरण दिए हैं,[1] तथाकथित ग्रन्थ के टीकाकार नमिसाधु ने उन्हीं पद्यों के बीच- बीच से कुछ वर्ण चुनकर एक अन्य पद्य की रचना की है, जो इस प्रकार है -

> "शतानन्दापराख्येन भट्टवामुकसूनुना ।
> साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमता हितम् ॥"

1- (क) मारारिशक्ररामेभमुखैरासाररंहसा ।
सारारब्धस्तवा नित्यं तदर्तिहरणक्षमा ॥

(ख) मातानतानां संघट्टः श्रियां बाधितसंभ्रमा ।
मान्याथ सीमा रामाणां शं मे दिश्यादुमादिजा ॥

(ग) मायाविनं महाहावा रसायातं लसद्भुजा ।
जातलीलायथासारवार्य महिषमावधीः ॥

(घ) माम्भीदा शरण्या मुत्सवेवावकृप्ता च धीः ।
धीरा पवित्रा संनासाम्नाद् नासीष्ठा मातरारम् ॥

(ङ) मान्नापकर्ष लोकद्वेषी सद्रस सन्नम् ।
मन्सा सादरं गत्वा सर्वदा दास्यमङ्गताम् ॥

(च) मा मुधो राजस स्वासुत्सोकटुरेशदेवताम् ।
तां शिवावाशितां सिद्धयाध्यासितां हि स्तुतां स्तुहि ॥

(छ) माहिषाख्ये रणेऽन्या नु सा नान्यमत्र हि ।
हिमालङ्गाद्विवामुं च कं कम्मनमुपप्लुतम् ॥

(ज) मातङ्गानङ्गविधिनामुना पादं समुन्नतम् ।
तङ्गयित्वा शिरस्यस्य निपात्याघन्ति रंहसा ॥

टीकाकार नमिसाधु का कहना है कि कवि रुद्रट ने उक्त आठ पद्यों में अपने नाम के चिह्नभूत इस पद्य को भी अन्तर्भावित कर दिया है,[1] जिसका अर्थ है कि रुद्रट का दूसरा नाम "शतानन्द" था, वे "वामुक" नामक ब्राह्मण के पुत्र थे तथा सामवेद [गीतिबन्ध] के ज्ञाता उन्होंने बुद्धिजीवियों के हित के लिए इस काव्य की रचना की है ।

इसके अतिरिक्त इनके परिचय के विषय में अन्य कोई तथ्य नहीं प्राप्त है। कुछ मूर्धन्य विद्वानों ने इनके विषय में अनुमान के आधार पर न्यूनाधिक निश्चय किया है। डॉ० पी० वी० काणे का कहना है कि अपने नाम के आधार पर रुद्रट काश्मीरी प्रतीत होते हैं।[2]

किन्तु टकारान्त संज्ञा के आधार पर इन्हें काश्मीरी मानना सङ्गत नहीं प्रतीत होता क्योंकि अन्य प्रदेश के निवासियों में भी किसी किसी की संज्ञा टकारान्त पायी जाती है। यथा- कल्हण, विह्लण [विल्हण] तथा जल्हण [सोमपालविलास के रचनाकार] यदि काश्मीरी हैं तो इनकी संज्ञाओं से साम्य रखने वाले सायण तो काश्मीरी नहीं हैं। इसी प्रकार "सुभाषित-मुक्तावली" के रचनाकार जल्हण दाक्षिणात्य हैं। इनके साथ ही स्मृतिचन्द्रिका-कार देवण्णभट्ट तथा वत्सभट्टि भी दाक्षिणात्य ही हैं। रणस्तम्भपुर के वाह-मानों में बाल्हण तथा वाग्भट, मालवा के परमारों में सुभटवर्मन्, नाडोल के वाहमानों में आल्हण, केल्हण, शाकम्भरी के पृथ्वीभट और मेवाड़ के गुहिलों में वैरट और छोड के नाम मिलते हैं।[3] उक्त सभी संज्ञाएँ टकारान्त होने के कारण काश्मीरी प्रतीत होती हैं परन्तु वास्तविकता इससे सर्वथा पृथक् है।

1- अत्र च चक्रे स्वनामाङ्कभूतोऽयं श्लोकः कविनान्तर्भावितो यथा ।
वही, 5/ पृ०- 129

2- History of Sanskrit Poetics by P.V.Kane p.144.

3- Geneology in "The Struggle for Empire",Vol.V,Bhartiya Vidya Bhawana's 'History and Culture of Indian People.

इसके अतिरिक्त "काव्यालङ्कार" के प्रणेता को रुद्रट के अतिरिक्त रुद्र, भट्टरुद्र तथा रुद्रभट्ट नामों से भी जाना जाता है। "शाङ्गधर-पद्धति" में "एकाकिनी यदबला"[1] इत्यादि पद्य रुद्र के नाम से उल्लिखित हैं जो काव्यालङ्कार के सातवें अध्याय का इकतालीसवाँ पद्य है। इसी प्रकार "मलयानिल"[2] आदि भट्टरुद्र के नाम से उल्लिखित है जो उक्त ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय का तीसवाँ पद्य है। पिता के नाम "भट्टवामुक" के आधार पर भी रुद्रट का "भट्टरुद्र" नाम सङ्गत प्रतीत होता है। ये सभी संज्ञाएँ टकारान्त नहीं हैं, इसलिए यदि केवल टकारान्त संज्ञा को ही आधार मान कर इन्हें काश्मीरी स्वीकार किया जाय तो अन्य संज्ञाओं के आधार पर इन्हें काश्मीरी नहीं माना जा सकेगा । इसके अतिरिक्त यदि "रुद्रभट्ट" संज्ञा को आधार माने तो भी भट्टपदान्त अनेक संज्ञाएँ यथा बाणभट्ट, त्रिविक्रम भट्ट तथा भुवनभट्ट इत्यादि काश्मीर से इतर प्रदेशों की हैं। इस प्रकार केवल टकारान्त संज्ञा के ही आधार पर इन्हें काश्मीरी नहीं माना जा सकता ।

कुछ विद्वानों का कहना है कि रुद्रट अवन्तिवर्मा के शासनकाल में निवास करते थे,[3] जिससे स्पष्ट है कि वे उन्हें अवन्तिवर्मा समकालीन मानते थे। किन्तु यह मत प्रमाणों के अभाव में निराधार है। कल्हण की "राजतरङ्गिणी" में मुक्ताकण तथा शिवस्वामी नामक चिन्तकों का उल्लेख है, जो अवन्तिवर्मा के समकालीन थे । यदि रुद्रट भी उनके समकालीन होते तो अवश्य ही कल्हण उनका भी उल्लेख करते, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया है, जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि रुद्रट अवन्तिवर्मा के शासनकाल में निवास नहीं करते थे।

1- शाङ्गधरपद्धति 3773

2- वही 3788

3- Early History and Culture of Kashmir by Dr. S. C. Rai p. 174.

हाँ, कन्नौज के राजा भोजदेव के एक दानपत्र में रुद्रट नाम के एक अधिकारी का उल्लेख अवश्य है[1] किन्तु यह रुद्रट "काव्यालङ्कार" का प्रणयन करने वाले काव्यज्ञ थे अथवा अन्य कोई और, प्रमाणों के अभाव में यह निश्चित कर पाना असम्भव है ।

उपर्युक्त समीक्षा से स्पष्ट है कि रुद्रट के सम्बन्ध में कोई भी ऐसा बर्हिसाक्ष्य नहीं है, जिससे उनका निवास स्थान निश्चित किया जा सके ।

"काव्यालङ्कार" में आए हुए सभी उदाहरण पद्य रुद्रट के अपने रचे हुए हैं, अतः उनमें वर्णित देश, वन, पर्वत, नदी तथा अन्न इत्यादि के आधार पर इनके निवास स्थान का निश्चय कर पाना कुछ सीमा तक सम्भव है। संप्रति इन अन्तःसाक्ष्यों पर विचार करना प्रसङ्गप्राप्त है।

देश की दृष्टि से रुद्रट ने मालव, मध्यदेश, अङ्ग, कामरूप तथा कांची का उल्लेख किया है।[2] इनमें से मालव मध्य भारत के प्राचीन देश का नाम है जिसे आजकल मालवा नाम से जाना जाता है। मनुस्मृति में प्रयाग से पश्चिम हिमालय और विन्ध्य के मध्यवर्ती भूभाग को मध्यदेश कहा गया है।[3] अङ्ग देश गङ्गा के उत्तर तटवर्ती भूभाग को छोड़कर बिहार के मानगृह और भागल जिलों में पड़ता था।[4] कामरूप बङ्गाल तथा आसाम के सीमावर्ती भूभाग का प्राचीन नाम है। "काञ्ची" भारत के प्रसिद्ध सात तीर्थों में से एक तीर्थ है। भारत के दक्षिण में स्थित इसका आधुनिक नाम कान्जीवरम है।

1- History of Sanskrit Poetics by Dr.P.V.Kane p.144.

2- {क} काव्यालङ्कार 7/105
{ख} वही, 10/10

3- हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः स कीर्तितः ।।
- मनुस्मृति 2/21

4- Studies in the Geography of Ancient and Medieval India, p.83.

स्पष्ट है कि उक्त सभी देशों के नाम काश्मीर या उत्तर भारत के नहीं हैं। रूद्रट ने मालव देश के साथ "सिप्रा" नदी का भी उल्लेख किया है,[1] जो आज भी इसी नाम }शिप्रा } से उज्जैन } प्राचीन उज्जयिनी } में प्रवाहित हो रही है।

काव्यालङ्कार में मेरू[2], मलय[3], त्रिकूट[4] तथा सुवेल[5] इन चार पर्वतों का उल्लेख किया गया है। इनमें से मेरू एक पौराणिक एवं काल्पनिक पर्वत[6] होने के कारण रूद्रट के निवास स्थान को निश्चित करने में प्रमाण नहीं बन सकता। "मलय" नामक पर्वत की स्थिति के विषय में विद्वानों में वैमत्य है। रघुवंश } 4/45-51 } के अनुसार यह दक्षिण की कावेरी नदी के किनारे स्थित था। डावसन के शब्दों में मलय मलावार देश का ही नाम है।[7] डॉ० डी० सी० सरकार ने त्रावणकोर की किसी पहाड़ी को ही मलय कहा है।[8] एक अन्य स्थल पर उन्होंने उसे दक्षिण की किसी पहाड़ी का प्राचीन नाम माना है।[9] स्पष्ट है कि मलय दक्षिण की ही कोई पहाड़ी रही होगी।

1- सा सिप्रा नाम नदी यस्यां मङ्क्षुर्मयो विशीर्यन्ते ।
मज्जन् मालवललनाकुचकुम्भास्फालललनव्यसनात् ।।
- का० 7/105

2- का० 6/37
3- का० 6/39
4- का० 7/20
5- का० 9/34

6- A Classical Dictionary of Hindu Mythology.

7- वही

8- Studies in the Geography of Ancient and Medieval India, p.89.

9- वही, पृ०- 189.

रुद्रट द्वारा प्रयुक्त पर्वतों के नामों में से त्रिकूट पर्वत को डॉ० काणे ने कल्पित माना है।[1] किन्तु डॉ० डॉवसन[2] तथा शब्दकल्पद्रुम[3] के अनुसार यह एक पर्वत का नाम है, जिस पर लङ्का का निर्माण हुआ था। रघुवंश {4/58-59} के अनुसार दक्षिण भारत के किसी पर्वत का नाम था। डॉ० डी० सी० सरकार ने विष्णुकुण्डिन् के शिलालेख की चर्चा करते हुए माधववर्मन् के लिए प्रयुक्त "त्रिकूटमलयाधिपति" प्रयोग की चर्चा की है,[4] इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि मलय तथा त्रिकूट दोनों ही दक्षिण भारत के क्षेत्र थे।

उपर्युक्त तीनों पर्वतों के अतिरिक्त "सुवेल" नामक काव्यालङ्कारगत चौथा पर्वत त्रिकूट की ही एक शाखा का नाम है।

रुद्रट ने महिष,[5] वानर,[6] हाथी,[7] चूहा,[8] गाय,[9] सिंह,[10] मृग[11] तथा अश्व[12] इन पशुओं का उल्लेख किया है। इनमें से वानर, चूहा, मृग तथा गाय- ये चार ही काश्मीर में पाए जाते हैं। जबकि पूर्वी, पश्चिमी तथा मध्य भारत में उपर्युक्त सभी पशु उप- उपलब्ध हैं। पक्षियों में बक,[13] मयूर,[14] कुरर,[15] कोकिल,[16] हंस[17] तथा बक[18] ये पक्षी काव्यालङ्कार में उल्लिखित हैं। ये पक्षी सभी प्रासङ्गिक स्थानों पर पाए जाते हैं।

1- History of Dharmshastra, Vol IV, p.813.

2- A Classical Dictionary of Hindu Mythology.

3- त्रिकूटः पर्वतविशेषः । यस्योपरि लङ्का । तस्य पर्यायः त्रिककुद् इत्यमरः । सुवेलः त्रिकूटः इति हेमचन्द्रः । शब्दकल्पद्रुम ।

4- Studies in the Geography of Ancient and Medieval India, p.186.

5- का० 5/12
6- वही, 5/22, 7/20
7- वही, 6/24, 33, 8/8
8- वही, 7/18
9-
10- वही, 7/18
11-
12-वही, 6/7
13-वही, 8/75, 11/35
14-वही, 8/10
15-वही, 4/12
16-वही, 7/83
17-
18-वही, 7/18

देश, नदी, पर्वत, पशु तथा पक्षी के अतिरिक्त रुद्रट ने वन्जुल[1], नीप[2], अर्जुन[3], कुब्जक[4], चम्पक[5], कुटज[6], करीर[7], शमी[8], कदली[9] तथा ताड़[10] - जिन दस वृक्षों का उल्लेख किया है, इनमें से कुब्जक और शमी काश्मीर में पाये जाते हैं। वन्जुल, कदली और नीप मध्य देश में पाए जाते हैं। वन्जुल दक्षिण- पश्चिम भारत में भी पाया जाता है। करीर मध्य देश के समीप रेगिस्तान में पाए जाते हैं। चम्पक आसाम तथा मध्य देश में पाया जाता है।

तथाकथित ग्रन्थ में माष तथा कोद्रव नामक दो प्रकार के अन्न उल्लिखित हैं।[11] इनमें से माष [उड़द] उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार तथा महाराष्ट्र में उत्पन्न होता है। कोद्रव [कोदों] मध्यप्रदेश में होता है। इस प्रकार ये दोनों अन्न भी काश्मीर में नहीं होते ।

रुद्रट ने एक स्थल पर दण्डकारण्य नामक वन की ओर संकेत किया है।[12] डॉवसन के अनुसार "दण्डक वन गोदावरी और नर्मदा के मध्य में पड़ता है। रामायण के कुछ शब्दों के आधार पर यह यमुना के ठीक दक्षिण से प्रारम्भ होता है।"[13]

1- वही, 7/39
2- वही, 7/60
3- वही, 7/60
4- वही, 9/25
5- वही, 8/34
6- वही, 7/60
7- वही, 7/32
8- वही, 7/25
9- वही, 5/29
10- वही,
11- वही, 11/19
12- तदिदमरण्यं यस्मिन्दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षः क्षयं रामः ।। - 7/104
13- A Classical Dictionary of Hindu Mythology.

काव्यालङ्कार के वर्णनों में कुछ स्थलों पर प्रचण्ड ग्रीष्म तथा प्रातःकाल ही शीतल जल पीने का उल्लेख है।[1] इन स्थलों को देखने से यह अनुमान होता है कि रुद्रट सम्भवतः गर्म देश के निवासी रहे होंगे। इसके अतिरिक्त एक स्थल पर रुद्रट ने हिमपात का भी उल्लेख किया है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि रुद्रट ने जिन देश, पर्वत, नदी, अन्न तथा जलवायु इत्यादि का वर्णन किया है, उनमें से अधिकांश का सम्बन्ध काश्मीर से न होकर मध्यभारत, दक्षिण भारत या पूर्वी भारत से है। अतः इन साक्ष्यों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि ये काश्मीरी न होकर विन्ध्याचल से मालवा के पठार तथा इन्दौर से भुपाल के मध्यवर्ती भूभाग के निवासी रहे होंगे। यह भी सम्भव है कि पूर्वकथित कन्नोज के भोजदेव के दानपत्र में जिस रुद्रट का नाम आया है, वह यही हों, क्योंकि उपर्युक्त सभी अन्तःप्रमाणों का सम्बन्ध उक्त स्थल से है। इस प्रकार रुद्रट के निवासस्थान के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

समय-

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, रुद्रट ने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है, तथापि उनका समय विभिन्न प्रमाणों के आधार पर बहुत सीमा तक निर्धारित किया जा सकता है। काव्यशास्त्रीय इतिहास के पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि भामह से लेकर आचार्य विश्वेश्वर इत्यादि परवर्ती आचार्यों तक अलङ्कारों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है, जो इस बात का प्रमाण है कि रुद्रट, भामह, दण्डी तथा उद्भट से परवर्ती रहे हैं, क्योंकि ....[अगले पृष्ठ पर]

1- [क] मत्तोऽतितरां ग्रीष्मे किमतोऽन्यदमलमस्तु मरौ ॥
- का० 7/25 उत्तरार्द्ध

[ख] पिबतो वारि तवास्याः सरिति शरावेण पाततो केन।
वारि शिशिरं रमण्यो रतिखेदादकुलस्येव ॥ -वही, 5/30

2- दहति हिमानी हि भूमिरुहः ॥ - वही, 8/90

इन्होंने परवर्ती इन आचार्यों की अपेक्षा अधिक अलङ्कारों का विवेचन किया है। इनके अलङ्कार सम्बन्धी विवेचन में भामहादि की अपेक्षा वैज्ञानिकता तथा नवीनता भी अधिक है। उदाहरणार्थ वक्रोक्ति को ही लिया जाए। सर्वप्रथम रुद्रट ने ही इसे एक स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में विवेचित किया तथा इसे श्लेष एवं काकु पर आधारित बताया। इनसे पहले भामह ने इसे अभिव्यक्ति का वैचित्र्य मानते हुए सभी अलङ्कारों के मूल में निहित माना था, एक स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में नहीं । आगे चलकर रुद्रट के मत को ही आचार्यों ने स्वीकार किया, केवल कुन्तक ही इसके अपवाद हैं। ये सभी तथ्य शब्दालङ्कारों के प्रसंग में विस्तार से विवेचित किए जाएँगे । यहाँ तो इतने से ही निश्चित हो जाता है कि वक्रोक्ति सम्बन्धी रुद्रट का विवेचन भामह की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक एवं ग्राह्य है। इसी प्रकार अन्य अनेक स्थलों पर भी रुद्रट का मत इन आचार्यों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत है, जिससे स्पष्ट है कि वे अवश्य ही इनसे परवर्ती रहे होंगे। ये सभी आचार्य आठवीं शताब्दी या उसके पूर्व के हैं, अतः निश्चय ही रुद्रट आठवीं शताब्दी के बाद के हैं। यह तो है इनके समय की पूर्ववर्ती सीमा ।

इनके समय की उत्तरवर्ती सीमा का निर्धारण भी विभिन्न प्रमाणों के आधार पर अत्यन्त सुगम है।

"शिशुपालवध" नामक महाकाव्य के टीकाकार वल्लभ देव ने रुद्रट के काव्यालङ्कार पर एक टीका लिखी है। उद्भटकृत "काव्यालङ्कार सार संग्रह" नामक ग्रन्थ के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने लघुवृत्ति नामक टीका में रुद्रट की विभिन्न कारिकाओं[1] को उद्धृत किया है।[2] राजशेखर ने वक्रोक्ति के प्रसंग में रुद्रट का नाम सहित उल्लेख किया है।[3]

1-का० 7/34, 7/36, 8/40, 8/89, 8/95, 12/4

2-का० सा० सं० लघुवृत्ति टीका, पृ०- 42, 43, 11, 31, 34 एवं 49.

3-"काकुवक्रोक्तिनाम शब्दालङ्कारोऽयम्" इति रुद्रटः। का० मी०, पृ०-78.

धनिक ने दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश की टीका में रूद्रट के काव्यालङ्कार के बारहवें अध्याय की चौथी कारिका को उद्धृत किया है।[1]

लोचनकार अभिनवगुप्त ने रूद्रट के भावालङ्कार के लक्षण तथा उदाहरण को उद्धृत किया है।[2]

मम्मट ने रूद्रट के नाम के साथ ही उनकी हेतु, समुच्चय तथा व्यतिरेक सम्बन्धी मान्यताओं को उपन्यस्त किया है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य रूद्रट इन सभी काव्यशास्त्रियों से पूर्ववर्ती थे। ये सभी आचार्य दशवीं शताब्दी या उसके बाद के हैं, अतः निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि रूद्रट का समय इससे पूर्व का है। डॉ० पी० वी० काणे के अनुसार उत्पल ने योगयात्रा के प्रथम छन्द की व्याख्या में रूद्रट का नामशः उल्लेख किया है तथा उनके अनन्वय के लक्षण तथा उदाहरण को उद्धृत किया है। उन्होंने ही बृहज्जातक पर अपनी व्याख्या के अन्त में यह कहा है कि उन्होंने इसकी रचना 888 शकाब्द अर्थात् 966 ई० में की है, अतः रूद्रट का समय 900ई० के आसपास का ही होना चाहिए, बहुत बाद का नहीं और अन्त में उन्होंने रूद्रट का समय 850 ई० से कुछ पूर्व का निर्धारित किया है।[4]

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि काव्यालङ्कार का समय 9वीं शताब्दी है।

1- रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः ।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः ।।
- द० रू०, पृ०-315.

2- यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन ।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ।।
-ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत ।3वीं कारिका की लोचन टीका, पृ०-234-35

3- का० प्र० दशम उल्लास

4- History of Sanskrit Poetics by Dr. P.V. Kane.

रुद्रट का सम्प्रदाय -

विभिन्न काव्यशास्त्रियों की अपनी अपनी पृथक्- पृथक् मान्यतायें हैं। इनमें से कुछ काव्य के किसी तत्व को प्रमुख मानते हैं कुछ अन्य किसी को। इसी के आधार पर काव्यशास्त्रीय वाङ्.मय में विभिन्न वर्गों का निर्धारण किया गया है, जिसे "सम्प्रदाय" संज्ञा दी गयी है। यथा- भामह, दण्डी, वामन आदि "अलङ्.कार सम्प्रदाय" के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार आनन्द-वर्धन इत्यादि "ध्वनि- सम्प्रदाय" के अन्तर्गत आते हैं।

आचार्य रुद्रट को भी भामहादि के समान "अलङ्.कार सम्प्रदाय" के अन्तर्गत् माना जाता है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह हैं। इनके अतिरिक्त दण्डी, वामन तथा उद्भट भी इसी सम्प्रदाय के कहे जाते हैं। इन सभी आचार्यों की प्रमुख विशेषता यह है कि दण्डी उन्होंने दण्डी के अतिरिक्त अन्य सभी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों के नाम में "अलङ्.कार" पद को रखा है, यथा भामह का "काव्यालङ्.कार" वामन का "काव्यालङ्.-कार सूत्रवृत्ति" उद्भट् का "काव्यालङ्.कारसारसंग्रह" तथा रुद्रट का "काव्यालङ्.कार"। स्पष्ट है कि इनकी दृष्टि में काव्य के अन्य सभी तत्वों की अपेक्षा अलङ्.कार का अधिक महत्व रहा होता।

किन्तु "अलङ्.कार" पद इन आचार्यों की दृष्टि में केवल अनुप्रास, उपमा, रूपकादि के लिए प्रयुक्त होता था अथवा इस शब्द से इन्हें अन्य कोई अर्थ अभिप्रेत था, यह जानने के लिए इन आचार्यों की "अलङ्.कार" पद सम्बन्धी मान्यताओं पर दृष्टिपात करना होगा।

"अलङ्.कार सम्प्रदाय" के प्रवर्तक भामह ने इस पद की कोई व्याख्या नहीं की है। दण्डी ने काव्य के शोभाकारक धर्मों कोअलङ्.कार कहा है -

"काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्•कारान् प्रचक्षते ।" अर्थात् जिन तत्वों द्वारा काव्य की शोभा उत्पन्न की जाती है उन्हें अलङ्•कार कहते हैं। वामन ने "अलङ्•कार" पद के व्यापक और सीमित दोनों ही अर्थ किये हैं- "सौन्दर्य-मलङ्•कारः" कहकर उन्होंने सौन्दर्य को ही अलङ्•कार कहा है, जो इसका व्यापक अर्थ है। साथ ही "काव्य शोभायाः कर्तारो गुणाः तदतिशय हेतवः अलङ्•काराः" अर्थात् गुण काव्य की शोभा करने वाले होते हैं तथा उपमादि इस शोभा के अतिशय के हेतु होते हैं, यह कहकर इन्होंने उपमादि के लिए भी "अलङ्•कार" पद का प्रयोग किया है, जो इसका सीमित अर्थ है। दण्डी ने एक स्थान पर सन्ध्यङ्•ग, वृत्त्यङ्•ग तथा लक्षणों को भी अलङ्•कार कहा है -

यच्च सन्ध्यङ्•ग वृत्त्यङ्•गलक्षणान्या गमान्तरे ।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्•कारतयैव नः ।।

सम्भवतः "अलङ्•कार" पद के उपर्युक्त व्यापक अर्थ को दृष्टि में रखकर ही इन काव्यज्ञों ने अपने ग्रन्थों का नाम भी उसी के आधार पर रखा है। चूंकि इन आचार्यों ने "अलङ्•कार" पद का व्यापक अर्थ किया है तथा ग्रन्थ का नाम भी उसी आधार पर रखा है इसीलिए इन्हें "अलङ्•कार सम्प्रदाय" के अन्तर्गत माना जाता है।

आचार्य रुद्रट भी इन्हीं में से एक हैं। उन्हें भी अलङ्•कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत् रखा जाता है। इसके कई कारण हो सकते हैं - प्रथम यह कि स्व-रचित ग्रन्थ के नाम में उन्होंने "अलङ्•कार" पद को स्थान दिया है। द्वितीय कारण यह कि उन्होंने "अलङ्•कार" पद का कोई लक्षण नहीं किया है, इसके अर्थ के विषय में मौन रहे हैं; जिससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः इन्हें भी पूर्ववर्तियों की भाँति अलङ्•कार पद का व्यापक अर्थ मान्य था। "अलङ्•कार"

पद से विशिष्ट "काव्यालङ्कार" नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत केवल अनुप्रास, उपमा, रूपकादि का विवेचन न करके काव्य सम्बन्धी अन्य तत्त्वों यथा- रस, रीति, वृत्ति तथा दोषादि का भी विस्तृत विवेचन किया है। साथ ही इन सभी तत्त्वों में से किसी एक तत्त्व विशेष को उन्होंने किसी भी स्थल पर अधिक महत्त्व नहीं दिया है, इन तथ्यों से , यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्हें "अलङ्कार" पद के सीमित अर्थ के साथ-साथ पूर्ववर्तियों द्वारा कहा गया व्यापक अर्थ भी स्वीकार्य था ।

अतः उपर्युक्त समीक्षा से यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि रुद्रट भी अलङ्कार सम्प्रदाय की ही एक कड़ी हैं।

रुद्रट तथा रुद्रभट्ट -

{काव्यालङ्कार तथा शृङ्गारतिलक}-

रुद्रट के काव्यालङ्कार के साथ ही काव्यशास्त्र में "शृङ्गारतिलक" नामक कृति भी उपलब्ध है, जिसका प्रणयन रुद्रभट्ट नामक विद्वान् ने किया है।

इस ग्रन्थ में तीन अध्याय हैं - प्रथम में सम्भोग शृङ्गार, द्वितीय में विप्रलम्भ शृङ्गार तथा तृतीय में अन्य आठ रसों का विवेचन है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में कुल नव रस विवेचित हैं। काव्यालङ्कार के बारहवें अध्याय से पन्द्रहवें अध्याय तक में जिस प्रकार से क्रमशः शृङ्गार रस से सम्बन्धित नायक नायिका, सम्भोग शृङ्गार, विप्रलम्भ शृङ्गार तथा अन्य रसों का विवेचन है, लगभग उसी विधि से उक्त ग्रन्थ में भी इन सब का {प्रेयान् नामक दसवें रस को छोड़कर} विवेचन किया गया है। लेखकों के नाम तथा विवेच्य-विषय

के इसी साम्य के कारण ही इनके ग्रन्थों के रचनाकारों के विषय में विद्वानों में परस्पर वैमत्य है, कुछ विद्वान् रुद्रट तथा रुद्रभट्ट दोनों को एक मानते हुए दोनों ग्रन्थों को एक ही व्यक्ति की कृतियां कहते हैं तथा कुछ इसके विपरीत दोनों को भिन्न कहते हैं।

इन ग्रन्थों की पाण्डुलिपियां इस वैमत्य का बड़ा कारण हैं। जहां काव्यालङ्कार की कुछ पाण्डुलिपियों में लेखक का नाम "भट्टरुद्र" दिया है,[1] वहीं शृङ्गारतिलक की पाण्डुलिपियों में उसका कर्ता "रुद्रट" है।[2] एक स्थान पर शृङ्गारतिलक के रचनाकार के रुद्रभट्ट तथा रुद्रट ये दोनों ही नाम दिये हैं।[3]

स्पष्ट है कि इन पाण्डुलिपियों में "काव्यालङ्कार" का ग्रन्थकार रुद्रट भट्टरुद्र नाम वाला भी है तथा इसी प्रकार शृङ्गारतिलक का लेखक रुद्रभट्ट के साथ- साथ रुद्रट नाम वाला भी है। इसीलिए इनके आधार पर उक्त ग्रन्थों का प्रणेता एक ही व्यक्ति है अथवा दो भिन्न- भिन्न व्यक्ति, यह निश्चय कर पाना कठिन है।

इस विषय में सुभाषितावलियां भी भ्रमोत्पादक हैं। इनमें कहीं काव्यालङ्कार के पद्य रुद्रट अथवा भट्टरुद्र के नाम उद्धृत हैं तो कहीं शृङ्गारतिलक के पद्य रुद्रट के नाम से।[4] साथ ही कहीं - कहीं इनका

1- 'Catalogue of Sanskrit Manuscripts' The Maharaja of Bikaner (1880) No.610, P.284.
{ इति भट्टरुद्रविरचिते काव्यालङ्कारे षोडशोऽध्यायः समाप्तः }

2- A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in Government Oriental Manuscripts Library Madras Vol XXII 1918, p.p.8697-99.

3- India Office Catalogue, P.321-22 No.1131.

4- शाङ्गधर पद्धति सं० 3773, 3778

तहो उल्लेख भी है।[1] श्रीधरदास ने "सदुक्तिकर्णामृत" में काव्यालङ्कार तथा शृङ्गारतिलक इन दोनों के उद्धरण रुद्रट के नाम से प्रस्तुत किए हैं। इसी प्रकार "भावप्रकाश"[2] तथा "रसार्णवसुधाकर"[3] में शृङ्गारतिलक का मत रुद्रट के नाम से तथा "प्रतापरुद्रयशोभूषण"[4] में काव्यालङ्कार का मत भट्टरुद्र के नाम से उद्धृत किए गये हैं।

इन्हीं सब कारणों से भ्रमित होकर वेबर, ब्हूलर तथा पिशेल इत्यादि अनेक आचार्यों ने रुद्रट तथा रुद्रभट्ट नामक व्यक्तियों को अभिन्न माना है।[5]

आफ्रेक्ट नामक विद्वान् ने भी रुद्र, रुद्रट, रुद्रभट्ट तथा भट्टरुद्र इन चारों संज्ञाओं को अभिन्न माना है।[6]

किन्तु पं० दुर्गादास, डॉ० जैकोबी, डॉ० हरिचन्द तथा त्रिवेदी इत्यादि विद्वानों ने इन दोनों को भिन्न माना है।[7] इन्हें भिन्न मानने

1- शाङ्र्गधर पद्धति स० 575, 3473, 3567- 68, 3579, 3670, 3675, 3754.

2- इत्थं शतत्रयं तासामशीतिश्चतुरुत्तरा । संख्येयं रुद्रटाचार्यैः
- भा० प्र०, पृ- 95.

3- तथाह रुद्रः - "ईर्ष्या कुलस्त्रीषु न नायकस्य निःशङ्ककेलिर्न पराङ्गनासु । .... 1916 त्रिवेन्द्रम : टी० गणपति

4- यो हेतुः काव्यशोभायाः सोऽलङ्कार प्रकीर्त्यते ।

).376.

7- History of Sanskrit Poetics by Dr. P.V. Kane.

के कई कारण हैं। पहला - यदि एक ही व्यक्ति दोनों ग्रन्थों की रचना करता तो रसों की संख्या दोनों में भिन्न- भिन्न कैसे होती। दूसरा कारण यह है कि दोनों में वृत्तियों की संख्या भी भिन्न- भिन्न है। शृङ्गारतिलक में नाट्यशास्त्र का अनुसरण करते हुए कैशिकी इत्यादि चार वृत्तियों का प्रतिपादन है जबकि काव्यालङ्कार में मधुरा इत्यादि पाँच वृत्तियों का उल्लेख है। तीसरा कारण है - नायिका वर्णन। नायिकाओं की संख्या भी दोनों में भिन्न है। शृङ्गारतिलक में तीन सौ चौरासी प्रकार की नायिकाएँ बतायी गयी हैं किन्तु काव्यालङ्कार में नायिका के केवल अट्ठावन प्रकार बताए गये हैं।

शारदातनय ने रुद्रट के मत के रूप में नायिकाओं की संख्या तीन सौ चौरासी बतायी है।[1] इसी प्रसङ्ग को देखकर "भावप्रकाशन" के सम्पादक महोदय ने काव्यालङ्कार के बारहवें अध्याय की चौदह प्रक्षिप्त कारिकाओं को मूलकृति का अंश मानते हुए यह प्रतिपादित किया है कि रुद्रट ने भी तीन सौ चौरासी नायिकाओं के प्रकार बताए हैं। अतः नायिका- भेद के आधार पर रुद्रट तथा रुद्रभट्ट को पृथक् पृथक् न मानकर एक ही माना जाए[2] क्योंकि दोनों ने एक ही मत का प्रतिपादन किया है, यह उचित नहीं है। वास्तव में वह रुद्रभट्ट का मत है रुद्रट का नहीं। रुद्रट ने तो केवल अट्ठावन प्रकार प्रतिपादित किए हैं। यदि यह मानकर चला जाए कि उक्त चौदह कारिकाएँ मूल अंश हैं तथा उनमें[3] कथित आठ प्रकार की नायिकाओं को

1- भा० प्र० 4/135- 139

2- का० की भूमिका, पृ०- 31-32.

3- ता एवाधीनपतिवासिकसज्जाभिसारिकोत्का च।
अभिसन्धिता प्रगल्भा प्रोषितपतिखण्डिते चाष्टौ।।
- का० 12/ 40वीं के बाद

लेकर येन केन प्रकारेण नायिका भेद की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि कर भी ली जाए तो भी यह मत खण्डित हो जाता है, क्योंकि इन आठ प्रकारों में स्वाधीनपतिका, प्रोषितपतिका, खण्डिता तथा अभिसारिका ये चार भेद भी कहे गए हैं, जो इसी अध्याय की 41वीं कारिका में भी उक्त हैं, यदि आचार्य एक बार उन प्रकारों को दृष्टि में रखकर विभिन्न भेद बता चुका होता तो पुनः उन्हीं चार को लेकर ही क्यों भेद करने लगता। कुछ और अधिक शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि इन प्रासङ्गिक चौदह कारिकाओं में अवस्था भेद से स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, अभिसारिका, उत्का, अभिसन्धिता, प्रगल्भा, प्रोषितपतिका और खण्डिता- ये आठ प्रकार बताए गए हैं। उनकी 41वीं कारिका के साथ अन्विति नहीं बैठती क्योंकि 41वीं कारिका में अभिसारिका तथा खण्डिता तो सभी नायिकाओं के भेद स्वीकार किए गए हैं, यह सङ्गति नहीं बैठती कि वही त्रिभेद पुनः - पुनः बताये जायें। यह तो दोष भी हो जाएगा। अतः ऐसा सम्भव नहीं है। नमिसाधु ने भी स्पष्ट शब्दों में इस अंश को प्रक्षिप्त कहा है[1]।

अतः स्पष्ट है कि ये कारिकाएँ प्रक्षिप्त ही हैं और ऐसा सिद्ध हो जाने पर यह स्वतः सिद्ध है कि काव्यालङ्कार में नायिका के केवल अट्ठावन प्रकार विवेचित हैं जबकि शृङ्गारतिलक में तीन सौ चौरासी। अतः इस प्रसङ्ग के आधार पर स्पष्ट वैमत्य के कारण दोनों लेखकों को

1- एताश्चतुर्दशार्या मूले प्रक्षिप्ताः ।।

- काव्यालङ्कार 12/, पृ- 385- नमिसाधुकृत टीका

अभिन्न नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार "काव्यालङ्कार" के सम्पादक का मत[1] उचित है। एस० के० डे० ने भी उनके इस मत का समर्थन किया है।[2] इस प्रकार नायिका भेद के आधार पर दोनों ग्रन्थकारों में अभिन्नता प्रतिपादन का मत खण्डित हो जाता है। इसीलिए महामहोपाध्याय डॉ० पी० वी० काणे[3] ने काव्यालङ्कार तथा शृङ्गारतिलक के लेखकों को पृथक्-पृथक् माना है।

डॉ० सुशील कुमार डे ने इन्हें धर्मादि के आधार पर भी पृथक् माना है। इनके अनुसार ये दोनों लेखक भिन्न मतावलम्बी थे, रुद्र शिवोपासक थे किन्तु रुद्रट ने शिव के स्थान पर {गणेश के अतिरिक्त} भवानी तथा मुरारी का उल्लेख किया है।[4]

यह बहुत उचित नहीं प्रतीत होता कि एक ही व्यक्ति ऐसी दो रचनाएं करे जिसमें समान विषयों का लगभग एक सी विधि से विवेचन हो। यदि यह कहा जाए कि एक रचना में दूसरे की अपेक्षा विस्तार की दृष्टि से यह सम्भव है तो उसके लिए तर्क यह है कि यदि शृङ्गारतिलक में कुछ स्थलों पर यथा काम की दस दशाओं के लक्षण, नायिका के उपभेद तथा उनके लक्षण इत्यादि में विस्तार किया गया है तो काव्यालङ्कार में भी कुछ स्थलों पर यथा दोष परिहार के उपाय[5] का शृङ्गारतिलक की

1- इस प्रकार स्पष्ट है कि भावप्रकाशन के सम्पादक ने जिस आधार पर मत दिया है, वह धराशायी हो जाता है और उस मत का कोई मूल्य नहीं रह जाता । - का० भूमिका, पृ०- 34.

2- रुद्रट के ग्रन्थ के सम्पादक ने उसे प्रक्षिप्त बताकर उसकी ठीक ही निन्दा की है। - संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास,भाग-1, पृ०- 83.

3- History of Sanskrit Poetics by Dr. P.V. Kane.

4- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग-1 : सुशील कुमार डे

5- का० 14/22-24.

अपेक्षा अधिक विस्तृत विवेचन किया गया है। इसलिए यह कहना कि एक ही व्यक्ति ने काव्यालङ्कार की रचना करके उसके अन्तर्गत आने वाले कुछ विषयों के विस्तार की इच्छा से दूसरे ग्रन्थ {शृङ्गारतिलक} की रचना की होगी, उचित प्रतीत नहीं होता। जैसा पहले भी कहा जा चुका है कि दोनों में अनेक स्थलों पर आचार्यों में मतभेद दिखायी देता है, इसलिए भी एक ही व्यक्ति ने इन दोनों की रचना की हो, यह अधिक समीचीन नहीं है, क्योंकि एक ही व्यक्ति एक विषय पर दो भिन्न मतों का प्रतिपादन नहीं कर सकता। इसलिए यह मानना ही उचित होगा कि रुद्रट तथा रुद्रभट्ट दो भिन्न व्यक्ति थे।

काव्यालङ्कार में प्रतिपादित विषय -

काव्यालङ्कार जैसा कि इस ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है, इसमें काव्यतत्वों का शास्त्रीय विवेचन है। रुद्रट से पूर्व तथा उनके समय में "अलङ्कार" शब्द उपमादि इस सङ्कुचित अर्थ के साथ ही काव्य के शोभाधायक तत्व रूप व्यापक अर्थ का भी परिवायक था। इसीलिए भामह इत्यादि प्रारम्भिक काव्याचार्यों को अलङ्कारवादी आचार्य, इनके सम्प्रदाय को अलङ्कार- सम्प्रदाय तथा इनके ग्रन्थों को अलङ्कार- ग्रन्थ कहा जाता है। "अलङ्कार" शब्द के उक्त व्यापक अर्थ के परिप्रेक्ष्य में रुद्रट ने भी सम्भवतः भामह, वामन तथा उद्भट के समान ही अपने ग्रन्थ की संज्ञा में "अलङ्कार" पद का संयोजन किया है। इस दृष्टि से उक्त ग्रन्थ अन्वर्थ नाम वाला है, क्योंकि इसमें काव्य की शोभा को उत्पन्न करने वाले तथा उसकी वृद्धि करने वाले उपमादि तथा रसादि विभिन्न तत्वों का विवेचन है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ छन्दों में निबद्ध है।

इस ग्रन्थ में सोलह अध्याय हैं, जिनमें से प्रथम अध्याय में गणेश तथा पार्वती की वन्दना रूप मङ्गलाचरण के साथ ही काव्य- प्रयोजन तथा हेतुओं का विवेचन है। मङ्गलाचरण को लेकर इसमें कुल बाईस छन्द हैं ।

द्वितीय अध्याय में काव्य लक्षण, लाटी या पाञ्चाली, गौडीया, वैदर्भी चार रीतियाँ वाक्यलक्षण, वाक्यगुण, शब्दगुण, वाक्यभेद, भाषा के प्रकार वक्रोक्ति इत्यादि पाँच शब्दालङ्कारों की गणना, वक्रोक्ति का लक्षण - उदाहरण तथा अन्त में अनुप्रास एवं तत्सम्बन्धी मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता तथा भद्रा पाँच वृत्तियों का लक्षण - उदाहरण के माध्यम से विवेचन किया गया है। इसमें कुल बत्तीस छन्द हैं ।

सम्पूर्ण तृतीय अध्याय के उनसठ {59} छन्दों में यमक तथा उसके भेद-प्रभेद के लक्षण एवं उदाहरण निबद्ध हैं।

चतुर्थ तथा पंचम अध्यायों में क्रमशः शब्दश्लेष एवं चित्रालङ्कारों का विवेचन है। इनमें क्रमशः पैंतीस तथा तैंतीस छन्द हैं ।

इस प्रकार पञ्चम अध्याय तक शब्दालङ्कारों के विवेचन के पश्चात् षष्ठम अध्याय में शब्द तथा वाक्यदोष विवेचित हैं। इसमें कुल सैंतालिस छन्द हैं ।

सप्तम अध्याय में कुल एक सौ ग्यारह छन्द हैं। इस अध्याय में अर्थ के द्रव्यादि प्रकार तथा उनके लक्षण, वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष - इन चार अर्थालङ्कारों की गणना, वास्तव का लक्षण तथा सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर,

---

1- का0 1/1- 2

परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित तथा एकावली- इन तेईस वास्तवमूलक अलङ्कारों का निरूपण है।

आठवें अध्याय में औपम्य का लक्षण तथा तन्मूलक उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य तथा स्मरण - इन इक्कीस अलङ्कारों का विवेचन है। इसमें कुल एक सौ दस छन्द हैं ।

नवें अध्याय में अतिशय के लक्षण के साथ तन्मूलक पूर्व, विशेष,उत्प्रेक्षा, विभावना, अतद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असङ्गति, पिहित,व्याघात तथा हेतु इन बारह अलङ्कारों का विवेचन है। इसमें कुल पचपन छन्द हैं ।

दसवें अध्याय में श्लेष तथा उसके अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र,व्याजोक्ति, असम्भव, अवयव, तत्व, विरोधाभास तथा सङ्कीर्ण - ये दश भेद विवेचित हैं। अध्याय के अन्त में व्यक्त तथा अव्यक्त इन सङ्कर भेदों का निरूपण है जो अन्य आचार्यों द्वारा मान्य क्रमशः सङ्कर तथा सङ्कीर्ण नामक अलङ्कार हैं। इस अध्याय में उन्तीस छन्द हैं ।

ग्यारहवें अध्याय में अर्थदोषों का विवेचन है, साथ ही उपमादोषों का भी इसमें विवेचन है। कुल छत्तीस छन्द हैं ।

बारहवें अध्याय में रसों का निरूपण है। इसमें श्रृङ्गारादि के साथ प्रेयान् नामक दसवें रस की भी गणना है, जो रुद्रट की मौलिक उद्भावना है। रसगणना के अनन्तर श्रृङ्गार रस का लक्षण, तत्सम्बन्धी नायक के गुण, उसके अनुकूल, दक्षिण, शठ तथा धृष्ट- ये चार भेद तथा उनके लक्षण,नर्मसचिव

का लक्षण, उसके विशेष - पीठमर्द, विट एवं विदूषक का लक्षण तथा नायिका-भेद- विवेचित हैं। नायिका- भेद का चित्र इस प्रकार है -
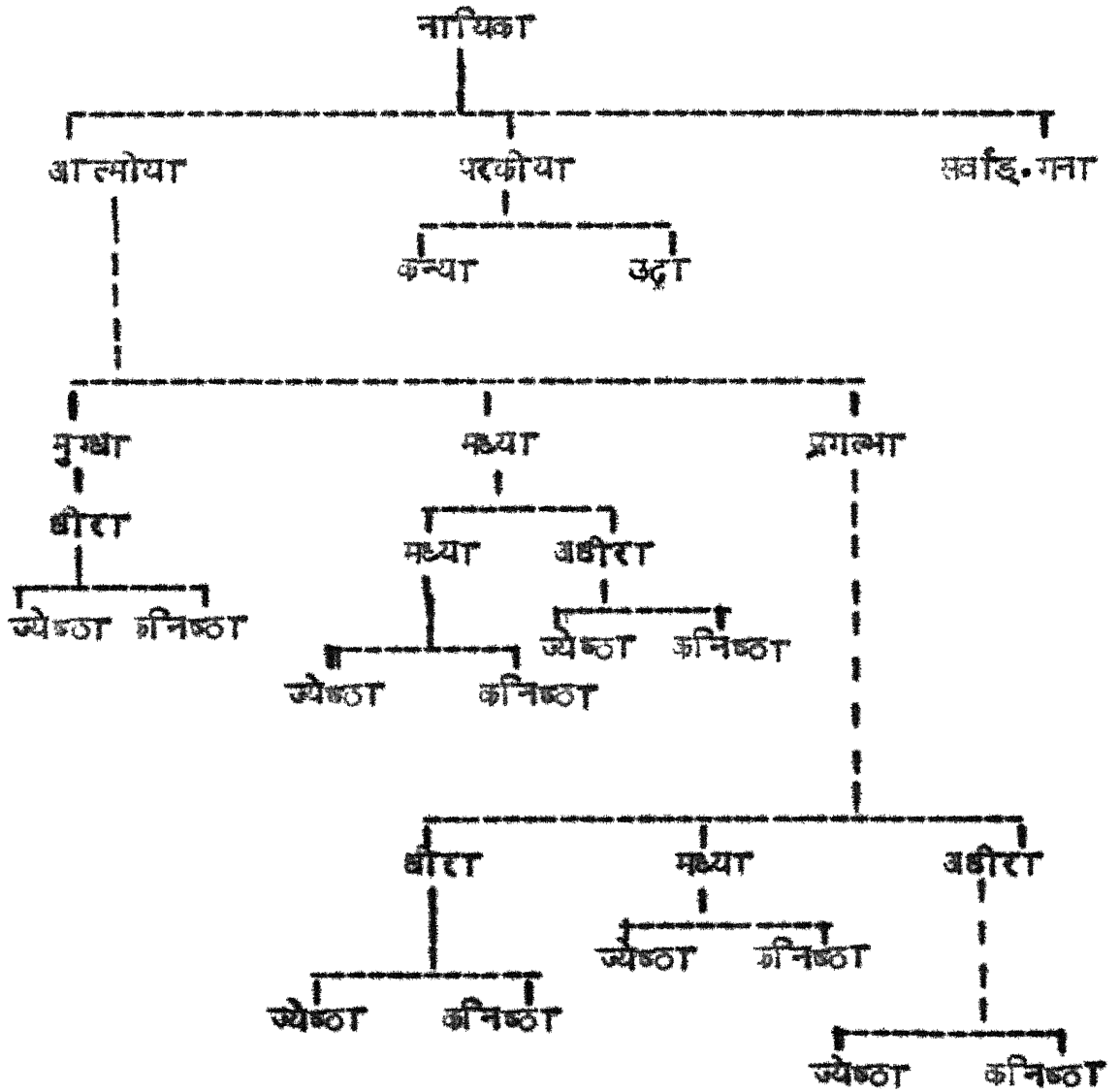
इन सोलह प्रकार की नायिकाओं के पुनः अभिसारिका तथा खण्डिता ये भेद करने पर बत्तीस प्रकार की नायिकाओं में तेरह प्रकार की आत्मीया

नायिकाओं के पुनः स्वाधीनपतिका तथा प्रोषितपतिका - इन दो दो भेदों से छब्बीस प्रकार की आत्मीया नायिकाएँ , चार प्रकार की परकीया तथा दो प्रकार की सर्वाङ्‌गना- मिलाकर कुल अट्ठावन प्रकार की नायिकाओं की गणना है। अध्याय के अन्त में शृङ्‌गार के सम्भोग तथा विप्रलम्भ ये दो भेद किए गए हैं, इसमें 47 छन्द हैं ।

ग्रन्थ का सबसे छोटा अध्याय तेरहवाँ अध्याय है। इसमें केवल सत्रह छन्द हैं तथा सम्भोग शृङ्‌गार, उसका अनुभव, नवपरिणीता का स्वरूप एवं लक्षण विवेचित हैं।

चौदहवें अध्याय में अड़तीस छन्द हैं। इसमें विप्रलम्भ शृङ्‌गार, प्रथमानुराग, मान, प्रवास और करुण- ये चार प्रकार तथा सामदान इत्यादि नायिका प्रसादन के छः उपाय विवेचित हैं ।

पन्द्रहवें अध्याय में वीर, करुण, बीभत्स, भयानक, अद्भुत, हास्य, रौद्र, शान्त तथा प्रेयान् इन नव रसों के लक्षण मात्र किए गए हैं। तदनन्तर रीतियों का रस में उपयोग विवेचित है। इसमें कुल इक्कीस छन्द हैं ।

सोलहवें अध्याय में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष - इन चार की दृष्टि से प्रबन्ध का विभाजन किया गया है। ये प्रबन्ध दो प्रकार के होते हैं - महाप्रबन्ध धर्मादि चारों को दृष्टि में रखकर रचा गया प्रबन्ध तथा लघु प्रबन्ध चारों में से एक के प्रयोजन से रचा गया प्रबन्ध । इनके पुनः उत्पाद्य तथा अनुत्पाद्य की दृष्टि से दो- दो भेद हो जाते हैं। अध्याय के अन्त में महाकाव्य, कथा तथा आख्यायिका के लक्षण प्रस्तुत किए गए हैं। मङ्‌गलान्त छन्द को लेकर इसमें बयालीस छन्द हैं। मङ्‌गलान्त छन्द में पार्वती, विष्णु तथा गणेश की वन्दना है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में सात सौ चौंतीस पद्य हैं। इनके अतिरिक्त सोलहवें अध्याय के आर्याओं के बाद भी चौदह आर्याएँ प्रक्षिप्त हैं, जिनमें अवस्था- भेद से नायिका के स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, अभि- सारिका, उत्का, अभिसन्धिता, प्रगल्भा, प्रोषितपतिका तथा खण्डिता के आठ भेद विवेचित हैं। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसके सभी उदा- हरण स्वयं रुद्रट द्वारा रचित हैं तथा सभी छन्दों में अधिकांश आर्या छन्द हैं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ शास्त्र सम्बन्धी विभिन्न विषयों को अपने विशाल अन्तर में समेटे हुए है। अलङ्कारों का चतुर्वर्ग - विभाजन इस ग्रन्थ की विशेषता है। इन्हीं सब विशेषताओं तथा विस्तृत विषय क्षेत्र के कारण इस ग्रन्थ का प्रभाव परवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के साथ ही साथ नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों पर भी पड़ा है।

काव्यालङ्कार के टीकाकार -

प्रायः अधिकांश काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों पर अन्य आचार्यों ने टीकाएँ की हैं यथा वामन, उद्भट तथा आनन्दवर्धन के ग्रन्थों पर लिखी गयी काम- धेनु, लघुवृत्ति तथा आलोक इत्यादि टीकायें। इसी प्रकार रुद्रट के काव्या- लङ्कार पर भी विभिन्न टीकाएँ लिखी गयी हैं, जिनमें से कुछ उपलब्ध हैं तथा कुछ अनुपलब्ध। इन टीकाओं में तीन टीकायें अब तक प्रकाश में आ चुकी हैं, जिनके टीकाकार वल्लभदेव, नमिसाधु तथा आशाधर हैं।

"शिशुपालवध" नामक महाकाव्य के टीकाकार वल्लभदेव ने इस ग्रन्थ के चतुर्थ सर्ग के इक्कीसवें तथा द्वितीय सर्ग के अट्ठासीवें श्लोक की व्याख्या में रुद्रट का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है - " नात्र भिन्नलिङ्गा - नामौपम्यं दोषाय इति रुद्रटः" तथा एतदस्माभिः रुद्रटालङ्कारे विवे-

चितम्।" इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्होंने काव्यालङ्कार पर अवश्य ही कोई टीका लिखी होगी। डॉ० पी० वी० काणे ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।[1] वल्लभदेव के उक्त कथन के आधार पर ही सम्भवतः डॉ० कृष्ण कुमार ने इनकी टीका की "रुद्रटालङ्कार" यह संज्ञा अनुमानित की है।[2] वल्लभदेव का समय सम्भवतः 927 ई० के आस-पास का समझा जा सकता है, क्योंकि इनके पौत्र कय्यट ने आनन्दवर्धन के "देवीशतक" पर टीका लिखी थी और उस समय राजा भीमदेव काश्मीर के शासक थे, जिनका समय 977ई० है, अतः इससे पूर्व ही वल्लभदेव का समय होना चाहिए। नमिसाधु के "पूर्व महामतिविरचितमृत्यनुसारेण किमपि रचयामि" इत्यादि कथन से भी यह स्पष्ट है कि इनसे पूर्व पूर्वकथित ग्रंथ पर अन्य टीकाएँ भी लिखी जा चुकी थीं। वल्लभदेव के समय तथा नमि-साधु की इस उक्ति को देखते हुए वल्लभदेव की टीका ही सबसे प्राचीन प्रतीत होती है, किन्तु वर्तमान समय में यह उपलब्ध नहीं है।

उक्त ग्रन्थ की नमिसाधुकृत "टिप्पणक"[3] नामक संस्कृत टीका वर्तमान समय में उपलब्ध तथा सर्वाधिक प्रसिद्ध है। यह टीका अत्यन्त संक्षिप्त[4] होते हुए भी ग्रन्थकार के विचारों को व्यक्त करने में पूर्णतः सक्षम है। इसके अंत

1-History of Sanskrit Poetics by Dr.P.V. Kane.

2- अलङ्कारशास्त्र का इतिहास - डॉ० कृष्णकुमार

3- रुद्रटकाव्यालङ्कारटिप्पणकम् ।। का० प्रथम अध्याय नमिसाधुकृत टीका, पृ०- 1.

4- ......संक्षिप्ततरं........ ।। वही

में आए हुए पद्य में नमिसाधु ने अपना वृत्तान्त दिया है, जिसके अनुसार यह श्वेताम्बर जैन थे तथा शालिभद्र के शिष्य थे तथा इनकी टीका का समय 1125 विक्रमी सम्वत् है।[1]

अपनी इस टीका में उन्होंने ग्रन्थ के प्रतिपाद्यों को स्पष्ट करने के लिए तथा उनका समर्थन करने के लिए स्थान- स्थान पर भरतादि प्राचीन आचार्यों तथा विभिन्न प्रसिद्ध ग्रन्थों का उल्लेख किया है। एक आदर्शवादी टीकाकार होने के नाते इन्होंने सम्पूर्ण ग्रन्थ में अपने आचार्य के विचारों का समर्थन ही किया है, साथ ही पूर्व प्रचलित मतों का भी विभिन्न स्थानों पर खण्डन किया है।

इन दोनों टीकाओं के अतिरिक्त आशाधर नामक विद्वान् ने भी उक्त ग्रन्थ पर एक टीका लिखी है, जैसा डॉ० पी० वी० काणे ने भी स्वीकार किया है।[2] आशाधर एक जैन आचार्य थे तथा इनका समय 13वीं शती के मध्य के आसपास का है।

1- थारापद्रपुरीयगच्छतिलकः पाण्डित्यसीमाभव-
त्सूरिर्भूरिगुणैकमन्दिरमिह श्री शालिभद्राभिधः ।
तत्पादाम्बुजषट्पदेन नमिना संक्षेपसम्प्रेक्षिणः
पुंसो मुग्धधियोऽधिकृत्य रचितं सटिप्पणं लब्धवः ।।
पञ्चविंशतिसंयुक्तैरेकादशसमाशतैः
विक्रमात्समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम् ।।
- का० 16/ पृ०- 427- 28

2- History of Sanskrit Poetics by Dr.P.V. Kane.

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय

काव्य- लक्षण

द्वितीय अध्याय की प्रथम कारिका में आचार्यप्रवर रुद्रट ने काव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है - "ननु शब्दार्थौ काव्यम्[1]" प्रस्तुत काव्य-लक्षण में "ननु" पद पूर्वपक्ष का उपस्थापन करता है, "काव्यम्" पद लक्ष्य है तथा "शब्दार्थौ" पद लक्षण, जिसमें प्रयुक्त इतरेतर द्वन्द्व आचार्य की दृष्टि में काव्य के अन्तर्गत् शब्द और अर्थ के समप्राधान्य को द्योतित करता है। शब्द और अर्थ का यह समप्राधान्य दोनों के साहित्य की ओर इङ्गित करता है अर्थात् जहाँ शब्द और अर्थ में एक विशेष प्रकार का सद्भाव हो, ऐसे शब्दार्थ काव्य कहलाते हैं। आचार्य रुद्रटकृत काव्यलक्षण से स्पष्ट है कि काव्य में शब्द और अर्थ समान रूप से उपयोगी हैं। यद्यपि कवि के काव्य के लिए उपयोगी शब्द और अर्थ दोनों में परस्पर अव्यभिचारी सम्बन्ध होता है अर्थात् उनमें नित्य ही सद्भाव होता है। अतः केवल शब्द अथवा केवल अर्थ, किसी एक के ही उपादान से दूसरे का ग्रहण हो जाता है, किन्तु काव्यलक्षण में दोनों का उपादान इसी समप्राधान्य को प्रकट करने के लिए आचार्य ने किया है। इस विषय में नमिसाधु ने अपनी टीका में इसी प्रकार की व्याख्या "शब्दार्थौ" पद के सन्दर्भ में की है। उनके अनुसार यदि आचार्य शब्द और अर्थ में से केवल किसी एक का उपादान करता तो दूसरे के अलङ्काररहित और दोषयुक्त होने पर भी काव्य कुकाव्य हो जाता, किन्तु काव्य में तो शब्द और अर्थ दोनों ही समान रूप से दोषरहित और अलङ्-

---

1- ननुशब्दः पृष्टप्रतिवचने। यथा- "अपि त्वं कटं करिष्यसि। ननु भोः करोमि" इति। - रुद्रटकृत काव्यालङ्कार 2/1 नमिसाधु की टीका

कारयुक्त होते है और दोनों ही समान रूप से काव्य के निर्धारक होते है।[1] अतः काव्य के उपर्युक्त लक्षण में शब्द और अर्थ दोनों का उपादान और इनमें इतरेतरद्वन्द्व का प्रयोग सर्वथा उचित है।

रुद्रटकृत काव्यलक्षण में काव्यपुरुष के शरीरभूत शब्द और अर्थ[2] का ग्रहण तो किया है किन्तु इनके अतिरिक्त भी काव्य के कुछ अन्य आवश्यक तत्व दोषराहित्य, गुण, अलङ्कार तथा रस आदि होते हैं, जिनका इस काव्य-लक्षण में उपादान नहीं किया गया है। अतः यह काव्यलक्षण अपने आप में परिपूर्ण प्रतीत नहीं होता। शङ्का यह उठती है कि आचार्य ने ऐसा अपरिहार्य लक्षण क्यों किया ?

संस्कृत के अधिकांश काव्यशास्त्रियों एवं समीक्षकों को मम्मट का काव्य-लक्षण[3] सर्वाधिक मान्य है।[4] इस लक्षण के अन्तर्गत् दोषराहित्य, गुणयुक्तता तथा अलङ्कृति इन तत्वों का ग्रहण किया गया है। यदि भामह तथा रुद्रटकृत

1- कवेः काव्योपयोगिनोः शब्दार्थयोरन्योन्याव्यभिचारादेकतरोपादाने-नैव द्वितीये लब्धे द्वितीयोपादानं काव्ये द्वयस्यापि प्राधान्यख्याप-नार्थम्। अन्यथा हि शब्दार्थयोरेकतरोपादानेऽन्यतरस्यालङ्कारैर्विर-हितमपि दोषैश्च युक्तमपि काव्यं साधु स्यात् । द्वयोपादाने न तुल्य-कक्षतया शब्दार्थौ द्वावपि काव्यत्वेनाङ्गीकृतौ भवतः। द्वयमेतद् समुदित-मेव काव्यं भवतीति तात्पर्यम् । - काव्यालङ्कार 2/1 टीका

2- शब्दार्थौ ते शरीरम् । - काव्यमीमांसा, तृतीय अध्याय

3- तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ।-काव्यप्रकाश 1/4

4- {क} शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ च काव्यम् ।
- काव्यानुशासन

{ख} अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्- काव्यानुशासन 1/1

{ग} निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा ।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्।।- चन्द्रालोक 1/6

{घ} गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः ।।- प्रतापरुद्रीय 2/1

"शब्दार्थौ काव्यम्" काव्यलक्षण की समस्त काव्यों में व्याप्ति हो जाती तो मम्मट जैसे प्रतिभाशी आचार्य "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि" कहते हुए इतना बड़ा लक्षण क्यों करते ? उन्होंने भी भामह तथा रूद्रटकथित शब्द और अर्थ का ग्रहण तो किया ही है। अतः स्पष्ट ही है कि उपर्युक्त तत्व काव्य के अनिवार्य तत्व हैं ।

आचार्य रूद्रटकृत काव्यलक्षण की परीक्षा करने पर ज्ञात होगा कि काव्य के इन अनिवार्य तत्वों तक इस लक्षण की व्याप्ति है अथवा नहीं। इसके लिए एक एक तत्व पर विचार अनिवार्य हो जाता है।

भोजराज तथा मम्मट ने काव्यलक्षण में सर्वप्रथम दोषराहित्य का उपादान किया है।[1] जो कि काव्य में उसकी अनिवार्यता का प्रतीक है। साहित्यदर्पणकार ने मम्मट के काव्यलक्षण में गृहीत "अदोष" पद की यथासम्भव आलोचना करते हुए तीन विकल्प प्रस्तुत किए हैं- उनके मत में किसी भी काव्य में दोष का सर्वथा अभाव सम्भव नहीं है, अतः "अदोष" पद से सर्वथा दोषराहित्य अर्थ लेने से काव्य का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाएगा।[2] इस सङ्कट से बचने के लिए यदि "अदोष" के नञ् का अभिप्राय "ईषत्" लिया जाए तो दोषरहित शब्दार्थयुगल काव्य नहीं कहा जा सकेगा।[3] यदि यह कहा जाए कि

1- दोषहानं गुणादानं तथालङ्कारयोगिता ।
   रसावियोग इत्येते सम्बन्धाः कथिताबुधैः।।

2- किञ्च एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात् ,
   सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसम्भवात् ।। - साहित्यदर्पण 1/2 की वृत्ति

3- नन्वीषदर्थे नञः प्रयोग इति चेत्तर्हि
   "ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्" इत्युक्ते निर्दोषयोः
   काव्यत्वं न स्यात् । - वही

काव्य वह शब्दार्थयुगल है जिसमें यदि दोष हों तो बहुत थोड़े हों, तब तो "अदोष" पद काव्यलक्षण में रखना ही नहीं चाहिए क्योंकि ऐसा मानने पर दोष का होना न होना काव्य के स्वरूप का नियामक-अनियामक न होकर उसकी उपादेयता के वर्धन अथवा अवर्धन का ही कारण हो सकता है।[1]

"अदोषौ" पद से सम्बद्ध साहित्यदर्पणकारकृत उक्त आलोचना विचार करने पर उनका दुराग्रहमात्र प्रतीत होती है क्योंकि मम्मट को "अदोषौ" पद से उपर्युक्त अभिप्रायों में से कोई भी अभीष्ट नहीं है। दोष का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि जिससे मुख्यार्थ का अपकर्ष होता है, वह दोष है और काव्य में मुख्यार्थ "रस" होता है।[2] अतः काव्यशरीर में प्राणभूत रस को प्रतिष्ठापित करने से पूर्व काव्योपयोगी शब्दार्थयुगल को रसविघातक दोषों से रहित करना अनिवार्य है। दोषराहित्य अपने आप में एक महान् गुण है - "महान् निर्दोषिता गुणः।" भामह ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि कवि को एक भी दुष्ट पद का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि दुष्ट काव्य काव्य के कारण कवि उसी प्रकार निन्दा का पात्र बनता है, जिस प्रकार कुपुत्र के कारण पिता। कुकाव्य की रचना करना साक्षात् मृत्यु है।[3] दण्डी भी इसी बात का समर्थन करते हुए कहते हैं कि अत्यल्प दोष भी काव्य में

1- सति सम्भवे "ईषद्दोषौ" इति चेत् एतदपि काव्यलक्षणे न वाच्यम्, रत्नादिलक्षणे कीटानुवेधादिपरिहारवत्। - वही

2- मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यः ......। - काव्यप्रकाश 7/1

3- सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते।।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः।।
- काव्यालङ्कार 1/11-12.

नहीं होना चाहिए क्योंकि सुन्दर शरीर भी कुष्ठ के एक चिह्न से विरूप हो जाता है।[1] वामन ने भी दोष-परित्याग की बात को स्वीकार किया है।[2] स्वयं आचार्य रुद्रट ने दोषहीन तथा गुण, अलङ्कार एवं रसों से युक्त काव्य को यशः-प्राप्ति का साधन बताया है।[3] भोजराज ने दोषरहित, गुण-युक्त, अलङ्कृत तथा सरस काव्य की रचना करने वाले को कीर्ति तथा प्रीति प्राप्त करने वाला बताया है।[4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य का निर्दुष्ट होना अनिवार्य है। अतः काव्य-लक्षण में "अदोष" या "दोषहान" पद होना आवश्यक है। रुद्रटकृत काव्यलक्षण में इस पद का अभाव होने के कारण काव्यलक्षण पूर्ण नहीं प्रतीत होता ।

केवल "शब्दार्थौ काव्यम्" को काव्यलक्षण मानने पर समस्त अलङ्कृत प्रबन्ध काव्य की कोटि में नहीं आ सकेंगे और ऐसी स्थिति में लक्षण अ-व्याप्तिदोष से दूषित हो जाएगा, क्योंकि इस लक्षण के अनुसार विशिष्ट प्रकार के शब्द और अर्थ सम्मिलित रूप में काव्य कहलाते हैं। किन्तु इससे काव्य के अलङ्कारयुक्त होने अथवा न होने का कोई विधान नहीं बनता, जबकि काव्य का अलङ्कृत होना आवश्यक है। यद्यपि अलङ्कार काव्यत्व का नियामक तत्व नहीं है तथापि सौन्दर्याधायक तत्व होने के कारण

1- तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन ।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।। - काव्यादर्श 1/7

2- स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम् । - का०सू०वृ० 1/1/3

3- शब्दार्थयोरिति निरूप्य विभक्तरूपान्
दोषान्गुणांश्च निपुणो विगुणनसारम् ।
सारं समाहितमनाः परमाददानः
कुर्वीत काव्यमविनाशि यशोऽधिगन्तुम् ।। - काव्यालङ्कार 11/36

4- निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ।।
- सरस्वती 1/2

महत्वपूर्ण तत्व अवश्य है, जैसा कि लगभग सभी काव्यशास्त्रियों ने स्वीकार किया है।[1] आचार्य मम्मट के अनुसार तो काव्य में स्फुट रूप में भले ही कोई अलङ्कार न हो किन्तु अस्फुट रूप में ही सही, काव्य में अलङ्कार का होना आवश्यक है।[2] यथा – "य: कौमारहर: .... समुत्कण्ठते आदि पद्य में यद्यपि स्पष्ट रूप से कोई अलङ्कार नहीं है तथापि अस्फुट रूप में विभावना तथा विशेषोक्ति है, अत: उनके आधार पर होने वाला सन्देह सङ्कर भी अस्फुट है। स्फुट तथा अस्फुट, दोनों प्रकार के अलङ्कार से शून्य शब्दार्थयुगल मम्मट के मत में काव्य नहीं है।

1– {क} रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यैर्बहुधोदित: ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ।।
– काव्यालङ्कार 1/3

{ख} काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् । – का0 सू0 वृ0 1/1/1

{ग} काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते । –काव्यादर्श 2/1

{घ} गुणवद् अलङ्कृतञ्च वाक्यमेव काव्यम् ।
– काव्यमीमांसा, पृ0– 62

{ङ} निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कवि: कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ।।
– स0 क0 भ0 1/2

{च} अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम् ।
– काव्यानुशासन 1/11

{छ} अङ्गीकरोति य: काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती ।
असौ न मन्यते कस्माद् अनुष्णमनलं कृती ।।– चन्द्रालोक 1/8

{ज} गुणालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती ।
– डॉ0 भोलाशङ्कर व्यास द्वारा कुवलयानन्द की भूमिका में, पृ0– 62

2– क्वापीत्यनेनैतदाह यत्सर्वत्र सालङ्कारौ,
क्वचित् तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानि: ।
– काव्यप्रकाश 1/4 की वृत्ति

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अलङ्कार काव्य का एक आवश्यक तत्व है, जहाँ तक रुद्रटकृत काव्यलक्षण की व्याप्ति कथमपि सम्भाव्य नहीं है।

"शब्दार्थौ काव्यम्" की व्याप्ति "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" तक है। "सहितौ" पद शब्द और अर्थ के साहित्य को सूचित करता है।जहाँ शब्द और अर्थ एक दूसरे के उपकारक हों उसे ही साहित्य कहते हैं अर्थात् जब कोई अर्थविशेष किसी शब्दविशेष के द्वारा ही व्यक्त हो सके, उसके अतिरिक्त उसी शब्द के अन्य किसी पर्याय के द्वारा व्यक्त न हो सके और वह शब्दविशेष भी उस अर्थविशेष को व्यक्त करने में पूर्णरूपेण समर्थ हो, यही शब्द और अर्थ का साहित्य है। ध्वन्यालोककार ने यही बात कही है कि उस व्यङ्ग्यार्थ विशेष को व्यक्त करने में कोई एक ही शब्द समर्थ होता है।[1] शब्द और अर्थ का यही साहित्य वक्रोक्तिजीवितकार को भी अभीष्ट है।[2]

काव्य में शब्द और अर्थ के इसी साहित्य को भामह ने "सहितौ" पद के द्वारा कहा है, जो "शब्दार्थौ" पद में प्रयुक्त इतरेतर द्वन्द्व से ही स्पष्ट हो जाता है, जिसका विवेचन काव्यलक्षण सम्बन्धी इस चर्चा के प्रारम्भ में ही किया जा चुका है। सम्भवतः इसीलिए आचार्य रुद्रट ने स्वकथित काव्यलक्षण में "सहितौ" पद का प्रयोग नहीं किया है।

1- सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
- ध्वन्यालोक 1/8

2- शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
- वक्रोक्तिजीवित 1/9

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य में शब्द और अर्थ एक दूसरे के उपकारक होते हैं। यथा शृङ्गार तथा करुणादि रसों के प्रसङ्ग में प्रयुक्त कोमलकान्त माधुर्यव्यञ्जक पदावली उन मुख्यार्थ रूप रसों की उपकारक होगी। इसके विपरीत ओजोगुणव्यञ्जक पदावली उनकी अपकारक होगी। इससे स्पष्ट है कि किसी सरस स्थल में तद्रसानुकूल पदावली का ही प्रयोग होगा, यही शब्द और अर्थ का साहित्य है और यह साहित्य "शब्दार्थौ" पद से गम्य है। अतः सरस स्थलों तक रुद्रटकृत काव्यलक्षण की व्याप्ति बन जाती है।

रसवादी तथा ध्वनिवादी आचार्यों ने माधुर्यादि गुणों को काव्यात्मा "रस" का धर्म माना है[1]। ये गुण रस के साथ नियत स्थिति वाले हैं[2]। अतः "शब्दार्थौ काव्यम्" इस काव्यलक्षण की व्याप्ति सरस स्थलों तक है तो रस के नित्य धर्म रूप गुणों में इसकी व्याप्ति स्वतः सिद्ध हो जाती है।

किन्तु इस लक्षण में काव्य के निर्दुष्ट होने का कोई सङ्केत नहीं है, अतः रसपूर्ण, फलतः तत्सम्बन्धी गुणयुक्त तथा अलङ्कृत अथवा अनलङ्कृत किन्तु निर्दुष्ट काव्य, काव्य की सीमा से बाहर हो जायेंगे, जो उचित नहीं है।

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि रुद्रटकृत काव्यलक्षण की व्याप्ति रस तथा गुणों तक तो है किन्तु दोषराहित्य जैसे अनिवार्य तथा सालङ्कारता जैसे महत्वपूर्ण तत्वों को इस लक्षण में बिल्कुल छोड़ दिया गया है ।

1- {क} ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्।
- ध्वन्यालोक 2/6

{ख} ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।-काव्यप्रकाश 8/66

2- स्युरचलस्थितयो गुणाः । - वही 8/66 उत्तरार्द्ध

यद्यपि रुद्रटकृत काव्यलक्षण के प्रसङ्ग में नमिसाधु की टीका में दोष-राहित्य तथा अलङ्कार तत्वों का ग्रहण किया गया है।[1] इसके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि नमिसाधु एक टीकाकार थे, इसीलिए उन्होंने काव्यलक्षण सम्बन्धी कारिका की टीका करते समय काव्य के तत्वों का उल्लेख करके आचार्य रुद्रट के काव्यलक्षण को पूर्ण बनाने की चेष्टा करते हुए एक दायित्वपूर्ण टीकाकार की भूमिका का निर्वाह किया है। नमिसाधु आचार्य मम्मट के परवर्ती टीकाकार हैं, अतः स्पष्ट ही है कि उन्हें मम्मट-कृत काव्य- लक्षण पूर्णरूपेण मान्य था, इसीलिए उन्होंने रुद्रट के काव्यलक्षण की टीका में मम्मट को अभिमत काव्यसम्बन्धी तत्वों का उल्लेख किया है।

काव्य हेतु -

अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने काव्य लक्षण के साथ ही साथ काव्य हेतु का भी निरूपण किया है। इस परम्परा का निर्वाह करते हुए आचार्य रुद्रट ने भी काव्य हेतुओं का विवेचन किया है। काव्य हेतु का तात्पर्य उन कारणों से है, जिनसे काव्य का निर्माण होता है।

प्रायः सभी आचार्यों ने शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को काव्य के हेतु रूप में प्रतिपादित किया है, यद्यपि इनके आपेक्षिक महत्त्व के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद रहा है। आचार्य रुद्रट शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास की समष्टि को काव्य हेतु के रूप में प्रतिपादित करते हैं।[2]

1- शब्दार्थयोरेकतरोपादानेऽन्यतरस्यालङ्कारे-
विरहितमपि दोषैश्च युक्तमपि काव्यं साधु स्यात् ।
- काव्यालङ्कार 2/1 की टीका

2- त्रितयमिदमं व्याप्रियते शक्तिव्युत्पत्तिरभ्यासः ।
- का० 1/14

रुद्रट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी इन तीनों को काव्यहेतु के रूप में स्वीकार किया है[1] पर इन तीनों की समष्टि पर उनका आग्रह नहीं है। यहाँ पर इस तथ्य का स्पष्टीकरण आवश्यक है कि आचार्य दण्डी एक ओर तो यह प्रतिपादित करते हैं कि जन्मजात प्रतिभा, विशाल एवं परिशुद्ध अध्ययन और प्रगाढ़ अभ्यास इस काव्य सम्पत्ति के कारण होते हैं[2] और दूसरी ओर यह कहते हैं कि चाहे पूर्वजन्म के संस्कार विशेष से उत्पन्न प्रतिभा न हो तो भी अध्ययन और प्रयत्न [अभ्यास] द्वारा भलीभाँति आराधना किए जाने पर वाग्देवता कुछ न कुछ अनुग्रह कर ही देती है।[3] उनके इस प्रतिपादन को देखते हुए यह मानना कहाँ तक उचित है कि दण्डी तीनों की समष्टि को काव्यहेतु स्वीकार करते हैं।[4] उक्त विद्वानों का मत इसलिए भी तर्कसंगत नहीं

1- [क] काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः । 1/5

शब्दश्छन्दोऽभिधानार्थो इतिहासाश्रयाः कथाः ।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यगैर्ह्यमी ।।
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम् ।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ।।

- का० 1/9- 10

[ख] नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ।।

- का० द० 1/103

[ग] लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्याङ्गानि ।

- का० सू० वृ० 1/3/1

2- का० द० 1/102

3- न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ।।

- वही, 1/ 104

4- [क] "दण्डी ने भी तीनों को सम्मिलित रूप से ही काव्य का हेतु बतलाया था।" - काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, पृ०-14 व्याख्याकार डॉ० श्री निवास शास्त्री

[ख] "कारणमिति एकवचननिर्देशेन समस्तमेव तत् काव्य सम्पत्कारणं न त्वेकैकमिति व्यज्यते ।"

- काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद, कारिका 103 की संस्कृत व्याख्या, व्याख्याकार धर्मेन्द्र कुमार गुप्त

जान पड़ता है क्योंकि कारिका में प्रयुक्त "कारणम्" पद का अन्वय "च" से सम्बद्ध {जुड़े हुए} हर तत्व के साथ हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि आचार्य को यदि तीनों की व्यष्टि हेतु रूप में अभिमत थी तो आचार्य ने "कारणम्" पद के स्थान पर "कारणानि" पद का प्रयोग क्यों नहीं किया ? उत्तर स्पष्ट है - कारणानि पद का प्रयोग करने से छन्दोभङ्ग हो जाता और जब आचार्य ठीक बाद की कारिका में केवल दो ही हेतुओं को काव्य निर्माण के लिए पर्याप्त बता रहा है तो यह कहना कि वह तीनों की समष्टि को हेतु मानते हैं, उनके अभिमत के विपरीत होगा। अतः सर्वप्रथम तीनों को सम्मिलित रूप में काव्य का हेतु कहने का श्रेय रुद्रट को ही है।

आचार्य रुद्रट ने शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास - इन तीनों का अलग- अलग कारिकाओं में विवेचन किया है। शक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि इस शक्ति के फलस्वरूप समाहित चित्त में अभिधेय {अर्थ} का सदैव अनेक प्रकार से विस्फुरण होता रहता है और अक्लिष्ट पदों का भान होता है।[1] शक्ति के लक्षण से सम्बद्ध प्रस्तुत कारिका में "अक्लिष्टानि पदानि" की व्याख्या करते हुए नमिसाधु इसका अर्थ करते हैं- "सद्यः अर्थव्यञ्जक पद"।[2] रुद्रट ने शक्ति के दो भेद किए हैं - सहजा और उत्पाद्या। इनमें से सहजा जन्म के साथ उत्पन्न होने के कारण तथा अभ्यास की अपेक्षा रखने के कारण उत्पाद्या से प्रशस्यतर होती है। उत्पाद्या तो अर्जित

1- मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्मामसौ शक्तिः ।।
- काव्यालङ्कार 1/15

2- झटित्येवार्थप्रतिपादनसमर्थानि पदानि ।
- वही 1/15 नमिसाधु कृत टीका

शक्ति होती है तथा उसके लिए व्युत्पत्ति की आवश्यकता होती है[1] किन्तु यह दृष्टिकोण {प्रतिभा के दो भेद} परवर्ती युग में सामान्यतः मान्य नहीं हुआ। केवल आचार्य हेमचन्द्र ने ही रुद्रट का[2] अनुसरण करते हुए प्रतिभा के सहजा और औपाधिक - ये दो भेद किये हैं।

भामह, दण्डी, वामन- इन पूर्ववर्ती आचार्यों ने शक्ति के लिए प्रतिभा शब्द का प्रयोग किया है, जैसा कि आचार्य रुद्रट स्वयं भी स्वीकार करते हैं[3]। भामह ने यद्यपि प्रतिभा का कोई[4] लक्षण नहीं किया है तथापि उसके महत्त्व को वे अवश्य स्वीकार करते हैं। वामन, दण्डी आदि आचार्यों ने इसे पूर्वजन्म के संस्कारों से उत्पन्न[5] माना है। इसीलिए दण्डी ने इसे "नैसर्गिकी" कहा है[6]। वामन ने काव्यहेतुओं को काव्याङ्ग कहा है तथा "प्रकीर्ण" नामक

1- .... सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति ।
पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा ।।
स्वस्यासौ संस्कारं परमपरं मृगयते यतो हेतुम् ।
उत्पाद्या तु कथंचिद्

2- सा च सहजौपाधिकी चेति द्विधा । - काव्यानुशासन

3- प्रतिभेत्यपरैरुदिता । - काव्यालङ्कार 1/16

4- काव्यं तु जायते जातु कस्यचिद् प्रतिभावतः ।
- काव्यालङ्कार 1/5

5- {क} पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभामद्भुतम् ।- काव्यादर्श 1/104
{ख} जन्मान्तरगत संस्कारविशेषः कश्चित् ।
-काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति 1/3/16 की वृत्ति
{ग} शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः ।
- काव्यप्रकाश 1/3 की वृत्ति

6- नैसर्गिकी च प्रतिभा । - काव्यादर्श 1/ 103

काव्याङ्ग में ही प्रतिभा का अन्तर्भाव किया है।[1] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वामन "प्रतिभा" को गौण मानकर उसे कम महत्व दे रहे हैं, किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है, क्योंकि इसी प्रसङ्ग में वे प्रतिभा को "कवित्व का बीज"[2] कहते हैं, और स्पष्ट शब्दों में यह कहते हैं कि प्रतिभा तत्व के अभाव में काव्य की निष्पत्ति सम्भव ही नहीं और यदि काव्य की निष्पत्ति हो भी जाए तो वह काव्य हास्यास्पद कोटि का होगा। इससे स्पष्ट है कि वामन "प्रतिभा" को सर्वाधिक महत्व देते हैं। रुद्रट के समकालिक आनन्दवर्धन ने काव्यहेतुओं का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है तथापि विभिन्न प्रसङ्गों[3] में वे स्पष्ट रूप से प्रतिभा के अस्तित्व को स्वीकार करते दिखायी पड़ते हैं और उसे बहुत अधिक महत्व भी देते हैं। उनके अनुसार अव्युत्पत्तिकृत दोष तो शक्ति {प्रतिभा} से छिप सकता है किन्तु शक्ति के अभाव में जो दोष काव्य में उत्पन्न होता है, वह तो शीघ्र ही भासित हो जाता है।[4] उनकी इस उक्ति से स्पष्ट है कि वे प्रतिभा को सर्वातिशायी हेतु स्वीकार करते हैं। इसी कारिका की व्याख्या में लोचनकार अभिनवगुप्त ने

1- लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि ।
लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम् ।
- काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति 1/3/1तथा ।।

2- कवित्वबीजं प्रतिभानम्
जन्मान्तरगतसंस्कारविशेषः कश्चित् । यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते
निष्पन्नं वा हास्यायतनंस्यात् ।। - वही 1/3/16 और वृत्ति

3- सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।
- ध्वन्यालोक 1/6

4- अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते ।।
- वही, पृ0- 316 {चौखम्बा}

प्रतिभा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसे "अपूर्ववस्तु की रचना में समर्थ प्रज्ञा" कहा है।[1] अभिनवगुप्त का प्रतिभा के विषय में यह विचार उनके काव्यविद्या- गुरु श्री भट्टतौत के विचार को ही पुनरावृत्ति है।[2]

प्रतिभा तत्व से सम्बद्ध उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रतिभा और शक्ति- एक ही तत्व {हेतु} के नामान्तर मात्र हैं। जिसे रुद्रट, आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने शक्ति कहा उसी को भामह, दण्डी, वामन, जयदेव तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने प्रतिभा कहा। किन्तु काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने इन आचार्यों से भिन्न प्रकार का काव्यहेतुविषयक विवेचन किया है। वह शक्ति, प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति तीनों को काव्य के हेतु रूप में स्वीकार करते हुए शक्ति को सर्वातिशायी हेतु स्वीकार करते हैं।[3] उनकी दृष्टि में शक्ति, प्रतिभा का नामान्तर नहीं है अपितु वह प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति दोनों से ही सर्वथा भिन्न है।[4] उनके अनुसार शक्ति के फलस्वरूप प्रतिभा और व्युत्पत्ति की उपलब्धि होती है, इसीलिए वह कहते हैं कि शक्ति कर्तृरूप है और प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति कर्मरूप। शक्ति वाले में प्रतिभा उत्पन्न होती है और शक्ति सम्पन्न ही व्युत्पन्न होता है।[5] इस प्रकार उनकी दृष्टि में शक्ति प्रतिभा की जननी है, प्रतिभा के लिए

1- प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। - ध्वन्यालोक लोचन 1/6

2- प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः ॥
- काव्यकौतुक माणिक्यचन्द्र कृत काव्यप्रकाश सङ्केत उद्धरण

3- सा केवलं काव्य हेतुः इति यायावरीयः। -काव्यमीमांसा 4/पृ0-27

4- विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। - वही, 4/ पृ0- 27

5- शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्ति कर्मणी।
शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते ॥ - वही, 4/ पृ0- 27

प्रयुक्त नामान्तर नहीं। प्रतिभा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि प्रतिभा शब्द के समूह के अर्थों के समुदाय को, अलङ्कारों एवं सुन्दर उक्तियों को तथा अन्यान्य काव्यसामग्री को हृदय के भीतर प्रतिभासित करती है। जिसके पास प्रतिभा नहीं है, उसके लिए प्रत्यक्ष दीखते हुए भी अनेक पदार्थ परोक्ष से प्रतीत होते हैं और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति के लिए अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं।[1] उनके उक्त कथन से स्पष्ट है कि ये भी प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति इन दोनों में से प्रतिभा को ही अधिक महत्व देते हैं। इनके द्वारा कहा गया प्रतिभा का उक्त स्वरूप रुद्रट कथित शक्ति के स्वरूप के ही समान है। किन्तु इनके द्वारा प्रतिपादित "शक्ति" नाम्ना रुद्रट प्रतिपादित "शक्ति" के साथ साम्य रखते हुए उससे सर्वथा भिन्न है।

यहाँ पर यह विचार कर लेना उचित होगा कि राजशेखर द्वारा कही गयी शक्ति का काव्यसृजन में कहाँ तक योगदान है। इनका केवल शक्ति को काव्य का प्रधान कारण कहना उचित है अथवा नहीं। राजशेखर प्रतिभा और व्युत्पत्तिसम्पन्न व्यक्ति को ही कवि कहते हैं।[2] इससे स्पष्ट है कि वे प्रतिभा और व्युत्पत्ति को काव्यसृजन में समान महत्व देते हैं। प्रतिभा का जो स्वरूप उन्होंने वर्णित किया है, उसके अनुसार प्रतिभा ही काव्य का मुख्य हेतु है, उसके अभाव में काव्य-रचना हो ही नहीं सकती। राजशेखर ने जिस शक्ति को ऐसी महत्वपूर्ण प्रतिभा की जन्मदात्री कहा है, उसका कोई स्वरूप स्पष्ट नहीं किया है। उनकी शक्ति

1- या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधं अधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा । अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव । - वही

2- प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते ।
- काव्यमीमांसा 5/ पृ०- 41.

अपने आप में पूर्ण सक्षम नहीं है, क्योंकि वे[1] स्वयं कहते हैं कि समाधि और अभ्यास शक्ति को उद्भासित करते हैं। स्पष्ट है कि समाधि और अभ्यास के अभाव में राजशेखर की शक्ति पङ्गु है। इस विवेचन के अनुसार समाधि और अभ्यास शक्ति से अधिक महत्वपूर्ण हैं। सम्भवतः मौलिकता के लोभ में उन्होंने शक्ति को प्रतिभा से पृथक् कहा है और उसे काव्य का एकमात्र कारण कहा है। वास्तव में काव्यसृजन की हेतुभूता प्रतिभा से शक्ति भिन्न नहीं है, दोनों एक ही तत्व के नामान्तर मात्र हैं, जैसा कि भामह से आनन्दवर्धन पर्यन्त आचार्यों के तथा राजशेखर के परवर्ती आचार्यों के विवेचन से स्पष्ट है।

वक्रोक्तिजीवितकार के मत में प्रतिभा के अभाव में कवि किसी भी प्रकार के अर्थ के वैचित्र्य को प्रकट नहीं करता है।[2]

आचार्यप्रवर महिमभट्ट ने काव्यहेतुओं का विवेचन तो नहीं किया है किन्तु एक स्थल पर उन्होंने कहा है कि व्युत्पत्ति और शक्ति द्वारा हुआ स्खलद्गति शब्द का प्रयोग भी अनुमान का विषय माना जाना चाहिए।[3] इस कथन से स्पष्ट है कि वे व्युत्पत्ति और अभ्यास के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और उनको समान महत्व देते हैं। आचार्य मम्मट रुद्रट का अनुसरण करते हुए शक्ति, निपुणता {व्युत्पत्ति} और अभ्यास की समष्टि को काव्यहेतु मानते हैं।[4] उन्होंने वामन की ही भाँति प्रतिभा

1- तावुभावपि शक्तिमुद्भासयतः । - वही 4/पृ0- 27

2- प्रतिभादारिद्र्यदैन्यादति स्वल्पसुभाषितेन कविना वर्णसावर्ण्य-
रम्यतामात्रमेवोपदितम्, न पुनर्वाच्यवैचित्र्यकणिका काचिदस्तीति।
- वक्रोक्तिजीवित 1/ पृ0- 19

3- तस्माद् व्युत्पत्तिशक्तिभ्यां निबन्धो यः स्खलद्गतेः ।
शब्दस्य सोऽपि विज्ञेयोऽनुमानविषयोऽन्यवत् ।।
- हिन्दी व्यक्तिविवेक 1/66

4- त्रयः समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे
समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः । - का0 प्र0 1/ पृ0- 14

{शक्ति} को कवित्व का बीज रूप संस्कार विशेष कहा है।[1] वाग्भटा-लङ्कार में वाग्भट ने प्रतिभा को ही काव्य का कारण कहा है तथा व्युत्पत्ति को उसका भूषण।[2] जयदेव व्युत्पत्ति और अभ्यास से युक्त प्रतिभा को काव्य का कारण स्वीकार करते हैं।[3] पण्डितराज जगन्नाथ प्रतिभा को ही काव्य का एक मात्र कारण स्वीकार करते हैं और इस प्रतिभा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि काव्यनिर्माण के लिए जो शब्द तथा अर्थ अनुकूलतया उपयुक्त हों, जिनसे काव्य का निर्माण हो सके, उनकी उपस्थिति, अर्थात् काव्य निर्माण के लिए जहाँ जिस शब्द की और जिस अर्थ की आवश्यकता हो वहाँ तत्काल उसका स्मरण हो जाना प्रतिभा है।[4] प्रतिभा का यह स्वरूप भी रुद्रट की शक्ति के स्वरूप के ही समान है।

उक्त विवेचन को देखते हुए स्पष्ट है कि रुद्रटकृत शक्ति का लक्षण शक्ति के अन्य लक्षणों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है तथा प्रायः अधिकांश मूर्धन्य काव्यशास्त्रियों को मान्य है।

व्युत्पत्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए रुद्रट कहते हैं कि छन्दः शास्त्र, व्याकरण, नृत्यादि कला, स्वः आदि लोकों के स्थावर तथा जङ्गम के स्वरूप का ज्ञान कराने वाले लोकशास्त्र, पद तथा उनके पर्याय

1- शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः । - वही १/ पृ0- 14

2- प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु भूषणम् । 1/3 वाग्भटालङ्कार

3- प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति ।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजमाला लतामिव ।। च0 1/6

4- तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा ।
सा च काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः ।।
- र0 गं0 1/ पृ0- 27

एवं उनके अर्थ के सम्यक अध्ययन से उचित और अनुचित का विवेक ही व्युत्पत्ति है।[1] उनके मत में संक्षेप में यह व्युत्पत्ति का स्वरूप है। व्युत्पत्ति के इस स्वरूप पर आचार्य भामह का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।[2] इसके भी अतिरिक्त व्युत्पत्ति क्षेत्र को विस्तृत करते हुए रुद्रट ने सर्वज्ञता को दूसरी व्युत्पत्ति कहा है, क्योंकि ऐसा कोई वाच्य {अर्थ} अथवा वाचक {शब्द} नहीं है जो काव्य का अङ्ग न बन सके।[3] आचार्य वामन द्वारा कहे गए लोक और विद्या रूप काव्याङ्ग का रुद्रटकथित इसी व्युत्पत्ति में अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि वामन ने लोक का तात्पर्य लोकशास्त्र किया है तथा विद्या में शब्दस्मृति, अभिधान कोश, छन्दोविचिति, कलाशास्त्र, कामशास्त्र तथा दण्डनीति आदि को अन्तर्भूत किया है।[4] दण्डी ने बहुश्रुतम् पद के द्वारा व्युत्पत्ति को ही स्वीकार किया है क्योंकि श्रुतम् का अर्थ ही होता है श्रुति- लभ्य ज्ञान।[5]

1- छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात् ।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ॥
- का० 1/18

2- शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यैरमी ॥
- का० 1/9

3- विस्तरस्तु किमन्यत्तत् इह वाच्यं न वाचकं लोके ।
न भवति यत्काव्याङ्गं सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा ॥
- का० 1/19

4- {क} लोकवृत्तं लोकः । 1/3/2
{ख} शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचिति-
कलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः । - का०सू०वृ० - 1/3/3

5- ....श्रुतं च बहुनिर्मलम् । - का० द० 1/103
निर्मलं परिशुद्धं संशयादिदोषरहितं श्रुतम् अध्ययनं तदुपार्जितं वा ज्ञानं।
- वही 1/103 की डॉ० धर्मेन्द्र कृत संस्कृत टीका ।

दण्डी द्वारा प्रयुक्त यह बहुश्रुतम् पद भामह द्वारा निर्दिष्ट व्युत्पत्ति के समस्त क्षेत्र को तो अन्तर्भूत करता ही है साथ ही रुद्रट द्वारा निर्दिष्ट सर्वज्ञता को भी सूचित करता है। अन्तर इतना है कि रुद्रट के विवेचन में सर्वज्ञता अभिधेय है और दण्डी के विवेचन में यह गम्य है। ध्वनिकार ने भी व्युत्पत्ति के काव्यहेतुत्व को स्वीकार किया है[1] किन्तु उसके स्वरूप के विषय में कुछ स्पष्ट रूप से नहीं कहा है। अभिनवगुप्त उस व्युत्पत्ति को काव्य का कारण नहीं मानते जिसमें प्रतिभा की अभिव्यंजना न होती हो अथवा जो प्रतिभा के परिस्फुरण का साधन न बन सके।[2] रुद्रट आदि आचार्य बहुज्ञता को ही व्युत्पत्ति कहते हैं किन्तु ध्वनिकार के मत में प्रतिभा के उन्मेष का परिणाम ही व्युत्पत्ति का रहस्य है। इसी को स्पष्ट करते हुए आनन्दवर्धन[3] कहते है कि "यदि प्रतिभा हो तो काव्य के अर्थतत्त्वों का अन्त ही नहीं अर्थात् कवि की प्रतिभा ही काव्यरूप में अवतीर्ण होकर उसकी व्युत्पत्ति के रूप में प्रतिफलित होती है। राजशेखर यह स्वीकार करते हैं कि आचार्यों ने बहुज्ञता को ही व्युत्पत्ति कहा है[4] किन्तु उनके मत में उचित और अनुचित का विवेक ही व्युत्पत्ति है,[5] इस प्रसंग में राजशेखर रुद्रट से प्रभावित प्रतीत होते हैं। काव्यमीमांसा में जिन "मङ्गल" नामक आचार्य का मत "काव्यहेतु" के प्रसंग

1- अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः। ध्वन्यालोक, पृ0-316 {चौखम्बा}।

2- शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषय नूतनोल्लेखशालित्वम्।
व्युत्पत्तिस्तदुपयोगिसमस्तवस्तुपौर्वापर्यपरामर्श कौशलम्।।
- ध्वन्यालोकलोचन, तृतीय उद्योत

3- न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः। ध्व0 4/6

4- "बहुज्ञता व्युत्पत्तिः" इत्याचार्याः। का0मी0 5/ प्रारम्भ

5- "उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः" इति यायावरीयः।
- वही 5/ पृ0- 38.

में राजशेखर ने दिया है, उनके अनुसार तो व्युत्पत्ति ही श्रेयस्कर होती है क्योंकि वह अशक्तिजन्य दोष को छिपा लेती है।[1] किन्तु राजशेखर काव्यहेतु-विवेचन के अन्त में अपना मत स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कवि के लिए प्रतिभा और व्युत्पत्ति की समान रूप से आवश्यकता है, इन दोनों से युक्त कवि ही कवि है।[2] आचार्य मम्मट कारिका के अन्तर्गत व्युत्पत्ति का उल्लेख "निपुणता" पद से करते हुए कहते हैं कि लोकव्यवहार, छन्दव्याकरण, शब्द-कोश, कला, पुरुषार्थ- चतुष्टय, हाथी, घोड़े, खड्ग आदि के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों और महाकवियों के काव्यों तथा इतिहासादि के अनुशीलन से होने वाली {काव्यविषयक} व्युत्पत्ति ही निपुणता है।[3]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने बहुज्ञता को ही व्युत्पत्ति कहा है।

अभ्यास तो लोकप्रसिद्ध है। रुद्रट के अनुसार "जिसने सभी ज्ञातव्य विषयों का ज्ञान कर लिया है तथा जो शक्तिमान् है, उसे सदैव सज्जन कवि के सम्पर्क में काव्य का अभ्यास करना चाहिए।[4] शङ्का हो सकती है कि सज्जन सुकवि के सम्पर्क में क्यों अभ्यास करना चाहिए? इसका समाधान नमिसाधु की टीका में बहुत सुन्दर रूप में किया गया है। छन्द, व्या-

---

1- "व्युत्पत्तिः श्रेयसी इति मङ्गलः ।
सा हि कवेरशक्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति ।।
- वही 5/ पृ0- 39

2- प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते । -का0मी05/पृ0-41

3- लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानां काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम्, आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः । का0प्र0 1/पृ0 14

4- अधिगतसकलज्ञेयः सुकवेः सुजनस्य सन्निधौ नियतम् ।
नक्तंदिनमभ्यसेदभियुक्तः शक्तिमान्काव्यम् ।।
- का0 1/20

करण आदि विषयों के अतिरिक्त जो महाकवियों द्वारा प्रणीत महाकाव्यों में उपलब्ध होता है उसका ज्ञान सुकवि के सम्पर्क से होता है, सज्जनतावश वह सुकवि बिना किसी द्वेष के अभ्यास करने वाले को सब कुछ द्रष्टव्य दिखला देता है।[1] कारिका में प्रयुक्त "नियत" पद से रूद्रट का तात्पर्य है कि सदैव सज्जन सुकवि के सम्पर्क में ही अभ्यास करना चाहिए।[2] अभ्यास- सम्बन्धी कारिका में रूद्रट ने "नक्तंदिनम्" पद का प्रयोग किया है, जिसका तात्पर्य है कि जब भी समय मिले और बुद्धि तीक्ष्ण हो, तभी अभ्यास करना चाहिए।[3] आचार्य वामन ने अभ्यास के लिए "रात्रि का चतुर्थ प्रहर" का समय निश्चित किया है।[4] सम्भवतः रूद्रट ने समय की इस सीमा का खण्डन करने के लिए "नक्तंदिनम्" पद प्रयुक्त किया है। यह खण्डन उचित भी है। भामह के अनुसार- "शब्दार्थ को जानकर काव्यवेत्ताओं की उपासना करके अन्य [कवियों की] रचनाओं को देखकर काव्य का निबन्धन करना चाहिए।[5] रूद्रट की अभ्यास सम्बन्धी कारिका भामह से अनुप्राणित प्रतीत होती है। आचार्य वामन ने अभ्यास के लिए अवधान शब्द का प्रयोग किया है तथा प्रकीर्ण नामक

1- छन्दो व्याकरणादिविषयलक्षणातिरिक्तमन्यदपि ज्ञेयं जानाति । यन्महाकविलक्ष्येषु दृश्यते । सुजनत्वाच्च निर्मत्सरो भूत्वा सर्वमसौ दर्शयति । - का० 1/20 नमिसाधुकृतटीका

2- नियतमित्यनेन सुकविसन्निधान एवाभ्यासः कार्य इति नियत इति।
- वही

3- नक्तंदिनमित्यनेन तु यदैव पटवी बुद्धिः क्षणश्च भवति तदैवाभ्यसेत् ।
- वही

4- रात्रियामस्तुरीयः कालः । 1/3/20 का०सू०वृ०

5- शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम् ।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः।।
- का० 1/10

काव्याङ्ग के अन्तर्गत रखा है।[1] उनके अनुसार चित्त की एकाग्रता ही अवधान है। काव्यमीमांसा के अनुसार मङ्गल नामक आचार्य "अभ्यास" को ही काव्य का हेतु स्वीकार करते हैं।[2] रुद्रट का अनुसरण करते हुए मम्मट ने इस प्रकार अभ्यास का स्वरूप विवेचित किया है: जो काव्य-रचना तथा विवेचना करना जानते हैं {काव्यज्ञ} उनके उपदेश के अनुसार काव्यनिर्माण और शब्दयोजना में बार- बार लगना ही अभ्यास है।[3]

स्पष्ट है कि आचार्य रुद्रट ने जितनी सूक्ष्मता से अभ्यास का विवेचन किया है, उतनी सूक्ष्मता से अन्य किसी आचार्य ने नहीं किया। अतः तीनों हेतुओं {प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास} को अधिक विस्तारपूर्वक तथा स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने का तथा तीनों को समष्टि को काव्यहेतु कहने का श्रेय रुद्रट को ही है।

सम्प्रति तीनों हेतुओं के आपेक्षिक महत्व के विषय में आचार्यों में जो मतभेद है, उस पर दृष्टिपात करना उचित होगा। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को स्वीकार करते हुये भी प्रतिभा को काव्य का मुख्य हेतु स्वीकार किया है तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को उसका संस्कारक माना है। भामह, वामन, आनन्दवर्धन, हेमचन्द्र, वाग्भट, जयदेव, जगन्नाथ आदि इसी कोटि में आते हैं। प्रतिभा और व्युत्पत्ति को समान रूप से महत्व देने वालों में

1- लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम् ।
- का० सू० वृ० 1/3/11

2- "अभ्यासः" इति मङ्गलः । - का०मी० 4/पृ0- 26

3- काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तद् उपदेशेन करणे
योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिरिति । - का०प्र० 1/पृ0-14.

दण्डी, राजशेखर तथा महिमभट्ट प्रमुख हैं। मड्•गल केवल अभ्यास को काव्यहेतु कहते हैं। इन सबसे भिन्न रूप में रुद्रट तथा मम्मट तीनों की समष्टि को काव्यहेतु मानते हैं। वक्रोक्तिजीवितकार शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को काव्यहेतु स्वीकार करते हैं किन्तु इसके महत्त्व पहले वे कवि- स्वभाव को काव्यहेतु मानते हैं। कुन्तक के अनुसार कवि के स्वभाव के अनुकूल शक्ति उस कवि में स्फुरित होती है, उस शक्ति से व्युत्पत्ति का उपार्जन करके कवि शक्ति और व्युत्पत्ति के पोषण से अभ्यास में तत्पर हो जाता है।[1]

उपर्युक्त मतों में रुद्रट, मम्मट आदि द्वारा कथित मत अधिक सड्•गत है। काव्य- रचना के लिए तीनों ही हेतु समान रूप से उपयोगी है। शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास में से एक के भी अभाव में काव्य रचना श्रेष्ठ नहीं होगी अतः इन तीनों को समकक्ष रखना ही उचित है प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति और अभ्यास का अधिक महत्त्व नहीं है तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास के अभाव में प्रतिभा कुण्ठित रहती है। अतः तीनों की समष्टि को ही काव्यहेतु मानना सड्•गत है, व्यष्टि को नहीं ।

काव्य- प्रयोजन :-

प्रयोजन को जाने बिना मन्दबुद्धिजन को भी किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती। इसीलिए संस्कृत- साहित्य के आचार्यों ने प्रयोजन को बहुत अधिक महत्त्व देते हुए कृतियों के आरम्भ में ग्रन्थ की रचना और उसके अध्ययन के प्रयोजन का निरूपण किया है। कुछ काव्यशास्त्रियों यथा रुद्रट,

---

1- कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समञ्जसतां गाहते ....। व०जी० प्रथम उन्मेष, पृ०- 99.

कुन्तक आदि ने ग्रन्थ और काव्य के प्रयोजनों का पृथक्- पृथक् उल्लेख किया है तथा कुछ ने काव्य के प्रयोजन को ही अपने ग्रन्थ का भी प्रयोजन मानते हुए केवल काव्य के प्रयोजनों का निरूपण किया है।[1] मम्मट द्वारा निरूपित काव्य-प्रयोजनों के सन्दर्भ में प्रदीपकार ने भी इसी बात को कहा है।[2]

आचार्य रुद्रट ने ग्रन्थ के प्रयोजन और काव्य के प्रयोजनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। "काव्यालङ्•कार" नामक ग्रन्थ के पौर्वापर्य को समझकर विद्वान् कवि की बुद्धि काव्य को अलङ्•कृत करने में शीघ्र ही दक्ष हो जायगी।[3] आचार्य रुद्रट ने अपने ग्रन्थ का यही प्रयोजन बताया है। नमिसाधु ने अपनी टीका में पौर्वापर्य का तात्पर्य हेतुहेतुमद्- भाव करते हुए "काव्यालङ्•कार" ग्रन्थ को हेतु {कारण} और अलङ्•कारों को हेतु-मद् {कार्य} बताया है क्योंकि हेतु और हेतुमद् की पूर्ववर्तिता और परवर्तिता {पौर्वापर्य} प्रख्यात है।[4] इस व्याख्या के अनुसार रुद्रट के उक्त कथन का अभिप्राय यह हुआ कि निःसन्देह "काव्यालङ्•कार" और उसमें निरूपित अलङ्•कारों के बीच कारण- कार्यभाव समझकर काव्य को अलङ्•कृत करने में व्युत्पन्न हो जायेंगे ।

1- अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्•गतया फलवत्तामिति काव्यफलान्याह । - वा0 जी0 1/पृ0- 2.

2- इहाभिधेयं ग्रन्थकर्तृपङ्•क्तिः काव्यस्य फलेन सफलमिति प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थं प्रतिपादयितुमाह । - का0प्र0 1/पृ0-4

3- अस्य हि पौर्वापर्यं पर्यालोच्याचिरेणनिपुणस्य । काव्यमलङ्•कर्तुमलं कर्तुरुदारा मतिर्भवति ।।
- का0 1/3

4- यस्मात् पौर्वापर्यं हेतुहेतुमद् भावं । हेतुरेव ग्रन्थः । हेतुमन्तोऽलङ्•काराः हेतुकार्ययोश्च पौर्वापर्यं सिद्धमेव।।
- वही 1/3 टीका

टीकाकार नमिसाधु ने "पौर्वापर्य" शब्द की उपर्युक्त व्याख्या उसकी व्युत्पत्ति को ध्यान में रखते हुए की है। किन्तु यह तथ्य समीचीन नहीं लगता कि प्रतिपादक और प्रतिपाद्य के बीच कारण- कार्यभाव- सम्बन्ध के ज्ञान मात्र से कोई विद्वान् काव्य को अलङ्‌कृत करने में समर्थ हो सकता है। सम्भवतः इसीलिए नमिसाधु स्वयं "पौर्वापर्य" की एक दूसरी व्याख्या भी विकल्प रूप में प्रस्तुत करते हैं जो अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। तदनुसार पौर्वापर्य का अर्थ है "ग्रन्थ में आदि से अन्त तक प्रतिपादित अर्थ"। इस व्याख्या के अनुसार ग्रन्थकार का आशय हो जाता है "ग्रन्थ में आदि से अन्त तक प्रतिपादित अर्थ को भलीभाँति समझकर {पर्यालोच्य} कोई भी विद्वान् काव्य को अलङ्‌कृत करने में समर्थ हो जाएगा।" उक्त कारिका का यही आशय जान पड़ता है।

ग्रन्थ के प्रयोजन के बाद रुद्रट ने काव्य के प्रयोजनों का वर्णन किया है। वस्तुतः काव्य का सम्बन्ध दो व्यक्तियों से होता है कवि तथा सहृदय श्रोता। यदि कवि को काव्य से कोई प्रयोजन न हो तो वह काव्य की रचना ही क्यों करेगा और यदि सहृदय व्यक्ति को काव्य से प्रयोजन न हो तो वह काव्य का श्रवण अथवा मनन क्यों करेगा? अतः दोनों को दृष्टि में रखकर काव्य के प्रयोजनों का उल्लेख किया जाता है। आचार्य रुद्रट ने भी दोनों की ही दृष्टि से काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख किया है।

1- अथवाद्यन्तोदितग्रन्थार्थं पर्यालोच्यावगत्य, अचिरेण शीघ्रमेव, निपुणस्य प्रवीणस्य काव्यं कविभावम्, अलङ्‌कर्तुमलङ्‌कारसमन्वितं विधातुम्, अलमत्यर्थम्, कर्तुः कवेः, उदारा स्फारा योग्या वा, मतिर्भवति बुद्धिर्जायते। - वही 1/3 की टीका

कवि की दृष्टि से काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए रुद्रट धर्म का सर्वप्रथम उल्लेख करते हैं। यह तो स्वतः सिद्ध है कि अपनी कृति के माध्यम से कवि नायक के यश का विस्तार करता है, किन्तु यशः प्रसारण भी वह क्यों करे, यदि उसे कुछ प्राप्त न हो? अतः निश्चित रूप से नायक के यशः प्रसारण के माध्यम से कवि को किसी वस्तु की प्राप्ति होती है और वह वस्तु है - परोपकारजन्य धर्म।[1]

धर्मरूप प्रयोजन से सम्बद्ध आचार्य के सम्पूर्ण विवेचन[2] को तथा उसमें भी विशेष रूप से "स्फुरदाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि" को देखते हुए आपततः ऐसी प्रतीति होती है कि वह नायक के यशःप्रसारण को कवि की दृष्टि से काव्य-प्रयोजन स्वीकार कर रहे हैं, किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है क्योंकि नमिसाधु स्पष्ट शब्दों में यह प्रतिपादित करते हैं कि नायक का यशः प्रसारण कवि का प्रेरक कैसे बन सकता है।[3] इसीलिए नायक का यशःप्रसारण तो कवि की दृष्टि से प्रयोजन हो ही नहीं सकता। उस यशःप्रसारणरूप परोपकार से जो धर्मलाभ होता है वही कवि की दृष्टि से काव्य-प्रयोजन हो सकता है। इस धारणा की पुष्टि इस बात से भी हो जाती है कि ऊपर उद्धृत कारिका संख्या 1/4 में

1- अन्योपकारकरणं धर्माय महीयसे च भवतीति ।
अधिगतपरमार्थानामविवादो वादिनामत्र ।। - वही 1/7

2- ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम् ।
स्फुरदाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ।।
तत्कारितसुरसदनप्रभृतिनि नष्टे तथाहि कालेन ।
न भवेन्नामापि ततो यदि न स्युः सुकवयो राज्ञाम् ।।
- वही 1/4-5

3- अथ यदि नाम राज्ञां यशस्तन्वन्ति तथापि किं तेषां यत्ते काव्यकृतौ प्रवर्तन्त इत्याह। - वही 1/पृ0 6 नमिसाधु की टीका

नमिसाधु "अपि" शब्द की व्याख्या करते हुए उसे समुच्चयार्थक न मानते हुए विस्मयार्थक मानते हैं[1] और साथ ही कवि के अन्य प्रयोजनों के विवेचन से पूर्व कहते हैं कि इस प्रकार धर्म ही काव्य-रचना में प्रयोजन ही होता है।

काव्य के माध्यम से कवि धन, अनर्थ का निवारण तथा असामान्य सुख अथवा जो कुछ उसका वांछित है, उसे प्राप्त करता है।[2] असामान्य सुख {असमम्} की नमिसाधु ने इस प्रकार व्याख्या की है- इह लोके कामजं परत्र तु पारम्पर्येण मोक्षजम्।[3] इस प्रकार रुद्रट ने कवि के लिए पुरुषार्थों की सिद्धि को काव्य का प्रयोजन कहा है। पुरुषार्थसिद्धि के अतिरिक्त कवि काव्य के माध्यम से कल्पान्त स्थायि यश की प्राप्ति करता है। प्रथम अध्याय में उन्होंने सम्भवतः केवल कवि को दृष्टि में रख कर काव्य प्रयोजनों का निरूपण किया है, जैसा कि उनके कथन से प्रतीत होता है।[4] अतः डॉ० नगेन्द्र का यह कथन कि रुद्रट ने कवि के लिए यश को काव्य का मुख्य फल माना है तथा श्रोता के लिए चतुर्वर्ग फलास्वाद को[5] समीचीन नहीं प्रतीत होता है। बारहवें अध्याय के प्रारम्भ में नमिसाधु के वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले कवि के लिए काव्य-

---

1- एवं धर्म एव कवेः काव्यकरणे प्रयोजनमित्यभिप्रायार्थकामभोक्ष-
हेतुत्वमप्याह । - वही 1/पृ० 7 टीका

2- अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य ।
विरचितरुचिर सुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः।। -वही 1/8

3- वही 1/8 नमिसाधुकृत टीका

4- तदिति पुरुषार्थसिद्धिं साधुविधास्यद्भिरविकलां कुशलैः ।
अधिगतसकलज्ञेयैः कर्तव्यं काव्यममलमलम् ।। - वही 1/12
अमरसदनाधिरूपो भूता न कीर्तिरनश्वरी भवति यदसौ सम्यक्ञापि प्रभवति तत्क्षये। तदलमतं कर्तुं काव्यं यतेत समाहितो,जगति सकले व्यासादीनां विलोक्य परं यशः ।। - वही 1/22

5- हि० का० सी० भूमिका, पृ० 29.

फल कहा जा चुका है[1] और अब [बारहवें अध्याय में] श्रोताओं का फल बताते हैं। अतः प्रथम अध्याय में कहे गये समस्त काव्य प्रयोजन कवि के लिए हैं। काव्य के अनुशीलन से अथवा श्रवण से सहृदय पाठक अथवा वैसे श्रोता के पुरुषार्थों की सिद्धि होती है, सहृदय की दृष्टि से काव्य का यही प्रयोजन है।[2] रुद्रट ने पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण करके ही काव्य के प्रयोजनों का उल्लेख किया है। आचार्य भरत ने धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि, लोकोपदेश, विनोद तथा विश्राम की प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन कहा है।[3] विनोद और विश्राम से आनन्द प्राप्त होता है अतः भरत के प्रयोजनों में आनन्द का अन्तर्भाव गम्य है जिसे अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है।[4] किन्तु आचार्य रुद्रट ने

1- ननु काव्यकरणे कवेः पूर्वमेव फलमुक्तम्,
श्रोतृणां तु किं फलमित्याह । - का० 12वाँ अध्याय

2- ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ।।
- वही, 12/1

3- धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ।।- 1/115
वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।।
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।।

4- [क] तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् - ध्वन्यालोक 1/2
[ख] कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति । - स०कं०भ० 1/4
[ग] सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं
विगलितवेद्यान्तरमानन्दम् - का० प्र० 1/ पृ०- 8.

इस काव्य प्रयोजन का उल्लेख नहीं किया है। भामह ने पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि, कलाओं में विचक्षणता, आनन्द तथा यश की प्राप्ति को काव्य-प्रयोजन रूप में स्वीकार किया है।[1] भामह ने "साधुकाव्यनिबन्धनम्" कहकर सम्भवतः केवल कवि की दृष्टि से काव्य के प्रयोजनों का उल्लेख किया है, क्योंकि "निबन्धनम्" का अर्थ है रचना या निर्माण, और रचना करने वाला तो कवि होता है, श्रोता या पाठक तो श्रवण या मनन करता है। काव्य का सीधा सम्बन्ध मुख्यतया सहृदय से है और "निबन्धनम्" पद से उसके प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी। अतः आगे चलकर जीवनकार ने "निबन्धनम्" पद के स्थान पर "निषेवणम्" पद रखा[2] क्योंकि "निषेवणम्" निर्माण और श्रवण दोनों का वाचक है अतः उसका सम्बन्ध कवि और सहृदय दोनों से है।

आचार्य दण्डी ने काव्य प्रयोजन का स्पष्टरूपेण उल्लेख न करते हुए भी कीर्ति- प्रीति की प्राप्ति को काव्य- प्रयोजन रूप में स्वीकार किया है,[3] आचार्य वामन ने भी इन्हीं दोनों की प्राप्ति को काव्य प्रयोजन कहा है।[4]

1- धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ।।
- का० 1/2

2- धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ।।
- का० जीवन 1/ पृ०-6।

3- व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन, मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्तिनीभिः।
वाग्भिः कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभिः, धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम्।।
- का० द० 3/187

4- काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ।
- का०सू०वृ० 1/1/5

ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक में तथा अभिनवगुप्त ने लोचन में आनन्द[1] को ही काव्य का मुख्य प्रयोजन प्रतिपादित किया है। काव्यमीमांसाकार ने स्पष्टरूपेण काव्य प्रयोजनों का उल्लेख नहीं किया है किन्तु उनके निवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे धर्म- अर्थ के ज्ञान तथा हितोपदेश की प्राप्ति को काव्य के प्रयोजन के रूप में स्वीकार करते हैं।[2] वक्रोक्तिजीवितकार ने रूद्रट की भाँति ग्रन्थ और काव्य के प्रयोजन अलग- अलग निरूपित किए हैं। इन्होंने वक्रोक्ति की सिद्धि को अपने ग्रन्थ का प्रयोजन बताया है।[3] धर्मादि पुरुषार्थों की सिद्धि और आनन्द प्राप्ति इन्हें काव्य के प्रयोजन रूप में मान्य थी।[4] "सुकुमारक्रमोदित:" कहकर कुन्तक ने रूद्रट[5] की शास्त्र और काव्य की तुलना में काव्य को सरल और सरस कहने की परिपाटी का अनुसरण किया है। व्यक्तिविवेककार को भी यही मान्य था किन्तु वे विधिनिषेधविषयक व्युत्पत्ति को काव्य और नाट्य का फल मानते हैं[6] जो पूर्ववर्ती

1- {क} तेन ब्रूम: सहृदयमन: प्रीतये तत्स्वरूपम् । - ध्व0 1/1

{ख} आनन्द इति..... तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम् ।

- लोचन 1/पृ0- 59

2- काव्यमीमांसा द्वितीय अध्याय

3- लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।

काव्यस्यायमलङ्.कार: कोऽप्यपूर्वो विधीयते ।।

- व0जी0 1/2

4- धर्मादिसाधनोपाय: सुकुमारक्रमोदित: ।

काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारक: ।। - वही, 1/3

5- ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।

लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्य: ।।- का0।2/1

6- सामान्येनोभयमपि च तत् शास्त्रवद् विधिनिषेधविषयव्युत्पत्तिफलम् ।

- व्य0 वि0 वि0, पृ0- 101.

आचार्यों के "हितोपदेश" रूप प्रयोजन से अभिन्न है। भोजराज[1] कीर्ति और प्रीति को काव्यफल मानते हैं। लोचनकार "तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्" कहकर आनन्द प्राप्ति को काव्य के मुख्य फल के रूप में स्वीकार करते हैं। एक स्थान पर लोचनकार ने सहृदयों के लिए व्युत्पत्ति और प्रीति[2] को काव्य-प्रयोजन कहा है। मम्मट यशप्राप्ति, अर्थलाभ, लोक व्यवहार अमङ्गलनाश, रसास्वाद तथा सरसोपदेश को काव्यफल मानते हुए भी आनन्द को "सकल प्रयोजन मौलिभूत" कहते हैं। वाग्भट ने "काव्यानुशासन" में छः[3] प्रयोजनों का नामोल्लेख किया है, जो पूर्ववर्ती आचार्यों को मान्य थे, किन्तु स्वयं वाग्भट केवल कीर्ति को काव्यफल मानते हैं[4] क्योंकि शेष प्रयोजन तो अन्य साधनों से भी प्राप्त हो सकते हैं। साहित्यदर्पणकार ने महिमभट्ट के कृत्याकृत्यविवेक को काव्य का प्रयोजन माना है किन्तु अन्ततः पुरुषार्थसिद्धि को मुख्य रूप से काव्य- प्रयोजन रूप में स्वीकार किया है,[5] पण्डितराज जगन्नाथ को सम्भवतः पूर्वोक्त सभी काव्य प्रयोजन समान रूप से मान्य थे तभी उन्होंने कीर्ति-प्रीति

1- निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ।।
- स० क० भ० 1/2

2- ध्वन्यालोकलोचन, प्रथम उद्योत

3- काव्यम् । प्रमोदायानर्थपरिहाराय व्यवहारज्ञानाय
त्रिवर्गफललाभाय कान्तातुल्यतयोपदेशाय कीर्तये च ।
- का० शा०, पृ०- 2

4- वयं तु कीर्तिमेवैकां काव्यहेतुतया मन्यामहे ....
अतः कीर्तिरेवैका काव्यहेतुः । - वही

5- चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि काव्यतो रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्
इत्यादि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेणसुप्रतीतैव ।
- सा० द० 1/ पृ०- 2

आदि कुछ का कथन करके काव्य को अनेक प्रयोजनों वाला कहा है।[1] दशरूपककार ने आनन्द को नाट्य अथवा काव्य का प्रयोजन स्वीकार करते हुए उनकी भर्त्सना की है जो नाट्य अथवा काव्य को इतिहासादि के समान केवल धर्मादि का ज्ञान कराने वाला कहते हैं।[2] सम्भवतः उन्होंने इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती आचार्य रुद्रट जैसे विद्वानों की ओर इङ्गित किया है जिन्होंने आनन्द रूप काव्य के मौलिभूत प्रयोजन का शब्दशः उल्लेख नहीं किया, यद्यपि उन्होंने काव्य को अनन्त प्रयोजनों वाला कहा है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रुद्रट ने आनन्द नामक काव्य- प्रयोजन का उल्लेख नहीं किया है। कवि काव्य की रचना इसलिए करता है, क्योंकि उससे उसे आनन्द प्राप्त होता है। यश तथा पुरुषार्थसिद्धि आदि तो काव्य-रचना से प्राप्त होते ही हैं, इन सबसे पहले कवि को काव्य- रचना से आनन्द प्राप्त होता है, क्योंकि किसी भी कार्य में प्रवृत्ति तभी होती है जब उससे सुख प्राप्त हो, यदि किसी कार्य से दुःख मिले तो उससे निवृत्ति होती है । अतः काव्यरचना में प्रवृत्त होना ही स्पष्ट करता है कि कवि को उससे आनन्द प्राप्त होता है। सहृदय तो मुख्य रूप से आनन्द के लिए काव्य का श्रवण अथवा मनन करता है । शृङ्गारादि रस तो उसे आनन्द देते ही है साथ

1- तत्र कीर्तिपरमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य ।
- र० ग०

2- आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः ।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ।।
- द० रू० 1/7

3- कियदथवा वच्मि यतो गुरुगुणमणिसागरस्य काव्यस्य ।
कः खलु निखिलं कथयत्यलभलघुर्मौनिदानस्य ।।
- का० 1/11

ही करुणादिक रस भी आनन्द ही प्रदान करते हैं[1] यद्यपि आपाततः करु-णादि दुःखात्मक प्रतीत होते हैं। इसीलिए आचार्य मम्मट कवि की नवरस-रुचिरा कृति को "ह्लादैकमयी"[2] कहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि आनन्द सभी प्रयोजनों में मुख्य है। आश्चर्य है कि आचार्य रुद्रट ने इस सर्वातिशायी प्रयोजन का उल्लेख नहीं किया, जबकि पूर्ववर्ती भरत, भामह, वामन तथा दण्डी आदि सभी ने आनन्द का उल्लेख किया है। यह अलग बात है कि किसी ने व्यञ्जनया कहा है यथा भरत और किसी ने अभिधया यथा भामह वामनादि। अतः "आनन्द" रूप प्रयोजन के अभाव में उनका काव्य- प्रयोजन सम्बन्धी विवेचन अधूरा प्रतीत होता है।

प्रबन्ध- भेद :-

प्राचीन काल से ही काव्यशास्त्रियों ने अपने- अपने दृष्टिकोण से प्रबन्ध- भेद किये हैं। इस परिपाटी का अनुसरण करते हुए आचार्य रुद्रट ने भी प्रबन्ध- भेदों का निरूपण किया है। सोलहवें अध्याय में प्रबन्ध- भेदों का विस्तृत विवेचन करते हुए उन्होंने कथावस्तु की दृष्टि से प्रबन्ध- भेद किया है। उनके अनुसार काव्य, कथा तथा आख्यायिकादि प्रबन्ध

1- करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ।।
- सा० द० 3/4

2- नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।।
- का० प्र० 1/1

कथावस्तु की दृष्टि से दो प्रकार के होते हैं- उत्पाद्य तथा अनुत्पाद्य[1]। उन्होंने कविकल्पित कथावस्तु पर आधारित प्रबन्ध को उत्पाद्य प्रबन्ध तथा ऐतिहासिक कथावस्तु पर आधारित प्रबन्ध को "अनुत्पाद्य" कहा[2]। इन्होंने उत्पाद्य तथा अनुत्पाद्य प्रबन्धों के पुनः दो- दो भेद किए-महत् तथा लघु[3]। इस वर्गीकरण का आधार उन्होंने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष - इस चतुर्वर्ग तथा रसों को बनाया। जिनके विस्तार में चतुर्वर्ग तथा समस्त रसों और समस्त काव्य-स्थानों को चर्चा होती है उनको उन्होंने महत् प्रबन्ध कहा तथा जिनमें चतुर्वर्ग में से एक का उपन्यास हो, उन्हें लघु-प्रबन्ध कहा[4]। ये लघु प्रबन्ध भी दो प्रकार के होते हैं- एक तो वे जिनमें सभी रस तो नहीं किन्तु अनेक रस होते हैं तथा दूसरे वे जिनमें प्रबन्ध में एक ही रस होता है[5]।

1- सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये ।
उत्पाद्यानुत्पाद्या ....॥
- वही, 16/2

2- तत्रोत्पाद्या येषां शरीरमुत्पादयेत्कविः सकलम् ।
कल्पितयुक्तोत्पत्तिं नायकमपि कुत्रचित्कुर्यात् ॥
पञ्जरमितिहासादिप्रसिद्धमखिलं तदेकदेशं वा ।
परिपूरयेत्स्ववाचा यत्र कविस्ते त्वनुत्पाद्याः ॥
- वही, 16/3-4

3- उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि ॥- वही 16/2उत्तरार्ध

4- तत्र महान्तो येषु च वितत्वेष्वभिधीयते चतुर्वर्गः।
सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि ॥
ते लघवो विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात् ।

5- असमग्रानेकरसा ये च समग्रैकरसयुक्ताः ॥ - वही, 16/ 5-6

रुद्रट के काव्य {प्रबन्ध}- वर्गीकरण पर भामह का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। भामह ने चार आधारों पर काव्य का विभाजन किया है- सर्वप्रथम छन्द के अभाव तथा सद्भाव के आधार पर उन्होंने काव्य के गद्य तथा पद्य - ये दो भेद किए तथा भाषा को आधार मानकर काव्य के तीन भेद किये - संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश[1]। विषय के आधार पर उन्होंने काव्य के चार भेद किये - ख्यातवृत्त, कल्पित, कलाश्रित तथा शास्त्राश्रित[2]। इन्होंने स्वरूप- विधान की दृष्टि से काव्य के सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ कथा, आख्यायिका तथा अनिबद्ध - पाँच भेद किये हैं[3]।

उपर्युक्त आधारों में से केवल विषय {कथावस्तु} के आधार पर रुद्रट ने प्रबन्ध- भेद किए हैं जिनका विवेचन पहले किया जा चुका है। विषय {कथावस्तु} के आधार पर भी ख्यातवृत्त तथा कल्पित {अनुत्पाद्य तथा उत्पाद्य} को ही उन्होंने स्वीकार किया है। चूँकि आचार्य ने काव्य कहलाने वाले प्रबन्धों का भेद प्रस्तुत किया है इसलिए उन्होंने कलाश्रित और शास्त्राश्रित नामक प्रबन्ध- भेदों का यहाँ पर परिगणन नहीं किया।

1- .... गद्यं पद्यञ्च तद्द्विधा ।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ।।
- का0 1/16

2- वृत्तदेवादिचरितशंसि चोत्पाद्यवस्तु च ।
कलाशास्त्राश्रयञ्चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः ।।
- वही, 1/17

3- सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे ।
अनिबद्धञ्च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते ।।
- वही, 1/18

वास्तव में भामह द्वारा भाषा के आधार पर किया गया विभाजन सदोष अतश्च अग्राह्य है। भाषाएँ भी अनन्त हैं। भामह के अनुसार संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में रचित रचनाएँ ही यदि प्रबन्ध कोटि में आएंगी तो अन्य भाषाओं में निबद्ध रचनाओं का क्या होगा? इसके अतिरिक्त यह भी अवधेय है कि जिन प्रबन्धों में जैसे कि अभिनेयार्थ में एक से अधिक भाषाओं का मिश्रण हो तो वह किस भाषा का प्रबन्ध कहा जायेगा? सम्भवतः इसी कमी को लक्ष्य करके दण्डी भाषा के आधार पर विभाजन करते हुए प्रबन्धों का इनके अतिरिक्त "मिश्र" नामक चौथा भेद भी प्रतिपादित करते हैं।[1] तथापि संसार की अन्यान्य भाषाओं का ग्रहण तो इसके अन्तर्गत् नहीं होता इसलिए भाषा के आधार पर विभाजन ग्राह्य नहीं है। इसी प्रकार भामह द्वारा छन्द के आधार पर किया गया विभाजन भी सदोष है क्योंकि अभिनेयार्थ और चम्पू किसकी परिधि में रखे जायेंगे यह प्रश्न उठता है। इसी कमी को दूर करने के लिए दण्डी ने इसमें भी सुधार करते हुए "मिश्र" नामक तीसरे भेद की कल्पना की।[2] स्वरूप के आधार पर किया गया जो विभाजन है उसके सर्गबन्ध कथा तथा आख्यायिका नामक भेद तो रुद्रटकृत प्रभेदों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं किन्तु अनिबद्ध और अभिनेयार्थ को वे काव्य के उक्त भेदों से सर्वथा भिन्न मानते हैं।[3] यद्यपि उनकी

1- तदेतद् वाङ्‌मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा ।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम् ।। - का०द० 1/32

2- गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत्त्रिधैव व्यवस्थितम् । - वही, 1/11पूर्वार्द्ध

3- अन्यदवर्णकमात्रं प्रशस्तिकुलकादि नाटकादन्यद् ।
काव्यं तद् बहुभाषं विचित्रमन्यत्र चाभिहितम्।।
- का० 16/36

यह मान्यता उचित नहीं है क्योंकि महाकाव्यों और अभिनेयार्थ में तत्वतः कोई भेद नहीं है, भेद है उपाय मात्र का, एक केवल श्रव्य है तो दूसरा श्रव्य और दृश्य दोनों। हाँ, अनिबद्ध मुक्तक होने के कारण प्रबन्ध की कोटि में अवश्य नहीं आता।

इस प्रकार रूद्रटकृत विभाजन अधिक व्यापक है। संसार की किसी भी भाषा की रचना हो, गद्य अथवा पद्य, किसी भी रूप में निबद्ध हो, विशाल अथवा लघु हो-उनके द्वारा निर्मित किसी न किसी वर्ग में आ जायेगा।

रूद्रट ने प्रमुख रूप से उत्पाद्य तथा अनुत्पाद्य तथा उनके भी महत् और लघु इन दो भेदों का विवेचन किया है। उन्होंने उत्पाद्य महाकाव्य, महाकथा, आख्यायिका, लघुकथा तथा लघुकाव्य [खण्डकाव्य] के इतिवृत्त के क्रमिक विकास का विस्तृत वर्णन किया है। महाकाव्य तथा महाकथा के नाम से ही स्पष्ट है कि ये महत् के प्रभेद हैं। यद्यपि आख्यायिका के पूर्व वे यह नहीं स्पष्ट करते हैं कि यह महत् का भेद है, या लघु का तथापि उच्छ्वासों में विभक्त अतएव बृहत्काय होने के कारण निश्चय ही यह"महत्" का ही प्रभेद है।

रूद्रट ने सर्वप्रथम उत्पाद्य महाकाव्य का विवेचन किया है; वे इसका लक्षण न बताकर सीधे - सीधे इतिवृत्त के विकास का ही उल्लेख करते हैं। अतः महाकाव्य के स्वरूप के विषय में भामह तथा दण्डी आदि पूर्ववर्तियों की क्या मान्यता थी, पहले उसे जान लेना अनुचित न होगा।

महाकाव्य का लक्षण सर्वप्रथम भामह ने निर्धारित किया। उनके अनुसार महान चरित्रों से सम्बद्ध, आकार में बड़ा, ग्राम्य शब्दों से रहित, अर्थ- सौष्ठव से सम्पन्न, अलङ्कारयुक्त, सत् पुरूष पर आश्रित, मंत्रणा,

दूत सम्प्रेषण, अभियान, युद्ध नायक के अभ्युदय तथा पन्चसन्धियों से समन्वित, लौकिक आचार तथा समस्त रसों से युक्त सर्गबद्ध रचना को महाकाव्य कहते हैं।[1] दण्डी भामह का अनुसरण करते हुए भी महाकाव्य के स्थूल बाह्य लक्षणों पर अधिक जोर देते हैं। उनके अनुसार महाकाव्य वह है, जिसका कथानक ऐतिहासिक कथा अथवा अन्य किसी काल्पनिक परन्तु उत्कृष्ट कथा पर आश्रित हो, जिसमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष- इस चतुर्वर्ग का उपन्यास हो, जिसका नायक चतुर तथा उदात्त हो, जो विभिन्न वर्णनों से अलङ्कृत हो, विस्तृत तथा रसों एवं भावों से समन्वित हो, साधारण विस्तार वाले श्रुति सुखद छन्दों में निबद्ध, परस्पर सम्बद्ध एवं भिन्न घटनाओं से युक्त सर्गों में विभक्त हो, लोकरञ्जक हो तथा श्रेष्ठ अलङ्कारों से अलङ्कृत हो[2]। उन्होंने महाकाव्य के इतिवृत्त के विकास के दो क्रम बताए हैं - प्रथम - जिसमें सर्वप्रथम नायक के गुणों को प्रस्तुत करके उनके द्वारा उसके शत्रुओं के विनाश का वर्णन किया जाए। द्वितीय, जिसमें शत्रु के वंश, पराक्रम, शास्त्रज्ञान आदि गुणों के वर्णन के पश्चात् नायक द्वारा उसका पराभव दिखाकर नायक की उत्कृष्टता को प्रतिपादित किया जाय[3]।

रुद्रट इन दोनों विधियों को मिलाकर इतिवृत्त के विकास का क्रम वर्णित करते हैं। उनके अनुसार उत्पाद्य महाकाव्य में पहले सन्नगरी वर्णन तदनन्तर नायक के कुल का वर्णन करना चाहिए, उसके पश्चात् धन तथा शक्ति आदि से सम्पन्न सभी गुणों से युक्त, समस्त प्रजा से स्नेह करने वाले विजयेच्छुक नायक का उपन्यास करना चाहिए। प्रसङ्गगत ऋतुओं का वर्णन भी करना

1- का० 1/19- 21
2- का० द० 1/15-19
3- वही, 1/21-22

चाहिए। तदन्तर कुलीनों में अग्रगण्य तथा गुणवान रूप में प्रतिनायक को चित्रित करना चाहिए। राजसभा में शत्रु के कार्य को सुन कर नायक के क्षोभ का वर्णन करना चाहिए। सचिवों के साथ मन्त्रणा करके शत्रु पर नायक द्वारा आक्रमण करने या दूत- सम्प्रेषण का वर्णन करना चाहिए।युद्ध के प्रस्थान में विभिन्न प्रासङ्गिक स्थलों तथा अन्धकार, चन्द्रोदय आदि का वर्णन करें। अन्त में, परस्पर युद्ध करते हुए दोनों (नायक तथा प्रतिनायक) में से परिणाम में नायक की कठिन किन्तु सुन्दर विजय का चित्रण करना चाहिए।[1] इस प्रकार रुद्रट ने अत्यधिक विस्तार से महाकाव्य के कथानक सम्बन्धी विकास के क्रम का वर्णन किया है। महाकाव्य के प्रसंग में ही रुद्रट स्पष्ट रूप से कहते हैं कि इसमें सन्धियाँ तथा अवान्तर प्रकरणों की सम्बद्ध रचना करनी चाहिए।[2] इससे स्पष्ट है कि भामहादि ने महाकाव्य का जो लक्षण निर्धारित किया था उससे रुद्रट पूर्णरूपेण परिचित थे।

उत्पाद्य महाकाव्य के पश्चात् "महाकथा" का विवेचन रुद्रट प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार महाकथा में देवताओं तथा गुरुओं को नमस्कार करके रचयिता के रूप में अपना और अपने वंश का संक्षिप्त वर्णन करना चाहिए। तदन्तर अनुप्रासयुक्त, लघु अक्षरों से युक्त गद्य से पुरवर्णनादि करके कथावस्तु का विस्तार करना चाहिए।[3] रुद्रट ने महाकथा में उपविभागों के उप-

---

1- का० 16/ 7- 18

2- सर्गाभिधानि चास्मिन्नवान्तरप्रकरणानि कुर्वीत ।
 संधीनपि संश्लिष्टांस्तेषामन्योन्यसम्बन्धात् ।।
 - वही, 16/19

3- श्लोकैर्महाकथायामिष्टान्देवान्गुरून्नमस्कृत्य ।
 संक्षेपेण निजं कुलमभिदध्यात्स्वं च कर्तृतया ।।
 सानुप्रासेन ततो भूयो लघ्वक्षरेण गद्येन ।
 रचयेत्कथाशरीरं पुरेव पुरवर्णकप्रभृतीन् ।।
 - वही, 16/20-21

न्यस्त करने की एक और विधि बताई है। तदनुसार प्रारम्भ में प्रपञ्चपूर्ण अन्य कथा का उपन्यास करके तदनन्तर शीघ्र ही प्राकरणिक कथा का वर्णन करना चाहिए। भामह[1] तथा दण्डी[2] के समान रुद्रट[3] भी संस्कृत के अतिरिक्त अन्य प्राकृतादि भाषाओं में भी कथा की रचना को स्वीकार करते हैं, साथ ही गाथादि छन्दों में वे कथा की रचना की जा सकती है, ऐसा वे मानते हैं[4]।

कथा के समान आख्यायिका के विषय में भी रुद्रट भामह[5] और दण्डी[6] के [illegible] हैं, क्योंकि वह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करते हैं कि आख्यायिका की रचना गद्य में होनी चाहिए तथा यह रचना उच्छ्वासों में विभक्त होनी चाहिए[7]। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य सूक्ष्म बातों को भी उन्होंने [illegible] किया है, यथा प्रस्तुत अर्थ को सूचित करने के लिए प्रारम्भ में श्लिष्ट

1- आदौ कथान्तरं वा तस्यां न्यस्येत्प्रपञ्चितं सम्यक् ।
   लघु तावत्संधानं प्रक्रान्तकथावताराय ।। - का० 16/22

2- संस्कृतासंस्कृता चेष्टा कथाऽपभ्रंशभाक्तथा ।।-का० 1/28 उत्तरार्द्ध

3- कथा हि सर्वभाषाभिः संस्कृतेन च बध्यते ।
   - का० द० 1/38 पूर्वार्द्ध

4- इति संस्कृतेन कुर्यात्कथामगद्येन चान्येन । - का० 1/23 उत्तरार्द्ध

5- गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाख्यायिका मता ।
   - का० 1/25 उत्तरार्द्ध

6- {क} गद्यमाख्यायिका कथा। इति तस्य प्रभेदौ द्वौ....।।
   - का० द० 1/23
   {ख} .... सोच्छ्वासत्वं च भेदकम् ।
   - वही, 1/26

7- {क} अथ तेन कथैव यथा रचनीयाख्यायिकापि गद्येन ।
   - 16/26 पूर्वार्द्ध
   {ख} कुर्यादिनोच्छ्वासान्सन्धिषु.................।
   - का० 16/27 पूर्वार्द्ध

आर्यायें रचनी चाहिए, संशय को प्रकट करने के अवसर पर वर्तमान अथवा परोक्षभूत अथवा भावी एवं प्रत्यक्ष अर्थ की निश्चितता के लिए संशय करने वाले के समक्ष अपने- अपने अवसर के अनुकूल किसी एक पात्र से अन्योक्ति, समासोक्ति तथा श्लेष में से एक अथवा दो का पाठ कराना चाहिए, उपर्युक्त स्थलों पर आर्या, अपरवक्त्र, पुष्पिताग्रा या कथावस्तु के अनुरूप मालिनी आदि छन्दों की रचना भी की जा सकती है। भावी घटनाओं की सूचना के प्रसङ्ग में भामह भी वक्त्र एवं अपरवक्त्र छन्दों का विधान करते हैं, किन्तु रुद्रट उपर्युक्त सभी स्थलों में इन दो छन्दों के अतिरिक्त अन्य छन्दों को भी स्वीकार करते हैं, अतः रुद्रट का यह प्रतिपादन भामह-कृत विधान से प्रेरित होता हुआ भी अधिक विस्तृत है।

रुद्रट के अनुसार आख्यायिका में महाकथा के समान ही देवताओं तथा गुरुओं को नमस्कार करके पूर्ववर्ती कवियों का परिचय देना चाहिए, तदनन्तर राजा में भक्ति अथवा दूसरे के गुणगान में व्यसन अथवा अन्य किसी प्रयोजन को सरल रूप में उस आख्यायिका का कारण बताना चाहिए, आख्यायिका में कवि को अपना तथा अपने वंश का परिचय गद्य में ही देना चाहिए[2]।

1- द्वे द्वे चार्ये श्लिष्टे सामान्यार्थे तदर्थाय ।।
संशयशंसावसरे भवतो भूतस्य वा परोक्षस्य ।
अर्थस्य भाविनस्तु प्रत्यक्षस्यापि निश्चितये ।।
शंसयितुं प्रत्यक्षं स्वावसरेणैव पाठयेत्कञ्चित् ।
अन्योक्ति समासोक्तिश्लेषाणामेकमुभयं वा ।।
तत्रच्छन्दः कुर्यादार्यापरवक्त्रपुष्पिताग्राणाम् ।
अन्यतमं वस्तुवशादथवान्यन्मालिनीप्रायम् ।।- का० 16/27-30

2- पूर्ववदेव नमस्कृतदेवगुरूर्नोत्सहेत्स्वस्थेष्वेषु ।
काव्यं कर्तुमिति कवीन्कथिदाख्यायिकायां तु ।।
तदनु नृपे वा भक्तिं परगुणसङ्कीर्तनेऽथवा व्यसनम् ।
अन्यद् वा तत्करणे कारणमाश्लिष्टमभिदध्यात् ।।
अथ तेन कथेव यथा रचनीयाख्यायिकापि गद्येन ।
निजवंशं स्वं चास्यामभिदध्यात्स्व ... स्वगद्येन ।।-का० 16/20-26

महत् के उपर्युक्त तीनों भेदों - काव्य, कथा तथा आख्यायिका में अन्तर्कथाओं का भी रुद्रट ने विधान किया है, प्रसङ्ग के अनुरूप होने पर कुछ विरुद्ध सी प्रतीत होती हुई अभिप्राययुक्त वस्तु तथा अन्तर्कथाओं का उपन्यास करना चाहिए। नायक के भी ऐसे राजविनाशादि का वर्णन करना चाहिए, जिसका परिणाम अभ्युदयकारी हो तथा मुनि के बहाने से मोक्ष का भी कथन होना चाहिए।[1]

महाकाव्य, महाकथा तथा आख्यायिका के विवेचन के पश्चात् रुद्रट लघुकाव्य [खण्डकाव्य] तथा खण्डकथा का विवेचन करते हैं। उनके अनुसार इन दोनों में ही नायक को सुखी तथा ब्राह्मण, सेवक, सार्थवाह आदि को विपत्तिग्रस्त चित्रित करना चाहिए तथा करुण, विप्रलम्भ अथवा प्रथमानुराग का चित्रण करना चाहिए, साथ ही साथ अन्त में नायक के उत्थान का वर्णन करना चाहिए।[2]

1- साभिप्रायं किञ्चिद्विरुद्धमिव वस्तु सत्प्रसङ्गेन ।
अन्तः कथाश्च कुर्यात्त्रिष्वप्येषु प्रबन्धेषु ॥
कुर्यादभ्युदयान्तं राज्यभ्रंशादि नायकस्यापि ।
अभिदध्यादेषु तथा मोक्षं च मुनिप्रसङ्गेन ॥
- का० 16/ 31-39

2- कुर्यात्क्षुद्रे काव्ये खण्डकथायां च नायकं सुखिनम् ।
आपद्गतं च भूयो द्विजसेवकसार्थवाहादिम् ॥
अत्र रसं करुणं वा कुर्यादथवा प्रवासशृङ्गारम् ।
प्रथमानुरागमथवा पुनरन्ते नायकाभ्युदयम् ॥
- वही, 16/ 33-34.

भामह तथा दण्डी ने खण्डकाव्य अथवा खण्डकथा की चर्चा नहीं की है। सर्वप्रथम रुद्रट ने ही महत् तथा लघु- इन दो प्रकारों में समस्त प्रबन्धों को विभक्त कर मौलिक ढंग से महत् प्रबन्ध {महाकाव्यादि} तथा लघु प्रबन्ध {खण्डकथा एवं खण्डकाव्य} पर विचार किया है।

दण्डी ने काव्य, कथा तथा आख्यायिका का विस्तृत विवेचन किया है, शेष मुक्तक, कुलक, संघात तथा कोषादि पद्य रचनाओं को महाकाव्य का अङ्ग बताकर तथा सभी गद्य रचनाओं को कथा तथा आख्यायिका में अन्तर्भुत मानकर उनका विवेचन नहीं किया है।[1] सम्भवतः दण्डी से प्रभावित होते हुए रुद्रट ने भी केवल काव्य, कथा तथा आख्यायिका का विवेचन किया है, शेष प्रशस्ति, कुलकादि का नामोल्लेख करके[2] उनके अस्तित्व को स्वीकार भर किया है, उनके विषय में कुछ कहा नहीं है।

आचार्य रुद्रट काव्य, कथा तथा आख्यायिका में किन- किन वस्तुओं का वर्णन नहीं करना चाहिए, उसे स्पष्ट करते हैं- मनुष्य द्वारा कुलपर्वत तथा सागरों के लङ्घन का तथा सात द्वीपों से युक्त पृथ्वी का अपनी ही शक्ति से भ्रमण करने का वर्णन नहीं करना चाहिए।[3] अन्य ग्रन्थों

1- मुक्तकं कुलकं कोषः संघात इति तादृशः ।
सर्गबन्धाङ्गरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः ।।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ।।
- का० द० 1/13 तथा 28 उत्तरार्द्ध

2- अन्यदनेकमार्गं प्रशस्तिकुलकादिनाटकादन्यत् ।
काव्यं तद्‌वानुभाव विचित्रमन्यत्र चाभिहितम् ।।
- का० 16/36

3- कुलशैला म्बुनिधीनां न ब्रूयाल्लङ्घनं मनुष्येण ।
आत्मीयथैव शक्त्या सप्तद्वीपावनिक्रमणम् ।।

में जो भरतादि के इस प्रकार के कार्यों का वर्णन प्राप्त होता है, उनमें देवताओं की सङ्गति के कारण ही इस प्रकार के सागर, कुपर्वतसङ्कानादि सम्भव हो सके हैं, ऐसा वर्णित किया जाता है।[1]

दरिद्रता, व्याधि, वृद्धावस्था, शीत तथा ऊष्ण से उत्पन्न दुःख तथा बीभत्सादि का भारतवर्ष में ही वर्णन करना चाहिए।[2] जिन स्थानों में यथा "इलावृत्त" इत्यादि में मणियों तथा स्वर्ण से खचित भूमि है, कल्याण सुलभ है, मानसिक तथा शारीरिक पीड़ाओं और जरा से रहित लोग लाखों वर्षों की आयु वाले होते हैं ऐसे स्थानों पर कैसे दरिद्रता आदि का वर्णन किया जा सकता है।[3] रुद्रट का तात्पर्य यह है कि जहाँ जिन स्थानों में ऊपर कहे गए सुख- ऐश्वर्य तथा आयु दोनों न हों वहीं दरिद्रता आदि का वर्णन करना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन में रुद्रट की यह मान्यता कि आख्यायिका तथा कथा का कथानक ऐतिहासिक घटना पर आधारित हो सकता है अथवा कवि- कल्पित भी हो सकता है- अमरकोष की मान्यता के विपरीत है

1- येऽपि तु लङ्घितवन्तो भरताद्याः कुलाचलाम्बुनिधीन् ।
तेषां सुरादिमुख्यैः सङ्गादासन्विमानानि ।। - वही, 16/38
शक्तिश्च न जात्वेषामसुरादिवदेऽधिका सुरादिभ्यः ।
आसीत्ते हि सहाया नीयन्ते स्मामरैः समिति ।। -वही, 16/39

2- दारिद्र्यव्याधिजराशीतोष्णाद्युद्भवानि दुःखानि ।
बीभत्सं च विदध्यादन्यत्र न भारताद्वर्षात् ।।- वही, 16/40

3- वर्षेष्वन्येषु यतो मणिकनकमयी मही चितं सुलभम् ।
विगताधिव्याधिजरादन्या लक्षायुषो लोकाः ।।- वही, 16/41

क्योंकि अमरकोष में आख्यायिका का लक्षण "आख्यायिकोपलब्धार्था" {1/6/5} अर्थात् जिसका विषय ज्ञात हो, ऐसा किया गया है। इसी प्रकार कथा का "प्रबन्ध कल्पना कथा" {1/6/6} अर्थात् जिसका विषय काल्पनिक हो या जिसमें सत्य अल्प ही हो, ऐसा किया गया है।

लक्ष्य ग्रन्थों में भी प्रायः कथा तथा आख्यायिका के कथानक का यही रूप प्राप्त होता है। रुद्रट की अनुत्पाद्य तथा उत्पाद्य कथानक की धारणा दण्डी के विचारों का अनुकरण कर सकती है, क्योंकि दण्डी ने कथा और आख्यायिका को ही माना है। इनके मतानुसार कथा अथवा आख्यायिका ये दो नामों वाली वस्तुतः एक ही प्रबन्ध- रचना है।[1] अतः दण्डी द्वारा मान्य इस प्रकार की प्रबन्ध- रचना में कथावस्तु ऐतिहासिक भी हो सकती है तथा काल्पनिक भी।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से यही तथ्य सामने आता है कि रुद्रट का प्रबन्ध- सम्बन्धी उत्पाद्य- अनुपाद्य तथा महत्-लघु विभाजन मौलिक एवं उनकी व्यापक दृष्टि का परिचायक अवश्य है किन्तु वैज्ञानिक नहीं।

1- तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता ।

- का० द० 1/2 पूर्वार्द्ध

शब्द, वाक्य, रीति तथा वृत्ति विवेचन -

काव्यलक्षण के प्रसङ्ग में रुद्रट ने "शब्द" का लक्षण, उसके प्रकार, उसकी वृत्तियाँ, रीतियाँ तथा उनसे निर्मित वाक्य एवं उसके भी प्रकार इत्यादि का निरूपण किया है। उनके अनुसार वर्णों का समुदाय रूप शब्द अर्थवान् होता है तथा इसके पाँच प्रकार होते हैं।[1] शब्द के प्रकार के विषय में विद्वानों में परस्पर वैमत्य रहा है, कुछ विद्वान् यथा- पतञ्जलि आदि शब्द को चार प्रकार का मानते हैं। भरत मुनि ने भी शब्दों के चार प्रकार माने हैं।[2] पाणिनि इत्यादि सुबन्त- तिङन्त के आधार पर इसे दो प्रकार का मानते हैं, इसीलिए रुद्रट ने कारिका में "अनेकविधम्" पद का प्रयोग करके तदनन्तर अपने मत को प्रस्तुत करने के लिए "पञ्चविधम्" पद को भी रखा है।[3] ये पाँच प्रकार के शब्द निम्न हैं - नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात तथा कर्मप्रवचनीय। "नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात- जिनका यह मत है, उन्होंने कर्मप्रवचनीय की गणना ही नहीं करायी"[4], ऐसा कहकर रुद्रट ने शब्दों के उक्त चार प्रकार मानने वाले मेधावि,रुद्रादि

1- .... शब्दस्तत्रार्थवाननेकविधः ।
वर्णानां समुदायः स च भिन्नः पञ्चधा भवति ।।
- का० 2/1

2- एभिर्व्यञ्जनवर्णैर्नामाख्यातोपसर्गनिपातैः ।
तद्धितसन्धिविभक्तिभिरधिष्ठितः शब्द इत्युक्तः ।।
- ना० शा० 14/24

3- तं चैवं रूपं शब्दं केचित् पाणिन्यादयः सुप्तिङन्तरूपतया द्विभेदमाहुः
केचिच्चतुर्धेति । तद्द्वयं निरसितुमाह- स च भिन्नः पञ्चधा भवतीति ।
- का० 2/1 टीका

4- नामाख्यातनिपाता उपसर्गाश्चेति सम्मतं येषाम् ।
तन्नोक्ता न भवेयुस्तैः कर्मप्रवचनीयास्तु ।।
- वही 2/2

का खण्डन किया है।[1] यास्काचार्य भी शब्द के उक्त चार प्रकार ही मानते हैं।[2] साम्प्रति नामादि की परिधि क्या है? इस पर विचार प्रसङ्गप्राप्त है-"वस्तु के वाचक पद को नाम कहते हैं, क्रियाप्रधान तिङन्त को आख्यात कहते हैं तथा इन दोनों {नाम- आख्यात} में समुच्चय आदि के द्योतक कारणों को निपात कहते हैं। क्रिया में वैशिष्ट लाने वाले शब्द उपसर्ग कहलाते हैं।[3]

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय तृतीयकाण्ड में शब्द को दो, चार अथवा पाँच प्रकार का मानने वालों के मत का उल्लेख किया है -

"द्विधा कैश्चिद् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा"।[4]

इस कारिका की व्याख्या में हेलाराज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कर्मप्रवचनीयों का उपसर्ग में ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण भाष्यकार सम्भवतः यास्क अथवा पतञ्जलि ने पदों के चार प्रकार ही माने हैं।[5] इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रातिशाख्यों में भी शब्द की चतुर्विधता ही प्रतिपादित की गयी है।[6]

1- एत एव चत्वारः शब्दविधा इति येषां सम्यङ्मतं तत्र तेषु नामादिषु मध्ये तैर्मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयुः । - का० 2/2 टीका

2- तद् यानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति । - निरुक्तम्, प्रथम अध्याय, पृ0- 8

3- वस्तुवाचिपदं नाम। क्रियाप्रधानं तिङन्तमाख्यातम् । नामाख्यातयोः समुच्चयाद्यर्थप्रख्यातिनिमित्तं निपाताः। क्रियाविशेषप्रतिनिबन्धनमुपसर्गाः ।
- का० 2/2 नमिसाधुकृत टीका

4- वाक्यपदीय तृतीय खण्ड, जातिसमुद्देश - 1

5- निरुक्तम् प्रथम अध्याय, हिन्दी- व्याख्या

6- {क} नामाख्यातम् उपसर्गो निपाताश्चत्वार्याहुः पदजातानि शब्दाः ।
- ऋक्प्रातिशाख्य

{ख} "तच्चतुर्धा नामाख्यातोपसर्गनिपाताः ।"- वाजसनेय प्रातिशाख्य ।

{ग} "चतुर्णां पदजातानां नामाख्यातोपसर्गनिपातानाम् ।" -अथर्वप्रातिशाख्य

किन्तु रुद्रट कर्मप्रवचनीय को उपसर्ग में अन्तर्भूत न करके पृथक् ही मानते हैं, इन्हें पृथक् मानने के कई कारण टीकाकार नमिसाधु ने उद्धृत किए हैं, जो निम्न-लिखित हैं - उपसर्ग क्रिया के अर्थ में वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते हैं तथा "षत्व", "णत्व" इत्यादि कार्यों के निमित्त होते हैं जबकि कर्मप्रवचनीय द्विवचनादि के निमित्त होते हैं। उपसर्गों का प्रयोग धातु के पूर्व होना निश्चित होता है किन्तु कर्मप्रवचनीय का नहीं। अतः शब्दों का पञ्चविधत्व स्पष्ट है।[1] इन पाँचों में से रुद्रट ने "नाम" शब्द की दो वृत्तियाँ बतायी हैं-समस्त तथा असमस्त।[2] "वृत्ति" शब्द ऐसा है जो अनेक शास्त्रों में भिन्न- भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। व्याकरण-शास्त्र में एक अर्थ के भीतर दूसरे अर्थ का अभिधान करने वाली गूढ़ शब्दरचना को वृत्ति कहा जाता है,[3] तथा उसे कृत्, तद्धित, समासादि के भेद से पाँच प्रकार का माना जाता है। साहित्यशास्त्र में शब्द के उस व्यापार को वृत्ति कहते हैं,जिसके द्वारा अर्थ ज्ञात होता है, उस रूप में वृत्ति अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना के भेद से तीन प्रकार की होती है।[4] नाट्यशास्त्र में नायकादि के व्यापार को वृत्ति

1- उपसर्गैस्तु क्रियाविशेषार्थाभिव्यक्तिरेव क्रियते । तथा कार्यभेदोऽपि तेषां दृश्यते । यथा षत्वणत्वादिकार्यस्योपसर्गा एव निमित्तम् । द्विर्वचनादिकस्य तु कर्मप्रवचनीया एवेति । तथा प्रयोगोऽप्युपसर्गाणां नियत एव प्राग्धातोः, न तु कर्मप्रवचनीयानामिति कथमेषामुपसर्गेष्वेवान्तर्भावः ।.......... इति पञ्चधा शब्द इति स्थितम् । - का० 2/2 टीका

2- नाम्ना वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासाभेदेन । - वही, 2/3 पूर्वार्द्ध

3- परार्थाभिधानं वृत्तिः । - सि० कौ०

4- सा च वृत्तिस्त्रिधा शक्तिर्लक्षणा व्यञ्जना च । - परमलघुमञ्जूषा ।

कहा जाता है, जो कैशिकी, आरभटी, सात्त्वती तथा भारती के भेद से चार प्रकार की होती है।[1] काव्यशास्त्र में "अनुप्रास" अलंकार के एक भेद को वृत्त्यनुप्रास कहते हैं। यहाँ वर्णों की संघटना के अर्थ में "वृत्ति" शब्द का प्रयोग किया गया है तथा इसी वर्ण संघटना के आधार पर यह तीन अथवा पाँच प्रकार की मानी जाती है, इनका विवेचन अनुप्रास के प्रसङ्ग में किया जायेगा।

रुद्रटसम्मत पूर्वोक्त "नाम" शब्दों की समस्त तथा असमस्त- ये दोनों वृत्तियाँ उपर्युक्त वृत्तियों से सर्वथा भिन्न हैं। जैसा उनके नाम से ही स्पष्ट है कि समास-युक्त पदसङ्घटना के प्राचुर्य वाली वृत्ति को समस्त वृत्ति तथा समासरहित पद-सङ्घटना वाली वृत्ति को असमस्त या असमासा वृत्ति कहते हैं। वृत्ति को इस नवीन रूप में सर्वप्रथम रुद्रट ने प्रस्तुत किया है। इन वृत्तियों को उन्होंने रीतियों के आधार के रूप में प्रस्तुत करते हुए पाञ्चाली, लाटीया तथा गौडीया- इन तीन रीतियों को समस्तवृत्ति के अन्तर्गत रखा है तथा वैदर्भी को असमस्त वृत्ति में।[2]

रीति -

"रीति" शब्द का सामान्य अर्थ है - शैली, प्रणाली, मार्ग, ढङ्ग आदि। सामान्य रूप से किसी बात को कहने का ढङ्ग ही रीति है। काव्य में रीति, भङ्गि, विच्छित्ति आदि शब्द पर्याय हैं।[3] भोजराज ने काव्यपन्थ, मार्ग तथा रीति को पर्याय बताते हुए "रीति" शब्द को रीङ् गतौ अर्थात् गत्यर्थक रीङ् धातु से निष्पन्न माना है।[4] आचार्य रुद्रट के रीति सम्बन्धी विवेचन से पूर्व भामहादि की मान्यता को जान लेना उचित प्रतीत होता है।

1- तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा ।
सा च कैशिकी-सात्त्वती-आरभटी-भारती-भेदाच्चतुर्विधा ।
- द0 रू0 2/पृ0- 182.

2- रीतिर्भङ्गिर्विच्छित्तिरिति पर्यायाः । - का0 2/3 टीका

3- वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः ।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ।।
- स0 कं0 भ0 2/27

भामह ने वैदर्भ और गौडीय- इन दो मार्गों का उल्लेख किया है।[1] काव्य में वैदर्भ मार्ग को श्रेष्ठ तथा उसकी तुलना में गौडीय मार्ग को निम्न कहने का विरोध करते हुए[2] भामह अपना मत प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार दोनों मार्गों का पार्थक्य सम्भव नहीं है तथा ये दोनों मार्ग अपने- अपने गुणों के कारण श्रेष्ठ हैं।[3]

दण्डी के अनुसार काव्यमार्ग अनेक होते हैं, उनमें परस्पर सूक्ष्म अन्तर होता है, किन्तु वैदर्भ तथा गौडीय- ये दो मार्ग स्पष्ट अन्तर वाले होते हैं।[4] उन्होंने वैदर्भ मार्ग के श्लेष, प्रसादादि दश गुण बताए हैं। उनके अनुसार इन गुणों का विपर्यय प्राय: गौडीय मार्ग में देखा जाता है।[5] उनके इस मत से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुणों से युक्त होने के कारण वैदर्भमार्ग उनकी दृष्टि में उत्कृष्ट था तथा गौडीय मार्ग गुणों के विपर्यय के कारण उसकी अपेक्षा अपकृष्ट था। सम्भवत: भामह ने दण्डी जैसे आचार्यों के मत का ही खण्डन किया है। इस प्रकार दण्डी ने भी इन दो मार्गों का विवेचन तो किया किन्तु "काव्यमार्ग" का लक्षण नहीं बताया। अब तक आचार्यों ने इसे "मार्ग" ही कहा था। सर्वप्रथम वामन ने ही इसे रीति की संज्ञा दी तथा उसका स्वरूप स्पष्ट

1- का० 1/31- 35

2- वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे ।
तदेव च किल ज्याय: सदर्थमपि नापरम् ।।
- वही 1/31

3- {क} गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक् । -वही 1/32 पूर्वार्ध
{ख} अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम् । भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्।।
अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् । गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ।। - वही, 1/34- 35

4- अस्त्यनेको गिरां मार्ग: सूक्ष्मभेद: परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ।। - काव्यादर्श 1/40

5- श्लेष: प्रसाद: समता माधुर्यं सुकुमारता। अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज:कान्तिसमाधय:।।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणा:स्मृता।एषां विपर्यय: प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।।
- वही, 1/41-42

किया। उनके अनुसार विशिष्ट प्रकार की पदरचना ही रीति है तथा गुणों से युक्त होना ही पदरचना का वैशिष्ट्य है।[1] उन्होंने "रीति" को काव्यात्मा कहा और[2] एक नवीन सम्प्रदाय {रीति सम्प्रदाय} की स्थापना की ।

उन्होंने पूर्ववर्तियों द्वारा मान्य दो मार्गों में पाञ्चाली नामक एक और रीति को जोड़ दिया। उनके अनुसार रीतियाँ तीन प्रकार की होती हैं।[3] इनकी संज्ञाएं देश-विशेष के आधार पर हैं,[4] इसका यह अर्थ नहीं है कि इनकी रचना इन्हीं देशों में होती है, अपितु इस प्रकार की रचना का प्रारम्भ वहीं से हुआ और प्राय: उन देशों में उन्हीं प्रकार की रचनाओं की प्रधानता होगी,[5] इस प्रकार वामन ने रीतियों को भौगोलिक या देश- विदेश के बन्धन से मुक्त तो अवश्य किया किन्तु उन्होंने दण्डी के समान ही समग्र गुणों से युक्त होने के कारण वैदर्भी रीति को ग्राह्य तथा अन्य दो को अल्पगुणों के कारण अग्राह्य कहा है।[6] किसी अन्य विद्वान् के मत को,जो यह स्वीकार करते हैं कि "अन्य दो रीतियों का अभ्यास वैदर्भी के ज्ञान के लिए किया जाता है" उद्धृत करते हुए[7] और उसका खण्डन करते हुए वे यहाँ तक कह देते हैं कि अतत्त्व

1- विशिष्टा पदरचना रीतिः । विशेषो गुणात्मा ।
- का० सू० वृ० 1/2/7-8

2- रीतिरात्मा काव्यस्य । - वही, 1/2/6

3- सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति । - वही, 1/2/9.

4- विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या । - वही, 1/2/10.

5- विदर्भगौडपाञ्चालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या ।
न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम् ।। - वही, 1/2/10 वृत्तिभाग

6- तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात् ।
न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् ।। - वही, 1/2/14-15

7- तदारोहणार्थमितराभ्यास इत्येके । - वही, 1/2/16

का अभ्यास करने वाला तत्त्व को नहीं प्राप्त करता।[1] इस प्रकार उन्होंने यह पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया है कि केवल वैदर्भी ही सब प्रकार से उत्कृष्ट है तथा अन्य दो पूर्ण रूप से निम्न हैं। वैदर्भी तथा शेष दो रीतियों के लिए रेशम को रस्सी एवं एवं सन की रस्सी की उपमा देकर[2] वे अपने मत को पूर्णरूप से पुष्ट करते हैं। तीनों रीतियों में पार्थक्य स्थापित करते हुए उन्होंने वैदर्भी रीति को समस्त गुणों से युक्त, गौडीया को कान्ति तथा ओज से युक्त एवं पाञ्चाली को मधुर और सुकुमार कहा है।[3] इस प्रकार दण्डी तथा वामन दोनों ही रीतियों को गुणाश्रित मानते हैं।

रीति के इतिहास में रुद्रट का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने वामन की वैदर्भी गौडी एवं पाञ्चाली के अतिरिक्त एक नवीन रीति की उद्भावना की, जिसे उन्होंने लाटीया की संज्ञा दी। साथ ही जैसा पहले भी कहा जा चुका है, उन्होंने ही सर्वप्रथम रीतियों के विभाजन का आधार समास को बनाया। सम्भवत: उन्होंने वामन के "साऽपि समासाभावे शुद्ध वैदर्भी" इस मत से प्रभावित होते हुए ऐसा किया है। उनके अनुसार पाञ्चाली रीति में छोटे- छोटे समास होते हैं, गौडीया में दीर्घ समास होते हैं तथा लाटीया में न तो बहुत छोटे और न ही बहुत दीर्घ अर्थात् मध्यम समास होते हैं।[4] पाञ्चाली में दो- तीन पद समस्त होते हैं, लाटीया में पाँच

1- तद्व न, अतत्त्वशीलस्य तत्त्वानिष्पत्तेः । - वही, 1/2/17

2- न शणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यलाभात् ।
- वही, 1/2/18

3- समग्रगुणा वैदर्भी। ओजः कान्तिमती गौडीया ।
माधुर्य सौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली ।। - वही, 1/2/11-12-13

4- पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिता: ।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र ।। - का0 2/4

अथवा सात तथा गौडीया में यथाशक्ति समस्त पदों का प्रयोग करना चाहिए।[1] वैदर्भी को उन्होंने समासरहित बताया है।[2] शङ्का हो सकती है कि केवल "नाम" की ही समस्त एवं असमस्त वृत्तियाँ न होकर आख्यात की भी दो वृत्तियाँ हो सकती हैं, क्योंकि कहीं आख्यात उपसर्ग के साथ जोड़े जाते हैं? इसी शङ्का का समाधान करने के लिए आचार्य रुद्रट स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि जिन स्थलों पर अर्थ के लिए आख्यात उपसर्ग के साथ जोड़े जाते हैं, वहाँ पर समास नहीं होता।[3] वास्तव में ऐसे स्थलों पर समास नहीं होता अपितु अर्थ के लिए उपसर्ग के साथ आख्यात जोड़ दिए जाते हैं क्योंकि उपसर्ग तीन प्रकार का कार्य करते हैं- कहीं धातु के साथ जुड़कर धात्वर्थ को बाधित करते हैं यथा- प्रहरति, प्रतिष्ठते आदि, कहीं धातु के वैशिष्ट्य को द्योतित करते हैं यथा प्रपचति तथा कहीं धात्वर्थ का अनुसरण करते हैं तथा प्रहन्ति, अभिहन्ति आदि ।[4]

आचार्य रुद्रट ने दण्डी तथा वामन के समान रीतियों की ग्राह्यता तथा अग्राह्यता, उत्कृष्टता तथा निकृष्टता का प्रश्न नहीं उठाया है और न ही इन रीतियों से सम्बन्धित गुणों का उल्लेख किया है। इनके ग्रन्थ में रीति सम्बन्धी एक और उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इन्होंने रीतियों का रस के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है अर्थात् किस रस में किस रीति की रचना होनी चाहिए, इसका स्पष्ट निरूपण किया है, जिसका उल्लेख "रस-विवेचन" नामक अध्याय में किया जायेगा। चुका है।

1- द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत् ।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया ।।
- वही, 2/5

2- वही, 2/6 उत्तरार्द्ध

3- आख्यातान्युपसर्गैः संयुज्यन्ते कदाचिदर्थाय ।
- वही, 2/6 पूर्वार्द्ध

4- वही, टीका ।

रुद्रट के समकालिक आचार्य आनन्दवर्धन ने भी रीति का स्वरूप - निरूपण समास के आधार पर किया है। किन्तु वे समासरहित, मध्यमसमासयुक्त तथा दीर्घसमासयुक्त के आधार पर उसे तीन ही प्रकार को स्वीकार करते हैं।[1]

अग्निपुराणकार ने रुद्रट को चारों रीतियों को स्वीकार किया है।[2] उनके अनुसार पाञ्चाली छोटे- छोटे समास वाली, कोमल तथा अलङ्कृत भाषा वाली होती है तथा गौडीया लम्बे समास वाली होती है।[3] वे वैदर्भी रीति में अधिक अलङ्कृत भाषा का निषेध करते हैं किन्तु साथ ही उसका अलङ्कृत प्रयोगों से शून्य होना भी उन्हें अभीष्ट नहीं है। उनके अनुसार उसमें कोमल शब्दावली तथा समासों का आधिक्य नहीं होना चाहिए।[4] स्फुट सन्दर्भ वाली, अनावश्यक अलङ्करणों से रहित लाटीया में अत्यन्त स्फुट समास नहीं होने चाहिए।[5] इस प्रकार अग्निपुराण के उक्त विवेचन पर रुद्रट का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

1- असमासा, समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ।।
- ध्व0 3/5

2- वाग्विद्यासम्प्रतिज्ञाने रीतिः साऽपि चतुर्विधा ।
पाञ्चाली गौडदेशीया वैदर्भी लाटजा तथा ।।
- अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, 4/1

3- उपचारयुता मृद्वी पाञ्चाली ह्रस्वविग्रहा ।
नवस्थितसन्दर्भा गौडीया दीर्घविग्रहा ।। - वही, 4/2

4- उपचारैर्न बहुभिरुपचारैर्विवर्जिता ।
नातिकोमलसन्दर्भा वैदर्भी मुक्तविग्रहा ।। - वही, 4/3

5- लाटीया स्फुटसन्दर्भा नातिविस्फुटविग्रहा ।
परित्यक्ताऽभिभूयोऽपि उपचारैरुदाहृता ।। - वही, 4/4

राजशेखर "वचनविन्यासक्रम" को रीति कहते हैं तथा उसकी संख्या तीन मानते हैं।[1] उनके अनुसार काव्य-पुरुष द्वारा समासयुक्त, अनुप्रासयुक्त तथा योग-वृत्ति {अभिधा} की परम्परा से युक्त वचन का उच्चारण करने पर गौडी रीति,[2] अल्प समास तथा अनुप्रासयुक्त तथा लक्षणावृत्ति से युक्त वचन का उच्चारण होने पर पाञ्चाली[3] एवं समासरहित यथास्थान अनुप्रासयुक्त अभिधावृत्ति पूर्ण वचन का उच्चारण करने पर वैदर्भी रीति बनती है।[4] स्पष्ट है कि ये भी रुद्रट के समान ही गौडी में दीर्घ समास, पाञ्चाली में अल्प समास तथा वैदर्भी में समासरहित पद-विन्यास को स्वीकार करते हैं।

रीति के इतिहास में कुन्तक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने "रीति" के लिए "मार्ग" पद का प्रयोग किया है। इनका मार्ग- विवेचन अन्य आचार्यों से भिन्न प्रकार का है। वे सुकुमार, विचित्र तथा उभयात्मक मध्यम-इन तीन मार्गों को स्वीकार करते हैं।[5] सम्भवतः उन्होंने वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली को ही क्रमशः ये संज्ञाएँ दी हैं। उन्होंने देशभेद को रीतिभेदों का आधार नहीं कहा है क्योंकि देशभेद को स्वीकार करने पर देशों की संख्या असंख्य होने से रीतियों {मार्गों} की संख्या भी असंख्य हो जाएगी। शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास

1- वचनविन्यासक्रमो रीतिः .....रीतयस्तु तिस्रस्तास्तु पुरस्तात् ।
- का० मी०, पृ०-22-23

2- तथाविधाकल्पयापि तया यदऽवशंवदीकृतः समासवदनुप्रासवद्
योगवृत्ति परम्परागर्भं जगाद सा गौडीया रीतिः ।-वही, पृ०-20

3- तथाविधाकल्पयापि तया यदीवशंवदीकृत
ईषदसमासं ईषदनुप्रासमुपचारगर्भं च जगाद सा पाञ्चाली रीतिः ।
- वही, पृ०-21

4- यदत्यर्थं च स तया वशंवदीकृतः स्थानानुप्रासवदसमासं
योगवृत्ति गर्भं च जगाद सा वैदर्भी रीतिः ।। - वही, पृ०-22

5- सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ।।
- व० जी० 1/24

के आधार पर भी उन्होंने इसका खण्डन किया है। उनके अनुसार किसी देश-विशेष के सभी लोगों में शक्ति नहीं होती, यदि शक्ति की स्वाभाविकता स्वीकार कर ली जाए तो सभी के लिए काव्य रचना सम्भव हो जाएगी। यदि शक्ति को सभी के अन्दर समान रूप से स्वीकार कर लिया जाए तो भी व्युत्पत्ति इत्यादि प्रयत्नों से सम्पन्न होने वाली कारण सम्पत्ति भी निश्चित रूप से वहाँ पायी जाए, यह सर्वथा असम्भव है, अतः देशभेद के आधार पर रीति भेद उचित नहीं है। इसी प्रकार रीतियों के उत्तम, मध्यम तथा अधम रूप विभाजन का भी उन्होंने तर्कपूर्ण खण्डन किया है। वैदर्भी को उत्तम मानने से स्पष्ट ही है कि अन्य दो [मध्यम- अधम] से काव्य में तत्तद्गुण सुन्दरता सम्भव नहीं होगी, इस स्थिति में उन दोनों का उपदेश ही व्यर्थ हो जाएगा, क्योंकि वैदर्भी के समान आह्लादजनक न होने के कारण गौडी तथा पाञ्चाली के प्रति सहृदय आकृष्ट ही न होंगे। "वामनादि ने पाञ्चाली और गौडी का उपदेश परिहार्य रूप में किया था।" पूर्वपक्ष के रूप में यह तर्क उपस्थित करके वे उसका खण्डन इस प्रकार करते हैं- एक तो वामनादि को परिहार्य रूप में इनका उपदेश स्वीकार नहीं था। दूसरे - काव्यरचना उत्तम ही की जानी चाहिए। अतः रीतियों का उत्तम, मध्यम तथा अधम रूप में किया गया विभाजन उचित नहीं है। तात्पर्य यह है कि इन मार्गों का भौगोलिक महत्व नहीं है अपितु ये कवि के आन्तरिक स्वभाव की अभिव्यक्ति है। सुकुमार स्वभाव वाले कवियों में सुकुमार शक्ति स्फुरित होती है, उस शक्ति के द्वारा कवि सौकुमार्य से मनोहर व्युत्पत्ति को धारण करता है तथा उस शक्ति और व्युत्पत्ति के द्वारा सुकुमार मार्ग से अभ्यास में तत्पर होकर काव्य- रचना करता है। उसी प्रकार विचित्र मार्ग को भी समझना चाहिए। जिन कवियों के स्वभाव में सौकुमार्य तथा विचित्रता दोनों होते हैं, वे उभयात्मक मध्यम मार्ग से काव्य रचना करते हैं। आचार्य कुन्तक के इस तर्कपूर्ण खण्डन के पश्चात् प्रायः रीति के इस प्रकार के विभाजन का किसी आचार्य ने प्रयास नहीं किया है।

1- व0 जी0, पृ0- 97- 100.

भोजराज ने रूद्रट की लाटीया को स्वीकार करते हुए तथा स्वसम्मत आवन्तिका तथा मागधी का उल्लेख करते हुए छः प्रकार की रीतियों को स्वीकार किया है।[1] भोजराज ने प्रायः सभी प्रसङ्गों में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का समन्वय किया है। रीतियों के सन्दर्भ में भी उनकी यह विशेषता दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने दण्डी और वामन के समान वैदर्भी रीति को समस्त गुणों से युक्त तथा रूद्रट के समान समासरहित बताया है।[2] उनके अनुसार पाञ्चाली रीति में पाँच-छः पदों का समास होता है तथा वह मधुर एवं कोमल होती है।[3] अत्यधिक आडम्बर-बद्ध समास वाली ओज एवं कान्ति गुणों से युक्त रीति को उन्होंने भी गौडीया कहा है।[4] किन्तु लाटीया को उन्होंने समस्त रीतियों का मिश्रण कहा है।[5] स्व-निर्दिष्ट आवन्तिका का जो स्वरूप- निरूपण उन्होंने किया है[6] वह रूद्रट की लाटीया के समान ही है। रीति- सम्बन्धी इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह रीति को एक शब्दगत अलङ्कार मानते हैं।[7]

1- वैदर्भी साथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा ।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते ।।- स०कं०भ० 2/28

2- तत्रासमासा निःशेषश्लेषादिगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते।। - वही, 2/29

3- समस्तपञ्चषपदामोजःकान्तिविवर्जिताम् ।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः।। - वही, 2/30

4- समस्तात्युद्भटपदामोजः कान्तिगुणान्विताम् ।
गौडीयेति विजानन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः।।- वही, 2/31

5- समस्तरीतिव्यामिश्रा लाटीया रीतिरुच्यते । - वही, 2/33 पूर्वार्ध

6- अन्तराले तु पाञ्चालीवैदर्भ्योर्यावतिष्ठते ।
सावन्तिका समस्तैः स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः।।- वही, 2/32

7- वही, 2/3

परवर्ती आचार्यों में आचार्य विद्यानाथ तथा विश्वनाथ कविराज वामन के समान ही पद- संघटना को रीति कहते हैं।[1] आचार्य विद्यानाथ ने वैदर्भी, पान्चाली तथा गौडी - इन तीन ही रीतियों को स्वीकार किया है।[2] उनके अनुसार वैदर्भी रीतिमेंअतिदीर्घ समास नहीं होने चाहिए,[3] इस प्रकार छोटे- छोटे समासों को भी वैदर्भी रीति में स्वीकार करते हैं तथा पान्चाली को वैदर्भी और गौडी- दोनों के स्वरूप को धारण करने वाली उभयात्मिका रीति कहते हैं।[4]

विश्वनाथ कविराज तथा जयदेव रूद्रटसम्मत चारों रीतियों को स्वीकार करते हैं।[5] इन दोनों आचार्यों के रीतियों के स्वरूप- निरूपण पर आचार्य रूद्रट का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। जयदेव[6] ने उक्त विवेचन में रूद्रट का पूर्ण-रूपेण अनुसरण किया है। विश्वनाथ कविराज भी गौडी एवं पान्चाली को रूद्रट

1- {क} रीतिर्नाम गुणाश्लिष्ट पदसंघटना मता । - प्र0रू0, पृ0- 81
 {ख} पदसंघटना रीतिरड्.गसंस्थाविशेषवत् । - सा0द0, 9/1 पूर्वार्ध

2- सा त्रिधा- वैदर्भी गौडी पान्चाली चेति । - प्र0 रू0, पृ0-82

3- नातिदीर्घसमासा च वैदर्भी रीतिरिष्यते । - वही, पृ082, 27उत्तरार्ध

4- पान्चालीरीतिर्वैदर्भीगौडीरीत्युभयात्मिका ।। - वही, पृ0- 85

5- {क} सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ।।
 वैदर्भी चाथ गौडी च पान्चाली लाटिका तथा ।
 - सा0द0 9/1-2
 {ख} पान्चालिकी च लाटीया गौडीया च यथारसम् ।
 वैदर्भी च यथासंख्यं चतस्रो रीतयः स्मृताः ।।
 - चन्द्रालोक 6/22

6- आर्द्रमिश्रसमर्गं च यथेष्टरष्टमादिभिः ।
 समासः स्यात्पदैर्न स्यात्समासः सर्वथापि च ।।
 - वही, 6/21 तथा 22

[illegible] पदों के [illegible] किन्तु [illegible] तथा [illegible] पदों वाली [illegible] और वैदर्भी [illegible] गानते हैं[2] भावप्र[illegible] शारदा-तनय ने भी राजशेखर की भाँति [illegible] की रीति [illegible], पाञ्चाली, लाटीया तथा गौडीया इन चारों का उल्लेख किया है किन्तु [illegible] सौराष्ट्री एवं द्राविडी दो अन्य रीतियों का भी विवेचन किया है।[3]

आचार्य मम्मट ने रीतितत्व पर कोई विशेष प्रकाश नहीं [illegible] है, [illegible] ध्वनिवादियों की दृष्टि में वृत्ति और रीति वर्ण – संघटना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[4] इसीलिए [illegible] ने भी वृत्त्यनुप्रास के अन्तर्गत उपनागरिका, परुषा तथा कोमला वृत्तियों का विवेचन करते हुए वैदर्भी, गौडी [illegible] पाञ्चाली रीतियों को इनसे अभिन्न प्रतिपादित किया है।[5] इस प्रकार रीति का पृथक् [illegible] से निरूपण न करके उन्होंने वृत्त्यनुप्रास में ही उसका अन्तर्भाव कर दिया है।

1– [illegible] वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः ।
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता ।।
– सा० द० 9/4

2– [क] [illegible] वृत्तिस्त्वपवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ।
– वही, 9/2 उत्तरार्द्ध

[ख] लाटी तु रीतिर्वैदर्भी पाञ्चाल्योरन्तर स्थिता ।
– वही, 9/5 पूर्वार्द्ध

3– रीतिर्वचनविन्यासक्रमः सापि चतुर्विधा ।।
तत्र वैदर्भपाञ्चाललाटगौडविभागतः ।
सौराष्ट्री, द्राविडी चेति रीतिद्वयमुदाहृतम् ।।
– भावप्रकाशन, पृ०– ।।

4– वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्त वृत्त्योऽपि
या: कैश्चिदुपनागरिकाद्या: प्रकाशिता: ता अपि गता श्रवणगोचरम् ।
रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतय: । – ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, पृ०– 27.

5– एतास्तिस्रो वृत्तय: वामनादीनां मते वैदर्भी– गौडी– पाञ्चालाख्या
रीतयो मता: । – का० प्र० 9/81 पूर्वार्द्ध की वृत्ति

रीति- सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रीतियों की संख्या के विषय में आचार्यों में मतभेद रहा है। वामनादि कुछ ने इनकी संख्या तीन बतायी है तो रुद्रटादि ने चार । कुछ भी हो रीति के इतिहास में रुद्रट का प्रमुख स्थान है। वह ही पहले आचार्य थे जिन्होंने रीतियों को भौगोलिक बन्धनों से मुक्त करके सीधे- सीधे काव्य की परम्परा के साथ संयुक्त किया है और इन्हीं से प्रभावित होकर सम्भवतः वक्रोक्तिजीवितकार ने रीतिसम्बन्धी सर्वथा नवीन मन्तव्य प्रस्तुत किया । काव्य में लाटीया रीति की उद्भावना रुद्रट की अपनी है। उन्होंने ही सर्वप्रथम समास के आधार पर रीतियों का विभाजन किया। उन्होंने रसों के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित किया, तथा रसौचित्य के अनुसार उनके संयोजन की व्यवस्था की अर्थात् शृङ्गारादि कोमल रसों में उन्होंने वैदर्भी तथा पाञ्चाली रीति की रचना का एवं रौद्रादि दीप्त रसों में लाटीया एवं गौडीया रीति की रचना का विधान प्रस्तुत किया, जिसका उल्लेख "रस-विवेचन" नामक अध्याय में किया जायेगा। चुका है। रुद्रट- सम्मत उपर्युक्त सभी नवीन तथ्यों को प्रायः अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया है। रुद्रट पूर्ववर्तियों द्वारा किए गए रीतियों के उत्तम, मध्यम, अधम- इस विभाजन के प्रति मौन हैं - इससे तथा रसों के साथ रीतियों के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में सभी रीतियों का समान रूप से महत्व था।

वाक्य -

रीति- सम्बन्धी विवेचन के पश्चात् रुद्रट ने वाक्य का स्वरूप तथा उसके भेद बताए हैं। उनके अनुसार पूर्वोक्त पाँच प्रकार के शब्दों में परस्पर अपेक्षित व्यापार वाले तथा एक वस्तु को सिद्ध करने में तत्पर शब्दों के समुदाय को वाक्य कहते हैं। "समुदाय" के लिए रुद्रट ने "अनाकाङ्क्षः" विशेषण प्रयुक्त किया है,[1] जिसका तात्पर्य

1- वाक्यं तत्राभिमतं परस्परं सव्यपेक्षवृत्तीनाम् ।
समुदायः शब्दानामेकपरामनाकाङ्क्षः ॥
- का० 2/7

यह है कि यह शब्दों का समुदाय "अनाकाङ्क्ष" अर्थात् दूसरे की आकांक्षा नहीं रखता है। शब्द- समुदाय यदि साकाङ्क्ष होगा, तो वह वाक्य नहीं होगा, क्योंकि क्रियापद के अभाव में शब्द- समुदाय साकांक्ष होता है, उसे क्रियापद की आकांक्षा {अपेक्षा} रहती है।[1] तर्कशास्त्र में आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधियुक्त पदों के समूह को वाक्य कहा गया है,[2] इस दृष्टि से "पद का साकांक्ष होना" यह विशेषता तो रुद्रट ने "परस्पर सव्यपेक्षवृत्तीनाम्" से कह दी है, शेष योग्यता तथा सन्निधि- ये विशेषतायें रुद्रटकृत इस लक्षण में नहीं हैं। किन्तु पदों का "एकपराणाम्" तथा वाक्य का अनाकाङ्क्ष अर्थात् क्रियापद से युक्त होना- इन सब विशेषताओं {योग्यता- सन्निधि} को अपने में समेटे हुए है। रुद्रट के अनुसार यह वाक्य गद्य तथा पद्य की दृष्टि से दो प्रकार का तथा भाषा की दृष्टि से छः प्रकार का होता है।[3] ये छः भाषायें निम्न हैं - प्राकृत, संस्कृत, मागध, पिशाच, शूरसेनी तथा अपभ्रंश-[4] जो देशभेद से अनेक रूप वाली होती हैं। रुद्रट का भाषा की दृष्टि से यह विभाजन उचित नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के नियम से इन छः के अतिरिक्त अन्य भाषायें वाक्यरहित सिद्ध हो जायेंगी और वाक्य के अभाव में उनका कोई अस्तित्व ही न रह जायगा ।

1- तथा अनाकांक्षः । साकाङ्क्षत्वेन भवति यस्मादाख्यातं
   विना शब्दसमुदायः साकाङ्क्षो भवति तन्मेवात इत्यर्थः ।।
   - का0 2/7 टीका

2- वाक्यं स्याकांक्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः ।
   - तर्कभाषा, पृ0- 122

3- वाक्यं भवति द्वेधा गद्यं छन्दोगतं च भूयोऽपि ।
   भाषाभेदनिमित्तः षोढा भेदोऽस्य सम्भवति।।
   - वही, 2/11

4- प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शूरसेनी च ।
   षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ।।
   - वही, 2/12

इस पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि विभिन्न काव्यशास्त्रीय विषयों के साथ-साथ शब्द तथा वाक्यादि अन्य विषयों का विवेचन भी रुद्रट ने प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ की विषयगत यह विविधता अन्य ग्रन्थों में अल्प ही दिखायी पड़ती है।

==========

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय

शब्दालङ्कार विवेचन -

"अलङ्कार" शब्द को पढ़ते ही अनुप्रास, उपमा, रूपकादि काव्यसौन्दर्य के साधनभूत तत्त्वविशेष मस्तिष्क में स्वतः उपस्थित हो जाते हैं, क्योंकि आधुनिक काव्यशास्त्र में इन्हीं के लिए अलङ्कार शब्द का प्रयोग किया जाता है। क्या प्रारम्भिक काव्यशास्त्रियों ने भी "अलङ्कार" शब्द के इसी सीमित अर्थ को ग्रहण किया था? नहीं, उन्हें इसका व्यापक अर्थ अभीष्ट था। उसी को ध्यान में रखते हुए उन्होंने काव्य- तत्त्वों की विवेचना की। कुछ आचार्यों ने तो उसी व्यापक अर्थ के परिप्रेक्ष्य में ही अपने ग्रन्थ को भी "काव्यालङ्कार" की संज्ञा दी।[1] इन आचार्यों को "अलङ्कार" शब्द का व्यापक अर्थ किस रूप में अभीष्ट था, इस पर विचार करना यहाँ पर आवश्यक प्रतीत होता है। भामह ने अलङ्कार शब्द का कोई अर्थ नहीं दिया है। दण्डी काव्य के शोभाकारक धर्मों को अलङ्कार कहते हैं तथा नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्ति, वृत्त्यङ्ग तथा लक्षणादि को भी "अलङ्कार" शब्द से अभिहित करके[2] "अलङ्कार" शब्द का व्यापक अर्थ करते हैं। वामन ने "अलङ्कार" शब्द के व्यापक तथा सीमित दोनों अर्थ दिए हैं। उनके अनुसार काव्य की ग्राह्यता अलङ्कार से होती है।[3] इस

1- काव्यालङ्कार [भामह], काव्यालङ्कार- सार- संग्रह [उद्भट]
   काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति [वामन] काव्यालङ्कार [रुद्रट]

2- [क] काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते । - काव्यादर्श 2/1
   [ख] यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।
   व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः ॥
   - वही, 2/367

3- काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् । - का० सू० वृ० 1/1/1

अलङ्•कार का अर्थ उन्होंने किया है- "सौन्दर्य- "सौन्दर्यमलङ्•कार:" अर्थात् सौन्दर्य {अलङ्•कृति} ही अलङ्•कार है और यही अलङ्•कार शब्द का व्यापक अर्थ है। इसी सूत्र की व्याख्या में वे कहते हैं कि उपमादि इस सौन्दर्य के साधन-भूत होते हैं, अतः करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करके सिद्ध यह "अलङ्•कार" शब्द इन अनुप्रासादि के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[1] यही "अलङ्•कार" का सीमित अर्थ है। काव्य-सौन्दर्य दोषों के त्याग तथा गुणों एवं अलङ्•कारों के उपादान से सम्पा-दन योग्य होता है।[2] इस प्रकार वामन की दृष्टि में गुण तथा अलङ्•कार दोनों ही काव्य-सौन्दर्य के साधन हैं किन्तु इन दोनों में भेद मानते हुए वे ओज, प्रसा-दादि गुणों को काव्य-शोभा को उत्पन्न करने वाला {कर्ता} मानते हैं तथा अलङ्•कार उपमादि को उस शोभा के अतिशय का हेतु कहते हैं।[3] अतः उनकी दृष्टि में गुणों का काव्य शोभा से नित्य सम्बन्ध है तथा अनुप्रास आदि से अनित्य सम्ब-न्ध है।[4]

इस प्रकार दण्डी तथा वामन दोनों ही अलङ्•कार के विषय में व्यापक दृष्टि अपनाते हैं, किन्तु इस इतने साम्य के बावजूद दोनों की धारणा में अन्तर यह है कि जहाँ दण्डी अलङ्•कारों को काव्य का शोभाकारक धर्म मानते हैं {काव्यशोभा-

---

1- करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्•कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते ।
- का0 सू0 वृ0 1/1/2 की वृत्ति

2- स दोषगुणालङ्•कारहानादानाभ्याम् ।
- वही, 1/1/3

3- काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्•काराः ।।
- वही, 3/1/1-2

4- पूर्वे नित्याः । पूर्वे गुणा नित्याः तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः ।
- वही, 3/1/3 की वृत्ति

करात् धर्मान् अलङ्कार प्रचक्षते), वामन ओजस्, प्रसादादि गुणों को काव्य का शोभाकारक तत्त्व बताते हैं (काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः) साथ ही दोनों की व्यापकता सम्बन्धी दृष्टि भी भिन्न है- एक का दृष्टिकोण इसलिए व्यापक है कि वह अधिकाधिक तत्त्वों को अलङ्कार के अन्तर्गत समेटने का प्रयास करते हैं तो दूसरे की दृष्टि इस अर्थ में व्यापक है कि वह सौन्दर्यमात्र को अलङ्कार की संज्ञा देते हैं। आचार्य वामन का यह बहुत बड़ा योगदान है कि वह गुण और अलङ्कार के आपेक्षिक महत्त्व पर अपने विचार व्यक्त करते हैं।

भामह तथा रुद्रट ने "अलङ्कार" शब्द का लक्षण नहीं किया है। भामह ने अपने ग्रन्थ में यत्र तत्र "अलङ्कृति" शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अभिप्राय "काव्य-शोभा" ही प्रतीत होता है यथा- "सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ।" इन आचार्यों ने सम्भवतः इसलिए अलङ्कार शब्द का अर्थ करने की आवश्यकता नहीं समझी क्योंकि इनसे पहले तथा इनके समय में "अलङ्कार" शब्द "काव्य-शोभा" अथवा "काव्यशोभाकारक धर्म"- इस व्यापक अर्थ में प्रसिद्ध था, जैसाकि डॉ० जी० टी० देशपाण्डे के इस कथन से स्पष्ट है- "काव्यालङ्कार, पाठ्यालङ्कार, नेपथ्यालङ्कार, नाट्यालङ्कार, वर्णालङ्कार तथा प्रयोगालङ्कार-इस प्रकार अलङ्कारों के छः भेद नाट्यशास्त्र में बताए गए हैं। इन सभी संज्ञाओं में "अलङ्कार" शब्द का अर्थ सौन्दर्य अथवा शोभाकारकधर्म ही किया गया है। यह तो सर्वमान्य है कि नाट्यशास्त्र ही अलङ्कारशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र का मूलस्रोत है। प्रारम्भिक काव्यशास्त्रियों ने इसी नाट्यशास्त्र में से "काव्य" तत्त्व को लेकर तत्सम्बन्धी विषयों की विवेचना करते

1- भारतीय साहित्य- शास्त्र का इतिहास, पृ0- 3

हुए "अलङ्कार- शास्त्र" नामक एक स्वतन्त्र शास्त्र- विधा की नींव डाली। स्पष्ट है भामहादि आचार्यों ने "काव्यालङ्कार" शब्द वहीं {नाट्यशास्त्र} से ग्रहण किया तथा अलङ्कार शब्द का "सौन्दर्य" अथवा "शोभाकर धर्म" यही अर्थ स्वीकार करते हुए काव्यशोभा सम्बन्धी तत्वों का विवेचन किया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भामह, दण्डी तथा वामनादि आचार्यों की दृष्टि में रस, रीति, गुण आदि सभी का अन्तर्भाव "अलङ्कार" शब्द में होता है, क्योंकि ये सभी तत्व इनकी दृष्टि में काव्य के शोभाकारक तत्व हैं। इसीलिए इन आचार्यों ने {दण्डी के अतिरिक्त} अपने ग्रन्थ का नाम "काव्यालङ्कार" रखा और इसीलिए इनके ग्रन्थों को "अलङ्कार- ग्रन्थ", इन्हें "आलङ्कारिक" तथा इनकी साहित्य की विधा को "अलङ्कार- शास्त्र" की संज्ञा दी गयी है। जैसाकि भामहादि के ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्हें अलङ्कार शब्द अनुप्रास, उपमादि के अर्थ में भी अभीष्ट था। परवर्ती साहित्यशास्त्र में यह शब्द इसी सीमित अर्थ में रूढ़ हो गया है।

सम्प्रति अनुप्रास, उपमादि अलङ्कारों का विवेचन प्रसङ्ग- प्राप्त हो जाता है। आचार्य भरत से पण्डितराज जगन्नाथ पर्यन्त अधिकांश आचार्यों ने इन अलङ्कारों का निरूपण किया है। समस्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट है कि इनकी संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि भी हुई है। सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने यमक, उपमा, रूपक तथा दीपक - इन चार का[1] विवेचन किया है किन्तु इन्होंने इनके शब्दगत अथवा अर्थगत होने की चर्चा नहीं की है। इनके पश्चात् भामह ने अड़तीस अलङ्कारों का विवेचन किया है। निश्चय ही

1- उपमा रूपकञ्चैव दीपकं यमकं तथा ।
काव्यस्यैते ह्यलङ्काराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।।
- ना० शा० 17/43

इनके समय तक अलङ्कारों के शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार - ये दो भेद हो चुके थे क्योंकि इन्होंने[1] शब्दालङ्कारवादियों तथा अर्थालङ्कारवादियों के मत प्रस्तुत किए हैं। जैसाकि उनके कथन से स्पष्ट है, वे शब्दगत तथा अर्थगत-दोनों ही प्रकार के अलङ्कार- भेदों को स्वीकार करते हैं।[2] उन्होंने अनुप्रास तथा यमक इन दो शब्दालङ्कारों तथा शेष छत्तीस अर्थालङ्कारों का विवेचन प्रस्तुत किया है।

दण्डी ने लगभग चालीस अर्थालङ्कारों तथा यमक एवं चित्र- इन दो शब्दालङ्कारों का विवेचन किया है। वामन ने लगभग बत्तीस अलङ्कारों का विवेचन प्रस्तुत किया है। "यमक तथा अनुप्रास- इन दो शब्दालङ्कारों का वर्णन किया जा रहा है" तथा "अब अर्थालङ्कारों का विवेचन करते हैं" इनके उक्त कथनों[3] से स्पष्ट है कि इनको अलङ्कार के दोनों वर्ग अभीष्ट थे।

इन आचार्यों के पश्चात् उद्भट ने नवीन प्रकार से अलङ्कारों का विभाजन किया। उन्होंने शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार - इन दो वर्गों का उल्लेख न करके समस्त अलङ्कारों को छः वर्गों में विभाजित किया। इनमें से प्रथम वर्ग में आठ, द्वितीय में छः, तृतीय में तीन, चतुर्थ में पाँच, पञ्चम में ग्यारह तथा षष्ठम वर्ग में छः अलङ्कारों का विवेचन किया गया है। इस प्रकार इन्होंने कुल

1- काव्यालङ्कार 1/13, 14, 15

2- शब्दाभिधेयालङ्कारभेदाद् इष्टं द्वयं तु नः ।
- वही, 1/15 उत्तरार्ध

3- [क] तत्र शब्दालङ्कारौ द्वौ यमकानुप्रासौ क्रमेण दर्शयितुमाह ।
- 4/1

[ख] सम्प्रत्यर्थालङ्काराणां प्रस्तावः ।
- का० सू० वृ० 4/2

इकतालीस अलङ्कारों का विवेचन किया है। अलङ्कारों को इस प्रकार वर्गों में विभाजित करने का अपूर्व कार्य सर्वप्रथम उद्भट ने किया किन्तु इसके साथ ही इनका वर्गीकरण सदोष प्रतीत होता है क्योंकि किसी भी वर्ग में कोई ऐसा सामान्य तत्त्व नहीं है,जो उस वर्ग के समस्त अलङ्कारों में पाया जाता हो। तथापि इस वर्गीकरण ने परवर्ती आचार्यों के लिए मार्ग- प्रदर्शन का कार्य किया। सम्भवतः इसी वर्गीकरण को देखकर आचार्य रुद्रट ने वैज्ञानिक आधार पर अलङ्कारों का वर्गीकरण किया। उन्होंने अलङ्कारों के दो प्रमुख भेदों- शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार को स्वीकार किया है। जहाँ उद्भट ने समस्त अलङ्कारों को छः वर्गों में विभाजित किया है, वहीं रुद्रट शब्दालङ्कारों[1] के रूप में अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, श्लेष तथा चित्र - इन पाँच अलङ्कारों का पृथक् रूप में विवेचन करने के पश्चात् अन्य उपमादि अर्थालङ्कारों को वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष- इन चार वर्गों में वर्गीकृत करते हैं।[2] अलङ्कारों को इस प्रकार के व्यवस्थित रूप में वर्गीकृत करने का प्रथम प्रयास रुद्रट ने ही किया। इन चारों वर्गों तथा इनके अन्तर्गत आने वाले अलङ्कारों की समीक्षा आगे के अध्यायों में प्रस्तुत की जाएगी।

वक्रोक्ति -

शब्दालङ्कारों की गणना के प्रसङ्ग में रुद्रट ने सर्वप्रथम वक्रोक्ति का नाम-निर्देश किया है।[3] इन्होंने वक्रोक्ति का सामान्य लक्षण न करके श्लेष वक्रोक्ति तथा

1- वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम् ।
शब्दास्यालङ्काराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु ।।
- काव्यालङ्कार 2/13

2- अर्थस्यालङ्कारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः ।
- काव्यालङ्कार 7/9

3- वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम् ।
शब्दस्यालङ्कारा ....।।
- वही, 2/13.

काकु वक्रोक्ति- इन दो प्रभेदों के पृथक्- पृथक् लक्षण किए हैं। दोनों का स्वरूप भिन्न होने के कारण एक ही लक्षण से काम न चलता, इसीलिए भेदपूर्वक नाम लेना उचित ही है।[1]

रुद्रट के अनुसार वक्ता के द्वारा अन्य प्रकार से {भिन्न अभिप्राय से} कहे गए वचन की पदभङ्ग के सहारे उत्तरदाता के द्वारा जो अन्यथा व्याख्या की जाती है, वह श्लेष वक्रोक्ति अलङ्कार है।[2] मूल शब्दगत श्लेष अलङ्कार में भी पदों को भङ्ग करके प्रथम अर्थ से भिन्न अर्थ में व्याख्या की जाती है तथा इसमें {श्लेष वक्रोक्ति} में भी पदभङ्ग के द्वारा वक्ता के वचन से अन्यथा {भिन्न} व्याख्या की जाती है, अतः इसका श्लेष वक्रोक्ति नाम सार्थक है। इस अलङ्कार के उदाहरण- रूप में उद्धृत "किं गौरि मां प्रति रुषा"[3] इत्यादि छन्द में पार्वती वक्ता शिव के "किं गौरि मां प्रति रुषा" - इस कथन को "किं गौः इमां प्रति रुषा"- यह व्याख्या करती हुई कहती हैं- "ननु गौरहं किं, कुप्यामि कां प्रति।" इसी प्रकार "मयी त्यनुमानतोऽहं जानामि" इस वाक्य के "अनुमानतो" पद के "अन् उमा नतः" इस प्रकार के पदभङ्ग से उपर्युक्त वाक्य की अन्यथा व्याख्या करती है। अतः यह सभङ्ग श्लेष वक्रोक्ति का स्थल है।

1- वक्रोक्तिस्तु द्विविधा, श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च ।
तल्लक्षणयोश्च वैलक्षण्यान्नैकं लक्षणमस्तीति भेदेनाभिधानमुपपन्नम् ।।
- काव्यालङ्कार 2/14 की नमिसाधुकृत टीका

2- वक्त्रा तदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः ।
वचनं यत्पदभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः ।।
- वही, 2/14

3- किं गौरि मां प्रति रुषा ननु गौरहं किं
कुप्यामि कां प्रति मयी त्यनुमानतोऽहम् ।
जानाम्यतस्त्वमनुमानत एव सत्य-
मित्थं गिरो गिरिभुवः कुटिला जयन्ति।।
- वही, 2/15

रुद्रट के अनुसार काकु वक्रोक्ति उसे कहते हैं जहाँ स्पष्ट रूप से उच्चारण किए गए स्वर के वैशिष्ट्य के कारण दूसरे अर्थ की झटिति प्रतीति हो जाती है।[1] इस अलङ्कार के उदाहरण- रूप में रुद्रट द्वारा उद्धृत -

> शल्यमपि स्खलदन्तः सोढुं शक्येत हालहलदिग्धम् ।
> धीरैर्न पुनरकारणकुपितखलालीकदुर्वचनम् ॥

पद्य में धैर्यवान् पुरुष के लिए हृदय- विदारक शल्य सह्य होता है किन्तु अकारण क्रुद्ध हुए दुष्टों के वचन नहीं- यह कहा गया है, काकु के द्वारा इससे विपरीत अर्थ की प्रतीति होती है कि यदि शल्य सह्य है तो क्या दुष्टों के वचन सह्य नहीं हो सकते।

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि सर्वप्रथम रुद्रट ने ही वक्रोक्ति को एक शब्दालङ्कार विशेष के रूप में प्रस्तुत किया है। पूर्ववर्ती आचार्य भामह समग्र अलङ्कार- प्रपञ्च को वक्रोक्ति कहते हैं तथा वक्रोक्ति के अभाव में हेतु, सूक्ष्म तथा लेशादि की अलङ्कारता को स्वीकार नहीं करते हैं।[2] इस प्रकार उनके अनुसार वक्रोक्ति समस्त अलङ्कारों के मूल में विद्यमान है। स्पष्ट है कि भामह को "वक्रोक्ति" का व्यापक अर्थ अभीष्ट था, जो कि भङ्गी- भणिति या उक्तिवैचित्र्य रूप है। यह भङ्गीभणिति तो अलङ्कारशास्त्र में पायी जाती है। अतएव भामह की यह मान्यता सर्वथा ग्राह्य है।

1- विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषतो भवति ।
अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः ॥
- वही, 2/16

2- [क] सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥
[ख] हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥
- काव्यालङ्कार 2/85-86

वामन ने इसे अर्थालङ्कारों की श्रेणी में रखा है। इनकी वक्रोक्ति रुद्रट की वक्रोक्ति से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि उन्होंने सादृश्य के कारण होने वाली लक्षणा को वक्रोक्ति कहा है।[1] दण्डी तथा उद्भट ने इस अलङ्कार का विवेचन नहीं किया है।

परवर्ती आचार्यों में राजशेखर काकु को अभिप्राययुक्त पठन- धर्म अर्थात् पढ़ने अथवा बोलने का एक प्रकार कहते हैं तथा रुद्रट द्वारा प्रतिपादित उसके अलङ्कारत्व का खण्डन करते हैं।[2]

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को सर्वाधिक महत्व देते हुए उसे ही एकमात्र अलङ्कार मानते हुए वक्रोक्ति- सम्प्रदाय की स्थापना की, किन्तु उनकी वक्रोक्ति का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि वक्रोक्ति प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र कथन है।[3] सम्भवतः भामह से प्रभावित हो कर ही वक्रोक्तिजीवितकार ने केवल वक्रोक्ति को ही शब्द और अर्थ रूप अलङ्कार्य का एकमात्र अलङ्कार माना है।[4]

1- सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः । - का० सू० वृ० 4/3/8

2- "काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोऽयम्" इति रुद्रटः ।
"अभिप्रायवान् पाठधर्मः काकुः", स कथम् अलङ्कारी स्यात् । - काव्यमीमांसा, पृ०- 78.

3- वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा ।
- व० जी० 1/10 की वृत्ति

4- उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।।
- वही, 1/10

मम्मट तथा विश्वनाथ कविराज ने रुद्रट का पूर्णरूपेण अनुसरण किया है। इन्होंने भी वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार की कोटि में रखा है तथा उसके श्लेष वक्रोक्ति तथा काकु वक्रोक्ति - ये दो भेद किए हैं।[1] किन्तु रुद्रट ने जहाँ केवल पदभङ्ग द्वारा श्लेष वक्रोक्ति का होना स्वीकार किया है, वहाँ इन दोनों आचार्यों ने सभङ्गश्लेष तथा अभङ्ग श्लेष - दोनों के द्वारा होने वाली वक्रोक्ति के उदाहरण देकर[2] स्पष्ट किया है कि श्लेष- वक्रोक्ति पदभङ्ग द्वारा भी हो सकती है तथा पदभङ्ग के अभाव में भी।

इन आचार्यों के मत के विपरीत रुय्यक वक्रोक्ति को अर्थालङ्कारों की कोटि में रखते हैं किन्तु उसके श्लेष तथा काकु - यही दो भेद मानते हैं तथा श्लेष- वक्रोक्ति के अभङ्ग, सभङ्ग तथा उभयरूप से तीन भेद करते हैं।[3] भामह तथा कुन्तक से प्रभावित होते हुए वह भी स्वीकार करते हैं कि "वक्रोक्ति" शब्द अलङ्कारसामान्य का वाचक है किन्तु रुद्रट का अनुसरण करते हुए वह इसे एक विशिष्ट अलङ्कार के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं।[4] चन्द्रालोककार तथा आचार्य

1- [क] सम्प्रति शब्दालङ्कारानाह - यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥
- का० प्र० 9/78.
[ख] अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥
- सा० द० 10/9 उत्तरार्द्ध

2- [क] तत्र पदभङ्गश्लेषेण यथा। अभङ्गश्लेषेण यथा।
- का०प्र० 9/78 की वृत्ति
[ख] साहित्य दर्पण, पृ०- 674

3- अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काकुश्लेषाभ्यामन्यथा योजनं वक्रोक्तिः। सूत्र 78
तत्र श्लेषोऽभङ्गसभङ्गोभयरूपत्वेन त्रिविधः। अ०स०, पृ०- 656.

4- वक्रोक्तिशब्दोऽलङ्कारसामान्यवचनोऽप्यत्रालङ्कारविशेषे संज्ञितः।
- वही, पृ०- 657.

विद्यानाथ रूय्यक के समान ही वक्रोक्ति को अर्थगत अलङ्कार मानते हुए उसे काकु तथा श्लेष के भेद से दो प्रकार का स्वीकार करते हैं।[1] अप्पय दीक्षित ने वक्रोक्ति के तीन भेद माने हैं -

शब्दश्लेषमूला, अर्थश्लेषमूला तथा काकुमूला। अभङ्ग तथा सभङ्ग श्लेष-वक्रोक्ति को उन्होंने अविकृतश्लेषवक्रोक्ति तथा विकृतश्लेषवक्रोक्ति की संज्ञा देकर शब्दश्लेषवक्रोक्ति के उपभेद के रूप में स्वीकार किया है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वक्रोक्ति को अलङ्कारों के किस वर्ग के अन्तर्गत रखा जाए- इस विषय में आचार्यों के दो मत हैं, कुछ आचार्य इसे शब्दा-लङ्कारों के वर्ग में रखते हैं तथा कुछ अर्थालङ्कारों के वर्ग में। इतना तो सुस्पष्ट है कि सर्वप्रथम रुद्रट ने ही वक्रोक्ति को एक अलङ्कारविशेष कहा तथा उसे शब्दा-लङ्कार के रूप में स्वीकार किया। जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है, जिन आचार्यों ने वक्रोक्ति को एक अलङ्कारविशेष माना है,उन सभी को रुद्रट-कथित वक्रोक्ति का स्वरूप तथा उसके काकु तथा श्लेष- ये दो भेद मान्य थे। यह बात अलग है कि कुछ आचार्यों ने उसे शब्दगत अलङ्कार कहा तथा कुछ ने अर्थगत।

1- [क] वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यां वाच्यार्थान्तरकल्पनम् ।

- चन्द्रालोक 5/11। पूर्वार्द्ध

[ख] अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काक्वा श्लेषेण वा भवेत् ।
अन्यथा योजनं यत्र सा वक्रोक्तिर्निगद्यते ।।

- प्र० रु० य०, पृ- 493

2- वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यामपरार्थप्रकल्पनम् ।

इदमविकृतश्लेषवक्रोक्तेरुदाहरणम् । विकृतश्लेषवक्रोक्तेर्यथा । सर्वमिदं शब्दश्लेष-मूलाया वक्रोक्तेरुदाहरणम् । अर्थश्लेषमूलाया वक्रोक्तेर्यथा । काक्वा यथा ।

- कुवलयानन्द 159 वीं कारिका तथा वृत्ति

वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार कहना ही अधिक समीचीन है क्योंकि इसमें सौन्दर्य अथवा चमत्कार शब्दगत होता है। श्लेष- वक्रोक्ति में पदों के ही माध्यम से वक्ता के अभीष्ट अर्थ से भिन्न अर्थ श्रोता को भासित होता है तथा काकु में भी उच्चरित पदों की भिन्न कण्ठध्वनि के वैशिष्ट्य के कारण श्रोता को भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है। श्लेष- वक्रोक्ति के दोनों ही भेदों में जिन शब्दों की श्रोता अन्यथा व्याख्या करता है, उन शब्दों का पर्याय यदि रख दिया जाए तो वक्रोक्ति अलङ्कार ही समाप्त हो जाएगा। काकु तो शब्द का धर्म है ही। इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि वक्रोक्ति का अलङ्कारत्व शब्द के अन्वय- व्यतिरेक का अनुसरण करता है, अर्थ के अन्वय-व्यतिरेक का नहीं।[1] इसी-लिए वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार मानना ही सङ्गत है।

<u>अनुप्रास -</u>

वक्रोक्ति के पश्चात् आचार्य रुद्रट ने अनुप्रास का निरूपण किया है। उनके अनुसार स्वरों के विसदृश होने पर भी एक, दो अथवा तीन व्यञ्जनों के अन्तर पर अथवा निरन्तर व्यञ्जन की अनेक बार आवृत्ति के स्थल पर अनुप्रास अलङ्कार होता है।[2] निरन्तर व्यञ्जन की अनेक आवृत्ति भी अनुप्रास कहलाती है, इस नियम से एक व्यञ्जन वाले श्लोकों में भी अनुप्रास का होना सिद्ध होता है।[3]

1- उच्यते इह दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सः,
अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते । - का० प्र० 9/ पृ०- 45।

2- एकद्वित्रान्तरितं व्यञ्जनमविवक्षितस्वरं बहुशः ।
आवर्त्यते निरन्तरमथवा यदसावनुप्रासः ॥
- काव्यालङ्कार 2/18

3- एतेनैकव्यञ्जनश्लोकानामनुप्रासत्वोक्ता ।
- वही, नमिसाधु की टीका

रुद्रट से पहले भामह तथा दण्डी ने सरूप वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास कहा।[1] किन्तु उद्भट ने वर्ण के स्थान पर "व्यञ्जन" शब्द का प्रयोग करके[2] इस तथ्य को अधिक स्पष्ट कर दिया कि अनुप्रास के स्थलों में व्यञ्जन की ही आवृत्ति अपेक्षित होती है। सम्भवतः इसीलिए उद्भटकृत लक्षण में अधिक स्पष्टता देखकर रुद्रट भी "व्यञ्जन" शब्द का प्रयोग करते हैं। वामन अनुप्रास का "शेषः सरूपोऽनुप्रासः" यह लक्षण करते हैं तथा "शेषः" पद को वृत्तिभाग में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि एकार्थक, अनेकार्थक तथा अनियत स्थान वाले पद एवं अनियत स्थान वाले अक्षर "शेष" कहलाते हैं।[3]

रुद्रट के परवर्ती आचार्यों में कुन्तक ने वर्णविन्यास-वक्रता का जो स्वरूप विवेचित किया है, वह अनुप्रास का ही रूप है। उनके अनुसार जिस रचना में एक, दो अथवा बहुत से वर्ण थोड़े- थोड़े अन्तर से पुनः पुनः विन्यस्त किए जाते है उसे वर्णविन्यासवक्रता कहते हैं।[4] उनकी इस वर्णविन्यास-वक्रता के स्वरूप पर रुद्रटकृत अनुप्रास- स्वरूप का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने रुद्रट के समान ही व्यञ्जनों के व्यवधान के अभाव में अर्थात "निरन्तर"

1- {क} सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासः प्रचक्षते । - काव्यालङ्कार 2/5
{ख} वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च ।
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता ।।- काव्यादर्श 1/55

2- सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ।। - का० सा० सं०, पृ०-260

3- पदमेकार्थमनेकार्थं च स्थानानियतं तद्विधमक्षरं च शेषः ।
- का० सू० वृ० 4/1/8- वृत्ति

4- एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः ।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता।।
- व० जी० 2/1

वर्ण की आवृत्ति में भी चित्ताकर्षण को स्वीकार किया है तथा रुद्रट के "अविवक्षितस्वरम्" को "स्वराणामसारूप्यात्" कहकर मान्यता प्रदान की है।[1]

भोजराज अल्प दूरी पर स्थित वर्णों को आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं।[2] आचार्य मम्मट के अनुप्रासलक्षण[3] पर रुद्रट का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। विश्वनाथ कविराज स्वरों के विसदृश होने पर भी शब्दसाम्य को अनुप्रास कहते हैं।[4] आचार्य हेमचन्द्र व्यन्जनों की आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं।[5] इस प्रकार प्राय: सभी आचार्यों को अनुप्रास सामान्य का लगभग एक सा ही रूप मान्य है तथापि रुद्रटकृत अनुप्रास सामान्य का लक्षण अधिक स्पष्ट तथा समीचीन है।

आचार्य रुद्रट ने अनुप्रास- स्वरूप के साथ-साथ उसकी मधुरा इत्यादि पाँच वृत्तियों का विवेचन किया है। "वृत्ति" ऐसा शब्द है, जिसका व्याकरण, नाट्य, साहित्य इत्यादि भिन्न- भिन्न शास्त्रों में भिन्न- भिन्न रूप में ग्रहण किया गया है, इसकी विस्तृत समीक्षा द्वितीय अध्याय में की गयी है। इस स्थल पर अनुप्रास से सम्बन्धित मधुरा अथवा उपनागरिकादि वृत्तियों की ही समीक्षा अभीष्ट है। अत: यहाँ उन्हीं पर विचार किया जा रहा है।

1- क्वचिदव्यवधानेऽपि मनोहारिनिबन्धना ।
सा स्वराणामसारूप्यात् परां पुष्णाति वक्रताम् ।। - वही 2/3

2- आवृत्तिर्या तु वर्णानां नातिदूरान्तरस्थिता ।
अलङ्कार: स विद्वद्भिरनुप्रास: प्रदर्श्यते ।। - स० कं० भ० 2/70

3- वर्णसाम्यमनुप्रास: ।
स्वरवैसादृश्येऽपि व्यन्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम् ।
- का० प्र० 9/104 तथा वृत्ति

4- अनुप्रास: शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् ।
- सा० द० 10/3 पूर्वार्द्ध

5- व्यन्जनस्यावृत्तिरनुप्रास: । - काव्यानुशासन 5/1

आचार्य रुद्रट के अनुसार वर्णों के अनेकत्व के कारण वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं – मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता तथा भद्रा[1]। रुद्रट से पूर्व आचार्य भामह तथा उद्भट ने वृत्तियों का उल्लेख किया है। यद्यपि भामह वृत्तियों के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहते हैं तथापि उन्होंने अन्य आचार्यों द्वारा मान्य ग्राम्यानुप्रास का नाम-निर्देश किया है।[2] काव्यालङ्कार सार-संग्रह के सुप्रसिद्ध टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज की धारणा है कि भामह ने ग्राम्या तथा उपनागरिका के आधार पर दो प्रकार के अनुप्रास की व्याख्या की है।[3] इससे स्पष्ट है कि इनके पहले वृत्तियों का अस्तित्व काव्य में स्वीकृत हो चुका था तथा उनके आधार पर अनुप्रास के भेद भी किए जा चुके थे।

वृत्तियों के स्वरूप तथा प्रकारों के विषय में उद्भट ने अपने विचार स्पष्ट रूप से प्रकट किए हैं। उनके ग्रन्थ के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने रसादि की अभिव्यक्ति के अनुरूप वर्णों के व्यवहार को वृत्ति कहा है।[4] स्वयं उद्भट ने इसके परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या- ये तीन भेद किए हैं।[5]

1- मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता, भद्रेति वृत्तयः पञ्च ।
   वर्णानां नानात्वादस्येति ....।।
   – काव्यालङ्कार 2/19

2- काव्यालङ्कार 2/6

3- भामहो हि ग्राम्योपनागरिकावृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रासं व्याख्यातवान् ।
   – का० सा० सं० 1/2 की टीका

4- अतस्तावद् वृत्तयो रसाद्यभिव्यक्त्यनुगुणवर्णव्यवहारात्मिकाः।
   – का० सा० सं० लघुवृत्ति टीका, पृ०- 257

5- तिसृष्वेतासु वृत्तिषु । – वही, पृ०- 260

रुद्रट के अनुप्रास- विवेचन पर उद्भट का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है क्योंकि इन दोनों ही आचार्यों ने उपनागरिकादि वृत्तियों पर आधारित अनुप्रास {वृत्त्यनुप्रास} का ही अनुप्रास के रूप में विवेचन किया है। उद्भट तो छेकानुप्रास तथा लाटानुप्रास का भी विवेचन करते हैं किन्तु छेकानुप्रास का विवेचन करने के अनन्तर ही वे अनुप्रास का लक्षण[1] करते हैं और उसी के सन्दर्भ में तीन प्रकार की वृत्तियों का विवेचन करते हैं, लाटानुप्रास का लक्षण और विवेचन वे त्रिविध वृत्तियों के विवेचन के अनन्तर प्रस्तुत करते हैं, इससे ये स्पष्ट जान पड़ता है कि वे एकमात्र वृत्त्यनुप्रास को ही अनुप्रास स्वीकार करते हैं और अनुप्रास के लक्षण की व्याप्ति के कारण छेकानुप्रास और लाटानुप्रास को अनुप्रास की संज्ञा दे देते हैं। इसके विपरीत रुद्रट अनुप्रास का लक्षण देते हुए उसके सन्दर्भ में मधुरादि पाँच वृत्तियों का ही विवेचन करते हैं, पूर्वाचार्यों को मान्य छेकानुप्रास तथा लाटानुप्रास का उल्लेख भी नहीं करते हैं। इस प्रकार जो बात उद्भट के अनुप्रास विवेचन में गम्य थी, वह रुद्रट के अनुप्रास- विवेचन में स्पष्ट हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य के मस्तिष्क में अनुप्रास अलङ्कार के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का प्रभाव अधिक था इसीलिए स्वयं अपने द्वारा भी निर्मित अनुप्रास-लक्षण की व्याप्ति पहले से ही मान्य छेकानुप्रास तथा लाटानुप्रास में होने के बाद भी वे इनका विवेचन नहीं करते हैं, पर वास्तविकता यह है कि ये दोनों भेद भी अनुप्रास के ही भेद हैं और इसीलिए मम्मटादि परवर्ती आचार्यों ने इन अनुप्रासों का विवेचन अनुप्रास के भेद के रूप में किया है।[2]

1- का० सा० सं० प्रथम वर्ग, पृ- 254 से 260

2- {क} छेकवृत्तिगतो द्विधा । - का० प्र० 9/105 सूत्र

{ख} संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः ।। अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः।।अ०स०सूत्र5-6

{ग} अतत्पदःस्याच्छेकानां लाटानां तत्पदश्च सः। - वा० अ० 4/17

{घ} ...छेकानुप्रासभासुरा।।....वृत्त्यनुप्रासवद्वच: ।- चन्द्रालोक 5/2-3

{ङ} अनुप्रासः पञ्चधा ततः । - सा० द० 10/7 उत्तरार्द्ध

{च} स च द्विविधः- लाटानुप्रासश्छेकानुप्रासश्च । - अ० शे० 10वीं मरीचि

{छ} स च द्वेधा छेकवृत्तिभेदात् । - अ० कौ० 7/197

रुद्रट के अनुसार मधुरा वृत्ति में वर्ग के अक्षर सिर के ऊपर अपने वर्ग के पञ्चम अक्षर से संयुक्त होते हैं तथा ल से युक्त होते हैं और ह्रस्व स्वर से अन्तरित रकार तथा णकार भी मधुरा वृत्ति के अन्तर्गत हो जाते हैं।[1] इनकी यह वृत्ति उद्भट की उपनागरिका वृत्ति[2] के समान है, अन्तर केवल इतना है कि उद्भट ने अपनी उक्त वृत्ति में स्पर्श वर्णों के द्वित्व का भी अन्तर्भाव किया है। रुद्रट के अनुसार रकार तथा णकार का यथासामर्थ्य प्रयोग करना चाहिए। संयुक्त लकार के दो या तीन बार तथा क् आदि वर्ग्यों का अधिक से अधिक पाँच बार प्रयोग करने से काव्य में माधुर्य आता है।[3] मधुरा में वर्णसंघटना का यह नियम रुद्रट की अपनी मान्यता है। उद्भट ने इस प्रकार का कोई नियम- निर्देश नहीं किया है।

रुद्रट के अनुसार प्रौढ़ा वृत्ति में ड्. आदि अन्त्य वर्णों तथा टवर्गीय वर्णों को छोड़कर ऊपर रेफ से युक्त क् आदि वर्ग्य, यकार तथा णकार, ककार एवं पकार से संयुक्त तकार तथा तकार से युक्त ककार की योजना होती है।[4] परुषा वृत्ति में सिर पर सभी वर्णों से संयुक्त सकार, नीचे तथा ऊपर अर्थात् पूर्व तथा पश्चात् में रकार से युक्त सभी वर्ण होते हैं, किन्तु हकार के पहले अथवा बाद में रकार होना चाहिए,

---

1- निजवर्गान्त्यैर्वर्ग्याः संयुक्ता उपरि सन्ति मधुरायाम् ।
तद्युक्तश्च लकारो रणौ च ह्रस्वस्वरान्तरितौ ।।
- का० 2/20

2- सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः ।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः ।।
- का० सा० सं०,पृ०-256

3- तत्र यथाशक्ति रणौ द्वित्रिर्वा युक्तितो लकारं च ।
पञ्चभ्यो न कदाचिद्वर्ग्यानूर्ध्वं प्रयुञ्जीत ।। - का० 2/21।

4- अन्त्यटवर्गान्मुक्त्वा वर्ग्ययणा उपरि रेफसंयुक्ताः ।
कपयुक्तश्च तकारः प्रौढायां कत्वयुक्तश्च ।।
- वही, 2/24

दोनों ओर नहीं। शकार और षकार सब प्रकार से उक्त वृत्ति में प्रयुक्त किए जा सकते हैं।[1] रुद्रट केवल कटु अर्थ वाले तथा अनुकरण वाले स्थलों में ही परुषा वृत्ति का प्रयोग उचित मानते हैं, सभी स्थलों में नहीं। उनके अनुसार यदि उक्त वृत्ति का त्याग असम्भव हो तो ऐसे स्थलों में ह आदि का त्याग कर देना चाहिए।[2] उनकी ललिता वृत्ति में लघु व, ध, भ, र, स तथा अन्य वर्णों से असंयुक्त लकार होते हैं।[3] सम्भवतः उद्भट की परुषा वृत्ति[4] को ही रुद्रट ने प्रौढ़ा, परुषा तथा ललिता- इन तीन वृत्तियों के रूप में रखा है। उद्भट की ग्राम्या {कोमला} वृत्ति[5] के समान ही रुद्रट ने अपनी भद्रा वृत्ति में चारों {प्रौढ़ा, परुषा, मधुरा तथा ललिता} वृत्तियों से अवशिष्ट वर्णों को रखा है।[6] भद्रा में वर्ण संयुक्त अथवा असंयुक्त दोनों ही प्रकार से प्रयुक्त हो सकते हैं।

1- सर्वोपरि सकारः सर्वे रेणाभ्यत्र संयुक्ताः ।
एकत्रापि षकारः परुषायां सर्वथा च शवौ ।।

- का० 2/26

2- परुषाभिधायिवचनादनुकरणाच्चापरत्र नो परुषाम् ।
रचयेदथागतिः स्यात्तत्रापि हादयो हेयाः ।।

- वही, 2/28

3- ललितायां वधभरसा लघवो लश्चापरैरसंयुक्तः ।

- वही, 2/29 पूर्वार्द्ध

4- शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता ।
परुषा नामवृत्तिः स्यात् ह्लह्वह्याद्यैश्च संयुता ।।

- का० सा० सं०, पृ०- 257

5- शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया ।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः ।।

- वही, पृ०- 259

6- परिशिष्टा भद्रायां पृथगथवा वर्णसंयुक्ताः ।

- का० 2/29 उत्तरार्द्ध

उपर्युक्त विवेचन को देखते हुए यह स्पष्ट है कि रुद्रटकृत वृत्ति-विवेचन उद्भट के वृत्ति- विवेचन से प्रेरित और प्रभावित होता हुआ भी सदोष है- पहली बात तो यह है कि परुषा वृत्ति के अन्तर्गत {जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है} टवर्ग की योजना अनिवार्य है, किन्तु इनकी परुषा वृत्ति टवर्ग-विहीन है, अतएव उद्भट की परुषा वृत्ति की तुलना में इनकी यह वृत्ति अग्राह्य है। दूसरी बात यह कि मधुरा {उपनागरिका} वृत्ति में टवर्ग की योजना निषिद्ध है किन्तु रुद्रट उसकी ओर संकेत नहीं करते हैं। उनकी भद्रा वृत्ति में जैसाकि उदाहरण से ही स्पष्ट है, इन्हें ट-वर्गीय वर्णों की योजना स्वीकार्य है, किन्तु यह भद्रा वृत्ति की संज्ञा के अनुकूल प्रतीत नहीं होता, इसलिए कि वृत्तियों के विषय में इनकी स्पष्ट धारणा है कि मधुरा इत्यादि वृत्तियाँ यथार्थ नामफल वाली होती हैं।[1] यही कारण है कि मम्मट जैसे आचार्य भी वृत्ति- विवेचन के प्रसंग में उद्भट के ही वृत्ति- विवेचन को मान्यता देते दिखायी देते हैं और परवर्ती काव्यशास्त्र अग्निपुराण के अतिरिक्त किसी भी आचार्य ने इनकी मान्यता को ग्रहण नहीं किया है। अग्निपुराणकार ने रुद्रट की उक्त पाँचों वृत्तियों को ज्यों का त्यों स्वीकार किया है। उनके स्वरूप-विवेचन पर रुद्रट का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।[2]

1- ....यथार्थनामफला: ।। - का० 2/19 उत्तरार्ध

2- एकवर्णगतावृत्तेर्जायन्ते पञ्च वृत्तयः ।
मधुरा ललिता प्रौढा भद्रा परुषा सह।।
मधुरायाश्च वर्गान्तादधो वर्ग्यास्णौ स्वनौ ।
ह्रस्वस्वरेणान्तरितौ संयुक्तत्वं नकारयोः ।।
न कार्या वर्गवर्णानामावृत्तिः पञ्चमाधिका ।
महाप्राणोष्मसंयोगप्रविमुक्तलघूत्तरौ ।।
ललिता बहुभूयिष्ठा प्रौढा वा पवर्गजा ।
ऊर्ध्वं रेफेण युज्यन्ते नटवर्गौ न पञ्चमाः ।।
भद्रायां परिशिष्टाः स्युः परुषा साभिधीयते ।
भवन्ति यस्यामूष्माणः संयुक्तास्तत्तदक्षरैः ।।
अकारवर्जिता वृत्तिः स्वराणामतिभूयसी ।
अनुस्वारविसर्गौ च पारुष्याय निरन्तरौ ।।
शषसा रेफसंयुक्ता ढकारश्चापि भूयसा ।
अन्तस्था भिन्नमाभ्यां च हः पारुष्याय संयुतः ।।
अन्यथाऽपि गुरुवर्णैः संयुक्तैः परिपन्थिनि ।
पारुष्यायादिवर्णास्तत्र पूजिता न तु पञ्चमी ।।

पूर्ववर्तियों में वामन ने भी अनुल्बण तथा उल्बण- इन दो प्रकार के अनुप्रासों का विवेचन किया है।[1] जैसा कि उनके उदाहरणों[2] से स्पष्ट है, अनुल्बण से उनका तात्पर्य मधुरा अथवा उपनागरिका वृत्ति है तथा उल्बण से परुषा वृत्ति से। इस प्रकार उन्होंने वृत्तिगत भेदों को ओर दूसरे नाम से संकेत अवश्य किया है किन्तु वृत्ति-नाम-पूर्वक उनका स्पष्ट विवेचन नहीं किया है।

परवर्ती काव्यशास्त्रियों में वक्रोक्तिजीवितकार ने एक व्यन्जन, दो व्यन्जन तथा दो से अधिक व्यन्जन को आवृत्ति की दृष्टि से वर्ण- विन्यास- वक्रता के तीन भेद किए हैं।[3] उनसे भिन्न दूसरी प्रकार की वर्ण- विन्यास- वक्रता के जो तीन भेद[4] कुन्तक ने किए हैं, उनमें वृत्तियों का स्वरूप स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है।

भोजराज ने वृत्त्यनुप्रास के अन्तर्गत स्वमान्य कर्णाटी, कौन्तली, कौङ्की इत्यादि बारह वृत्तियों का विवेचन किया है।[5] इसके पश्चात् उन्होंने दूसरों के

1- अनुल्बणो वर्णानुप्रासः श्रेयान् ।
उल्बणस्तु न श्रेयान् । - का० सू० वृ० 4/1/9 तथा वृत्ति भाग

2- {क} क्वचिन्मसृणमांसलं क्वचिदतीव तारास्पदम् ।
प्रसन्नसुभगं मुहुः स्वरतरङ्गलीलाङ्कितम् ।।
इदं हि तव वल्लकीरणितनिर्मितं मन्मतं ।
मनो मदयतीव मे किमपि साधु सङ्गीतकम् ।।

{ख} चल्ली बद्धोर्ध्वचूडोद्भटमटति रटत्कोटिकोदण्डदण्डः ।
- वही

3- एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः ।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता ।। - व०जी० 2/1

4- वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विरुक्तास्त-ल-नादयः ।
शिष्टाश्च रादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्य शोभिनः ।।
- वही, 2/2

5- स० क० भ० 2/78- 80.

मत के रूप में वृत्तियों के पुनः गम्भीरा, ओजस्विनी, प्रौढा, मधुरा इत्यादि बारह भेद किए हैं।[1] इनमें मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता तथा मिश्रा का भी उल्लेख है।[2]

भोजराज के पश्चात् मम्मट ने एक या अनेक व्यन्जनों की दो या दो से अधिक बार के सादृश्य को "वृत्त्यनुप्रास" कहकर[3] वृत्ति के उपनागरिका, परुषा तथा कोमला {ग्राम्या}- इन तीन वृत्तियों का विवेचन किया है।[4]

रुय्यक ने केवल एक व्यन्जन के सादृश्य, केवल एक बार समुदाय सादृश्य तथा तीन- बार व्यन्जन वाले समुदाय के परस्पर सादृश्य के स्थलों पर वृत्त्यनुप्रास माना है।[5] मम्मट द्वारा कथित वृत्ति के स्वरूप[6] को स्वीकार करते हुए वे दूसरे शब्दों में कहते हैं कि वृत्ति का मूलभूत अर्थ - "रसविषयक व्यापार" है, किन्तु यहां वृत्ति का अर्थ है- उस रसविषयक व्यापार से युक्त वर्ण-रचना।[7] इस वर्ण-रचना को वे तीन प्रकार की मानते हैं - परुष, कोमल तथा मध्यम[8]।

1- स० क० भ० 2/84-86

2- प्रौढा मधुरा निष्ठुरा श्लथा ।
कठोरा कोमला मिश्रा परुषा ललितामिति ।।
- वही, 2/85

3- एकस्य अप्यशब्दादनेकस्य व्यन्जनस्य द्विर्बहुकृत्वो वा सादृश्यं वृत्त्यनुप्रासः।
- का० प्र० 9/ पृ०- 436

4- माधुर्यव्यन्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।
ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः । - वही 9/80

5- अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः। केवल व्यन्जनमात्रसादृश्यमेकधा समुदायसादृश्यं त्र्यादीनां च परस्परसादृश्यमन्यथाभावः । - अ० स० सूत्र- 6

6- वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः। - का०प्र०सूत्र 105 की वृत्ति

7- वृत्तिस्तु रसविषयोव्यापारः । तद्वती पुनर्वर्णरचनेह वृत्तिः ।
- अ०स०

8- सा च परुषकोमलमध्यमवर्णारब्धत्वात् त्रिधा । - वही

इस प्रकार स्पष्ट है कि वृत्ति का सीधा सम्बन्ध रस से होता है। इन शृङ्-गारादि रसों को तीन कोटियों में रखा जा सकता है- दीप्त, कोमल तथा सामान्य। वीर तथा रौद्रादि दीप्त रस की कोटि में आते हैं। कुछ रस यथा शृङ्-गार, करुणादि कोमल रसों की कोटि में आते हैं तथा अद्भुत एवं हास्यादि कुछ सामान्य की कोटि में। अतः रसविषयक व्यापार {वृत्ति} को भी इन्हीं तीन कोटियों के अनुसार तीन प्रकार का मानना ही अधिक वैज्ञानिक है। इसीलिए परवर्ती आचार्यों ने उद्भटकथित उपनागरिका, परुषा तथा ग्राम्या {कोमला}- इन तीन वृत्तियों को ही स्वीकार किया है।

कुछ काव्यशास्त्रियों यथा - जयदेव,[1] विश्वनाथ कविराज,[1] विद्यानाथ आदि ने वृत्त्यनुप्रास का स्वरूप तो बताया है,[1] किन्तु वृत्ति के भेदों का उल्लेख नहीं किया है।

उपर्युक्त समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि वृत्त्यनुप्रास को प्रायः अधिकांश आचार्यों ने स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त अनुप्रासगत श्रुत्यनुप्रास, छेकानुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास इत्यादि अन्य भेदों का भी विवेचन उन्होंने किया है, किन्तु जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, रुद्रट ही केवल ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने केवल वृत्त्यनुप्रास को ही "अनुप्रास" रूप में प्रस्तुत किया है।

1- {क} आवृत्तवर्णसम्पूर्णं वृत्त्यनुप्रासवद्वचः ।
- चन्द्रालोक 5/3 पूर्वार्द्ध

{ख} अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते।।
- सा0 द0 10/4

{ग} वृत्त्यनुप्रासः ।
कादिप्रभृतीनां तु व्यञ्जनानां यथा भवेत् ।
पुनरुक्तिरसौ नाम वृत्त्यनुप्रास इष्यते ।।
- प्र0 रु0, पृ0- 404

यमक -

यमक एक ऐसा अलङ्‌कार है जिसका भरतमुनि से लेकर आधुनिक युग तक के प्राय: अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने विवेचन किया है। यमक शब्दालङ्‌कार है, क्योंकि इसमें चमत्कार शब्दगत होता है, अर्थगत नहीं, समान आनुपूर्वी वाले वर्णों की आवृत्ति से उत्पन्न होने वाला चमत्कार ही इसका मूल होता है। "यम" शब्द का अर्थ है- "जुड़वा"। जहाँ दो पद जुड़वों जैसा सादृश्य रखते दिखाई दें, वहाँ यमक होता है।[1]

आचार्य रुद्रट ने यमक के विवेचन में एक सम्पूर्ण अध्याय ही समाप्त कर दिया है। यमक का लक्षण करते हुए रुद्रट कहते हैं कि समान उच्चारण तथा क्रम वाले परस्पर भिन्नार्थक वर्णों की पुन: आवृत्ति को यमक कहते हैं।[2] जिन स्थलों पर वर्णक्रम समान होने पर भी उच्चारण अथवा श्रुति में असमानता होती है, वहाँ यमक नहीं होता। यथा वपुष्टा तथा वपुस्ता आदि में एवं "पुनर्गता पुनारोति" आदि में वर्णों का क्रम[3] समान होने पर भी श्रुति की समानता न होने के कारण यमक नहीं हो सकता। रुद्रटकृत यमक के लक्षण पर भामह का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

1- यमौ द्वौ सम्जातौ तत्प्रतिकृति यमकम् । "इवे प्रतिकृतौ {5/3/96}
इति पाणिनिसूत्रेण कन् प्रत्यय: ।
- का० प्र० झलकीकर कृत टीका

2- तुल्यश्रुतिक्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम् ।
पुनरावृत्तिर्यमकं प्रायश्छन्दांसि विषयोऽस्य ।।
- का० 3/1

3- श्रुतिग्रहणाद् यत्र कर्णिकारेण त्वरत्वादिना वपुष्टा वपुस्ता इत्यादौ तथा पुनर्गता पुना रौतीत्यादौ च सत्यपि क्रमे तुल्यश्रुतित्वाभावस्तत्र यमकत्वनिरास: । - वही 3/1 नमिसाधुकृत टीका

क्योंकि उन्होंने भी समान श्रुति वाले किन्तु भिन्नार्थक वर्णों की आवृत्ति को यमक कहा है।[1]

सर्वप्रथम भरत ने नाट्यशास्त्र में इस अलङ्कार का उल्लेख किया है। उन्होंने शब्दों की आवृत्ति को यमक कहा है।[2] किन्तु उन्होंने उन शब्दों के भिन्नार्थक होने की बात नहीं कही, जो कि यमक की एक अनिवार्यता है।

दण्डी के अनुसार अन्य वर्णों के व्यवधान से रहित अथवा व्यवधान से युक्त वर्णसमुदाय की आवृत्ति को यमक कहते हैं,[3] भरत के समान इन्होंने भी इन वर्णसमुदायों अथवा शब्दों का भिन्नार्थक होना नहीं प्रतिपादित किया है। काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में माधुर्य गुण के प्रसङ्ग में भी उन्होंने यमक का लक्षण किया है।[4] उद्भट यमक के विषय में मौन रहे हैं।

वामन ने शब्दालङ्कारों के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम यमक का लक्षण किया है। उनके अनुसार स्थाननियम के होने पर अनेकार्थक पद अथवा अक्षर की आवृत्ति को यमक कहा जाता है।[5] प्रश्न यह उठता है कि स्थाननियम क्या है? इस स्थान- नियम की व्याख्या करते हुए स्वयं आचार्य वामन कहते हैं- पदों की स्वावृत्ति से {अपनी उपस्थिति से} अथवा विभिन्न पद- पदांशों के सम्मिलन के द्वारा . निज रूप में

1- तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् ।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते ।।
- का० 2/17

2- शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम् ।
- ना० शा० 17/60 पूर्वार्द्ध

3- अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहतेः ।
यमकं .... ।।
- का० द० 3/1

4- आवृत्तिं वर्णसंघातगोचरां यमकं विदुः ।
-वही, 1/61 पूर्वार्द्ध

5- पदमनेकार्थमक्षरं वा वृत्तं स्थाननियमे यमकम् ।
- का० सू० वृ० 4/1/1

प्रतीत होने वाले सजातीय पदों के साथ पूर्णरूपेण अथवा एक देश {अंश रूप} से अनेक पादों में परिव्याप्ति स्थाननियम है।[1]

उपर्युक्त यमक के लक्षण में "अनेकार्थक" शब्द "पद" का विशेषण है, अक्षर का नहीं हो सकता, क्योंकि अक्षर अनेकार्थक हो ही नहीं सकता। "अक्षरसमूह" कहे जाने पर "अनेकार्थक" पद उसका विशेषण हो सकता था।

अक्षरयमक की व्याख्या करते हुए आचार्य वामन ने कहा है कि अक्षर-यमक एक अक्षर वाला भी हो सकता है और अनेक अक्षरों वाला भी।[2] यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि एक अक्षर की आवृत्ति तो अनुप्रास अलंकार है, फिर अनुप्रास और एकाक्षर यमक में भेद ही क्या रहा। इस प्रकार वामनकृत यमक-लक्षण दोषयुक्त अतएव अग्राह्य है।

वक्रोक्तिजीवितकार ने यमक को वर्णविन्यासवक्रता का ही एक प्रकार माना है।[3] इन्होंने भी दण्डी के समान वर्णों के व्यवधान से युक्त अथवा व्यवधानरहित समान रूप से सुनाई पड़ने वाले एक, दो या बहुत से वर्णों के विन्यास को यमक कहा है।[4]

1- स्ववृत्त्या सजातीयेन वा कात्स्न्र्यैकदेशाभ्यामनेकपादव्याप्तिः स्थाननियम इति।
- का० सू० वृ० 4/1/1 वृत्तिभाग

2- अक्षरयमकं त्वेकाक्षरमनेकाक्षरं च । - वही, 4/1/2 वृत्तिभाग

3- समानवर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुतिपेशलम् ।
औचित्ययुक्तमाद्यादिनियतस्थानशोभि यत् ।।
यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते ।
- व० जी० 2/6 एवं 7 पूर्वार्द्ध

4- समानाः स्वरूपाः सदृशश्रुतयो वर्णा यस्मिन् तत्तथोक्तम् ।
एवमेकस्य द्वयोर्बहूनां सदृशश्रुतीनां व्यवहितमव्यवहितं वा
यदुपनिबन्धनं तदेव यमकमित्युच्यते । - वही, 2/7 वृत्तिभाग

इसके अनुसार एक रूप वाले होने पर भी यमक में पदों को भिन्नार्थक होना चाहिए।[1] रुद्रट के इस लक्षण को देखते हुए यह स्पष्ट है कि यह भी भामह की भाँति एक अक्षर की आवृत्ति में भी यमक मान रहे हैं, अतः इनका भी यमक-लक्षण उपर निर्दिष्ट दोष से रहित नहीं है।

भोज, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, पण्डितराज तथा जयदेव इत्यादि सभी आचार्यों ने प्रायः भामह तथा रुद्रट कथित यमक के रूप को स्वीकार किया है। मम्मट ने यमक के लक्षण में "अर्थे सति" अंश जोड़कर उन स्थलों का भी यमक में समावेश कर लिया है, जहाँ पर समान श्रुति और क्रम वाले पद कभी-कभी निरर्थक भी होते हैं, अर्थात् यमक के स्थलों में यदि वे पद सार्थक हों तो भिन्नार्थक अवश्य हों और यदि उन पदों में से एक अथवा दोनों निरर्थक हों तो भी वे यमक के अन्तर्गत आ जाएँगे।[3]

1- एकदेशेऽप्यनेकस्थानेऽपि सत्यपि अन्यार्थं भिन्नाभिधेयम्। - वही

2- (क) विभिन्नार्थैकरूपाया या वृत्तिर्वर्णसंहतेः।
अव्यपेतव्यपेतात्मा यमकं तन्निगद्यते ।। - स० कं० भ० 2/58

(ख) अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः यमकम्।
- का० प्र० 9/83 पूर्वार्द्ध

(ग) स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम्।
अत्र क्वचिद् भिन्नार्थत्वं क्वचिदभिन्नार्थत्वं क्वचिदेकस्यानर्थकत्वमपरस्य सार्थकत्वमिति संक्षेपतः प्रकारत्रयम्। - अ० सू० सूत्र 7 तथा वृत्तिभाग

(घ) आवृत्तवर्णस्तबकं स्तबकन्दाङ्कुरं कवेः।
यमकं प्रथमा धुर्यमाधुर्यवचसो विदुः ।।- च० लो० 5/3

(ङ) स्यात्पादपदवर्णानामावृत्तिः संयुतायुता।
यमकं भिन्नवाच्यानां ....।। - वा० 4/22

3- समरसमरसोऽयमित्यादावेकेषामर्थवत्त्वेऽन्येषामनर्थकत्वे भिन्नार्थानामिति न युज्यते वक्तुमिति अर्थे सतीत्युक्तम्। - का०प्र०, पृ०- 440.

सम्प्रति यमक के भेद- प्रभेदों की चर्चा की जाती है। सर्वप्रथम भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में यमक के दस भेद बताए हैं।[1] उनके अनुसार यदि चारों पादों के अंत में समान पद हों तो उसे पादान्त यमक कहते हैं।[2] यदि पाद के आदि तथा अन्त में समान पद हों तो उसे काञ्ची यमक कहते हैं।[3] पद के अर्धभाग की आवृत्ति द्वारा सम्पूर्ण वृत्ति की पूर्ति "समुद्ग" यमक कहलाती है।[4] इसी प्रकार एक पाद को छोड़ कर दूसरा समान हो अर्थात् द्वितीय तथा चतुर्थ पाद की रचना समान हो तो "विक्रान्त" यमक कहते हैं।[5] "चक्रवाल" यमक उसे कहते हैं, जहाँ पादान्त शब्द की दूसरे पाद के प्रारम्भ में आवृत्ति होती है।[6] "सन्दष्ट" यमक के स्थलों पर पाद के

1- पादान्तयमकञ्चैव काञ्चीयमकमेव च । समुद्गयमकञ्चैवविक्रान्तयमकन्तथा ।।
यमकं चक्रवालञ्च सन्दष्टयमकं तथा । पादादियमकञ्चैव तथाम्रेडितमेव च ।।
चतुर्व्यवसितञ्चैव मालायमकमेव च । एतद्विधं ज्ञेयं यमकं नाटकाश्रयम् ।।
- ना० शा० 7/61-63

2- चतुर्णां यत्र पादानामन्ते स्यात् सममक्षरम् ।
तद्धि पादान्तयमकं विज्ञेयं नामतो यथा ।।
- वही, 7/64

3- पादस्यादौ तथान्ते च यत्र स्यातां पदे समे ।
तत् काञ्चीयमकं नाम विज्ञेयं सूरिभिर्यथा ।।
- वही, 7/66

4- अर्धेनैकेन यद्वृत्तं सर्वमेव समाप्यते ।
समुद्गकयमकं तत्तु विज्ञेयं नामतो यथा ।।
- वही, 7/68

5- एकैकं पादमुत्क्रम्य द्वौ पादौ सदृशौ यदा ।
विक्रान्तयमकं नाम विज्ञेयं नामतो यथा ।।
- वही, 70

6- पूर्वस्यान्तेन पादस्य परस्यादिर्यदा समः ।
चक्रवालं तद् विज्ञेयं नामतो यथा ।।
- 72

प्रारम्भ में दो समान पदों की आवृत्ति होती है।[1] "पादादियमक" में पाद के प्रारम्भ में आने वाले पद की आगे के सभी पादों अर्थात् द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पादों के प्रारम्भ में आवृत्ति होती है।[2] पाद का अन्तिम पद दो बार प्रयुक्त होने पर "आम्रेडित" यमक,[3] चारों पदों के समान अक्षर वाले होने पर "चतुर्व्यवसित" यमक,[4] तथा अनेक व्यञ्जनों से युक्त एक ही स्वर विभिन्न शब्दों में आने पर मालायमक[5] होता है। इस प्रकार यमक के ये दस भेद भरतमुनि ने बताए हैं।

इनके पश्चात् भामह ने यमक के आदि, मध्यान्त, पादाभ्यास, आवली तथा समस्तपाद - ये पाँच भेद किए हैं,[6] क्योंकि वे भरतमुनि द्वारा बताए गए सन्दष्टक समुद्ग आदि अन्य भेदों का इन्हीं पाँचों में अन्तर्भाव मानते हैं।[7] दण्डी ने यमक के इतने अधिक भेद किए हैं कि उनका अत्यधिक विस्तार हो गया है और इसीलिए उनका यमक भेदगत प्रसङ्ग अत्यधिक दुर्बोध हो गया है। इन्होंने यमक के व्यपेत,

---

1- आदौ है यत्र पादे तु भवेतामक्षरे समे ।
संदष्टयमकं नाम विज्ञेयं नामतो यथा ।।- 74

2- आदौ पादे तु यत्र स्यात् समावेशसमाक्षर: ।
पादादियमकं नाम विज्ञेयं नामतो यथा ।।- 76

3- पादस्यान्त्यं पदं यत्र द्विर्द्विरेकमिहोच्यते ।
तयमाम्रेडितं नाम यमकं तत्तु सूरिभि: ।।- 78

4- सर्वे पादा: समा यत्र भवन्ति नियताक्षरा: ।
चतुर्व्यसितं नाम तद्विज्ञेयं बुधैर्यथा ।।- 80

5- नानारूपै: स्वरैर्युक्तं यत्रैकं व्यञ्जनं भवेत् ।
तन्मालायमकं नाम विज्ञेयं काव्यकोविदै: ।। - 82

6- आदिमध्यान्तयमकं पादाभ्यासं तथावली ।
समस्तपादयमकमित्येतत्पञ्चधोच्यते ।।

7- संदष्टकसमुद्गादेरत्रैवान्तर्गतिर्मता ।
आदौ मध्यान्तयोर्वा स्यादिति पञ्चैव तद्यथा।।
- का० 2/9-10

अव्यपेत तथा अव्यमिश्र- ये तीन मुख्य भेद किए हैं और फिर उनके भी अनेक भेद-प्रभेद किए हैं,[1] किन्तु दण्डी ने न तो उन सबका लक्षण किया है और न ही उदाहरण दिए हैं, केवल कुछ ही भेदों के उदाहरण मात्र प्रस्तुत कर दिए हैं।[2]

अग्निपुराण में यमक के व्यपेत तथा अव्यपेत- ये दो प्रमुख भेद बताए गए हैं।[3] अग्निपुराणकार ने इनका लक्षण करते हुए वर्णों की लगातार आवृत्ति को अव्यपेत यमक तथा व्यवधान के साथ आवृत्ति को व्यपेत यमक कहा है।[4] इन दोनों के पुनः स्थान तथा पाद के क्रम से चार भेद किए गए हैं। स्थान यमक के तीन हैं- आदि, पादमध्य तथा पादान्त, इस प्रकार यमक के ये सात भेद हुए। इसी प्रकार पादयमक के भी एक पाद, द्विपाद तथा त्रिपाद के क्रम से सोलह प्रकार हुए।[5]

इन भेदों के अतिरिक्त "तद्भेदा बहवोऽपरे" कहते हुए पुनः आवृत्तपदयमक उसके दो भेद- स्वतन्त्र पदावृत्ति एवं अस्वतन्त्र पदावृत्ति तथा इनके भी पुनः समस्त पदावृत्ति एवं असमस्त पदावृत्ति- ये भेद भी उक्त ग्रन्थ में प्रतिपादित किए गए हैं।[6] स्पष्ट है कि अग्निपुराण में दण्डी कथित भेदों को ही प्रतिपादित किया गया है, किन्तु इन्हें बहुत संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

1- अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहतेः ।
   यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ।।
   - 3/1 का0 द0

2- वही, 3/4- 77

3- यमकं साऽव्यपेतं च व्यपेतं चेति तद्द्विधा । -अ0पु0 7/12 पूर्वार्द्ध

4- आनन्तर्यादिव्यपेतं व्यपेतं व्यवधानतः ।। - वही, उत्तरार्द्ध

5- द्वैविध्येनानयोः स्थानपादभेदाच्चतुर्विधम् ।
   आदिपादादिमध्यान्तेष्वेकद्वित्रिनियोगतः।।
   सप्तधा सप्तपूर्वेण चेत्यादेनोत्तरोत्तरः ।
   एकद्वित्रिपदारम्भस्तुल्यः षोडा तदापरम् ।। - वही, 7/13-14

6- स्वतन्त्रस्यान्यतन्त्रस्य पदस्यावर्तनाद् द्विधा ।
   भिन्नप्रयोजनपदस्यावृत्तिं मनुजा विदुः ।।
   द्वयोरावृत्तपदयोःऽसमस्ता स्यात्समासतः ।
   असमासात्तयोर्व्यस्ता पादे त्वेकत्र विग्रहात्।। - वही, 7/18-19

वामन ने पादयमक एकपादस्थ आदि, मध्य, अन्त यमक, दो पादस्थ आदि, मध्य, अन्त यमक, एक पाद के अन्तर से पादान्त यमक, पादादि तथा पादमध्य यमक, समस्तपादान्तयमक, समस्तपादादि तथा समस्तपादमध्य- इन यमक- भेदों का उल्लेख किया है।[1] इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य मिश्रित यमक भी अभीष्ट थे, जैसा कि उनकी उक्ति से ज्ञात होता है- "अन्ये च सङ्कजातिभेदाः सुधियोत्प्रेक्ष्याः।"[2] जैसाकि पहले कहा जा चुका है, उन्होंने अक्षरयमक नामक यमक भेद के दो उपभेद किए हैं - एकाक्षर यमक तथा अनेकाक्षरयमक । इन यमक भेदों का वामन ने ही उल्लेख किया है। उन्होंने पदयमकमाला का भी नामनिर्देश किया है।[3]

इन पूर्ववर्तियों की भाँति रुद्रट ने भी यमक के भेद- प्रभेद किए हैं। उन्होंने इस अलङ्कार के सर्वप्रथम दो भेद किए हैं - समस्तपादगत एवं एकदेशगत।[4] इन दोनों में सभी भेदों का अन्तर्भाव हो जाता है, इस प्रकार रुद्रट ने ये दो भेद करके भामहादि पूर्ववर्तियों द्वारा कथित भेदों का निराकरण किया है।[5] इन्होंने समस्तपादगत के तीन भेद किए हैं - पादावृत्त, अर्धावृत्त एवं श्लोकावृत्त।[6] इनमें से पादावृत्त के मुख, संदंश तथा आवृत्ति ये तीन भेद होते हैं, प्रथम पाद के साथ द्वितीय पाद के

1- का० सू० वृ० 4/1/2 का वृत्तिभाग
2- वही
3- वही
4- पूर्वं द्विभेदमेतत्समस्तपादैकदेशजत्वेन ।
- का० 3/2 पूर्वार्द्ध
5- अत्र च वक्ष्यमाणभेदाः सर्वेऽप्यन्तर्भवन्तीति पञ्चधा चतुर्दशधा चेति परोक्त वचनव्युदास इति । - वही, टीका
6- पादार्धश्लोकानामावृत्त्या सर्वजं त्रेधा ।।
- का०,वही उत्तरार्द्ध

आवृत्त होने पर मुख, तृतीय पाद के साथ आवृत्त होने पर संदंश तथा चतुर्थ पाद के साथ आवृत्त होने पर आवृत्ति- ये तीन प्रकार के यमक होते हैं।[1] यथा-

> चक्रं दहतारं चक्रन्द हतारम् । [2 क]
> खड्.गेन तवाजौ राजन्नरिनारी ।।
>
> सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम् । [2ख]
> सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय ।।
>
> मुदारताडी समराजिराजित: प्रवृद्धतेजा: प्रथमो धनुष्मताम् । [2 ग]
> भवान्बिभर्तीह नगश्च मेदिनीमुदारताडीसमराजिराजित: ।।

ये तीनों पद्य क्रमश: मुख, संदंश तथा आवृत्ति के उदाहरण हैं।

तृतीय तथा चतुर्थ पाद के द्वितीय पाद के साथ आवृत्त होने पर क्रमश: गर्भ तथा सन्दष्टक नामक यमक के भेद होते हैं।[3] इन दोनों के उदाहरण रुद्रट ने क्रमश: इस प्रकार दिए हैं -

> यो राज्यमासाद्य भवत्यचिन्त: सकृद्वतारम्भरत: सदैव ।
> सकृद्वतारं भरत: स दैवप्रमाणमारभ्य पदस्युदास्ते ।। [4 क]
>
> इदं च येन स्वयमात्मभीष्मता समस्तकान्चीकमनीयताकुलम् । [4 ख]
> नितम्बबिम्बं कथमस्तु नो नृणां स मस्तकान्ची कमनीयताकुलम् ।।

1- पर्यायेणान्येषामावृत्तानां सहादिपादेन ।
मुखसंदंशावृत्तय: क्रमेण यमकानि जायन्ते ।।
- का0 3/3

2- {क} वही, 3/4
{ख} वही, 3/5
{ग} वही, 3/6

3- प्रत्येकं पश्चिमयोरावृत्त्या पादयोर्द्वितीयेन ।
यमके संजायेते गर्भ: संदष्टकं चेति ।। - का0 3/7

4- {क} वही, 3/8
{ख} वही, 3/9

तृतीय तथा चतुर्थ पाद में परस्पर आवृत्ति होने पर पुच्छ तथा प्रथम पाद की एक साथ अन्य पादों से आवृत्ति होने पर पंक्ति नामक यमक होता है।[1] यथा-

उत्तुङ्गमातङ्गकुलाकुले यो व्यजेष्ट शत्रून्समरे नदेव ।
स सारमानीय महारि वर्ज्यं प्रसार मानो यमहारिचक्रम्[2] ।।

इस पद में तृतीय- चतुर्थ पादों की परस्पर आवृत्ति होने से पुच्छ नामक यमक है तथा निम्नलिखित पद -

सभाज नेनोपरि पूरितासो सभाजने नोपरिपूरितासो ।
सभाजनेनोऽपरिपूरितासो सभाजने नोपरिपूरितासो[3] ।।

पंक्ति यमक का उदाहरण है क्योंकि इसमें प्रथम पाद की अन्य पादों में आवृत्ति हुई है।

उपर्युक्त भेदों में से गर्भ और आवृत्ति के योग से परिवृत्ति नामक यमक होता है तथा मुख और पुच्छ के योग से युग्मक नामक समस्तपादगत का नवां भेद होता है।[4] इनके उदाहरणों से इनका रूप स्पष्ट हो जायेगा- "मुदा रतासो रमणो यता यां स्मरस्यदोऽलं कुलेन वोढा । स्मरस्यदोऽलंकुलेऽनवोढामुदारतासो रमणीयतायाम्[5] ।।

1- अन्योन्यं पश्चिमयोरावृत्त्या पादयोर्भवेत्पुच्छः ।
सर्वैः सार्धं युगपत्प्रथमस्य तु जायते पंक्तिः ।।

- का0 3/10

2- वही, 3/11।

3- वही, 3/12

4- परिवृत्तिर्नाम भवेद् यमकं गर्भावृत्तिप्रयोगेण ।
मुखपुच्छयोश्च योगाद्युग्मकमिति पादजं नवम् ।।

- वही, 3/13

5- वही, 3/14

प्रस्तुत पद्य में तृतीय पाद की द्वितीय पाद के साथ आवृत्ति होने के कारण गर्भ नामक यमक है तथा प्रथम पाद के साथ चतुर्थ पाद की आवृत्ति से आवृत्ति नामक यमक है और इन दोनों का योग उपर्युक्त पद्य में होने के कारण यह परिवृत्ति का उदाहरण है। इसी प्रकार-

विनायमेनो नयताऽसुखादिना विना यमेनोनयता सुखादिना ।
महाजनोऽदीयत मानसादरं महाजनोदी यतमानसादरम्[1] ।।

इस पद्य में मुख तथा पुच्छ का योग होने से युग्मक यमक है। ये सम्पूर्ण उपभेद समस्तपादगत के "पादावृत्त" नामक भेद के प्रभेद हैं। समस्तपादगत के अन्य दो भेदों अर्धावृत्त तथा श्लोकावृत्त को आचार्य रुद्रट ने समुद्गक तथा महायमक की संज्ञा दी है। पूर्वार्द्ध के पुनः आवृत्त होने पर समुद्गक {अर्धावृत्त} यमक होता है[2]। यथा -

ननाम लोको विदमानकेन महीन वारित्रमुदारधीरम् ।
न नामलोऽकोविदमानवेनमहीनवारित्रमुदारधीरम्[3] ।।

श्लोक के आवृत्त होने पर महायमक होता है[4] यथा-

स त्वारं भरतोऽवश्यामवलं विततारवम् ।
सर्वदा रणमानैषीदवानलसमस्थितः ।।
सत्त्वारम्भरतो वश्यमवलम्बिततारवम् ।
सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थितः[5] ।।

1- का० 3/15
2- अर्धं पुनरावृत्तं जनयति यमकं समुद्गकं नाम ।
- वही, 3/16 पूर्वार्द्ध
3- वही, 3/17
4- श्लोकस्तु बद्ध महायमकं......... ।।
- वही, 3/16 उत्तरार्द्ध
5- वही, 3/18-19

इस प्रकार रुद्रट ने मुख से लेकर महायमक तथा समस्तपादगत यमक के ग्यारह भेद किए हैं[1] और इसके बाद एकदेशगत यमकों का विवेचन किया है। इनकी रचना करने की विधि बताते हुए आचार्य रुद्रट कहते हैं - पाद को दो या तीन भागों में विभक्त कर उन विभक्त खण्डों को पुनः आवृत्त करके एकदेशगत यमक के भेदों की रचना करनी चाहिए।[2] उन विभक्त अंशों को उसी के स्थानीय भागों में अर्थात् प्रथम अर्द्ध प्रथम अर्द्धों में, द्वितीय अर्द्ध द्वितीय अर्द्धों में इत्यादि में रचना करनी चाहिए। इसके साथ-साथ अन्य स्थानीय अंशों में भी उन विभक्त अंशों को आवृत्ति करने पर यथा प्रथम अर्द्ध की द्वितीय अर्द्ध में आवृत्ति करने पर यमक के अनन्त भेद होते हैं।[3]

निश्चित स्थल पर आवृत्ति होने पर जो भेद हो सकते हैं, उन एकदेशगतयमक के भेदों को बताते हुए कहते हैं - श्लोक के चारों पादों के प्रथम अर्द्ध अन्य पाद में परस्पर आवृत्त होकर पूर्वोक्त पादावृत्ति के मुख, संदंश इत्यादि भेदों के क्रम से समस्तपादगतयमक की भाँति दस भेद उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार अन्त्य अर्द्ध भी दस यमक उत्पन्न करते हैं।[4] इनमें महायमक नामक ग्यारहवें भेद को क्यों छोड़ दिया गया है इस शङ्का का समाधान करते हुए टीकाकार नमिसाधु कहते हैं कि महायमक नामक भेद भी सम्भव है किन्तु महाकवियों में इस प्रकार का कहीं कोई उदा-

---

1- तदेवमेकादशैतानि ।। - वही, 3/16 उत्तरार्द्ध

2- पादं द्विधा त्रिधा वा विभज्य तमेकदेशजं कुर्यात् ।

- वही, 3/20 पूर्वार्द्ध

3- आवर्तयेत्तमंशं तत्रान्यत्रापि वा भूयः ।।
तत्रैवांशे प्रथमार्धानि प्रथमार्धेषु द्वितीयार्धानि द्वितीयार्धेष्वित्यादि क्रमेण ।
अन्यत्र वा यथांशान्तरेषु भूयः प्रभूतमावर्तयेत् । अंशान्तरावृत्तौ बहवो भेदा भवन्तीत्यर्थः। - वही, 3/20 उत्तरार्द्ध एवं संस्कृत टीका

4- आद्यर्धान्यन्योन्यं पादावृत्तिक्रमेण जनयन्ति ।
दश यमकान्यपरस्मिन् परिवृत्तया तद्वदन्यानि।।

- वही, 3/21

हरण नहीं मिलता। इसलिए दस ही भेद बताए गये हैं।[1] निश्चित स्थलों में आवृत्ति से होने वाले भेदों के पश्चात् भिन्न स्थल में आवृत्ति से होने वाले भेदों की विवेचना करते हुए रुद्रट सर्वप्रथम "अन्तादिक" नामक यमक का उल्लेख करते हैं। प्रथम पाद के अन्त्यार्द्ध के द्वितीय पाद के आद्यर्द्ध में आवृत्त होने पर, तृतीय पाद के अन्त्यार्द्ध के चतुर्थ पाद के आद्यर्द्ध में आवृत्त होने पर तथा इन दोनों स्थितियों के योग से अन्तादिक यमक तीन प्रकार का होता है।[2] इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं -

नारीणामलसं नाभि नलिनमाभि कदम्बकम् ।
परमास्त्रमनङ्गस्य कस्य नो रमतेऽमनः ।।[3 क]

पश्यन्ति पथिकाः कामशिखिधूम शिखामिव ।
इमां पयालयालीनां लयालीनां महावलीम् ।।[3ख]

पुष्यन्विलासं नारीणां सन्नारीणां कुलक्षयम् ।
आकल्पं वसुधासार सुधासार जगज्जय ।।[3ग]

द्वितीय पाद के अन्त्यार्द्ध के तृतीय पाद के आद्यर्द्ध में आवृत्त होने पर मध्य यमक होता है।[4] मध्य और समस्तान्तादिक के योग से वंश नामक यमक होता है।

1- यद्यपि चोभयत्रा पत्रैकादशोऽपि भेदः सम्भवति। यथा यादृशानि प्रथमश्लोक आद्यन्तानि वार्धानि कृतानि तादृशान्येव तानि लोकान्तरे क्रियन्त इति कृत्वा तथापि महाकवीनां च क्वचिद् एवंविधं लक्ष्यं दृश्यत इति दशैव भेदाः उक्ताः । - वही, 3/22 टीका

2- प्रथम तृतीयान्त्यार्धे तदनन्तरभागयोः परावृत्ते ।
अन्तादिकमिति यमकं व्यस्तसमस्ते त्रिधा कृतः।।
- वही, 3/23

3- {क} वही, 3/24• {ख} वही, 3/25• {ग} वही, 3/26•

4- द्वैतीयमन्त्यमर्धं परिवृत्तमनन्तरे भवेन्मध्यम् । - वही, 3/27 पूर्वार्द्ध
यथा- समस्तभुवनव्यापियशस्तरसेहते ।
रसेहते प्रियं कर्तुम् प्राणैरपि महीपते ।।
- वही, 3/28•

अर्थात् प्रथम पाद के अन्त्यार्द्ध के द्वितीय पाद के आद्यर्द्ध में, द्वितीय पाद के अन्त्यार्द्ध के तृतीय पाद के आद्यर्द्ध में तथा तृतीय पाद के अन्त्यार्द्ध के चतुर्थ पाद के आद्यर्द्ध में आवृत्त होने पर वंश नामक यमक होता है।[1] यथा-

> ग्रीष्मेण महिमानीतौ हिमानीतौयशोभित्‌ः ।
> यशोऽभितः पर्वतस्य पर्व तस्य हि तन्महत् ।।[2]

अन्तादिक के छठें भेद चक्र यमक में प्रथम पाद के आद्यर्द्ध में चतुर्थ पाद के अन्त्यार्द्ध में आवृत्त होने के साथ-साथ वंश नामक यमक का भी प्रयोग होता है।[3] यथा -

> सभाजनं समानीय स मानी यः स्फुटन्नपि ।
> स्फुटं न पिहितं चक्रे हितं चक्रे सभाजनम् ।।[4]

अन्तादिक यमक के पश्चात् रुद्रट ने आद्यन्तक यमक का विवेचन किया है। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पाद के आद्यर्द्ध के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पादों के अन्त्यार्द्ध में आवृत्त होने पर आद्यन्तक यमक होता है, जो अन्तादिक की ही भाँति छः प्रकार का होता है।[5]

1- मध्यलमस्तान्तादिकयोगादपि जायते वंशः ।।
- वही, 3/27 उत्तरार्द्ध

2- वही, 3/29

3- आवृत्तं प्रथमादौ द्वितीयमर्धं चतुर्थपादस्य ।
वंशश्च चक्रकाख्यं षष्ठं वान्तादिकं यमकम्।।
- वही, 2/30

4- वही, 3/31।

5- प्रथमादिप्रथमार्धैः परिवृत्तान्यत्र सार्धमर्धानि ।
अन्त्यान्यनन्तराणां जनयन्त्याद्यन्तकं नाम ।।-वही, 3/32
इदमप्यन्तादिकवत्क्रमेण षोढेव भिद्यते भूयः ।।-वही, 3/33 उत्तरार्द्ध

अर्द्धपरिवृत्ति यमक में प्रथम तथा तृतीय पाद के आद्यार्द्ध द्वितीय एवं चतुर्थ पाद के अन्त्यार्द्ध में आवृत्त होते हैं, साथ ही समस्तान्तादिक का भी इसमें योग होता है।[1] यथा-

ससार सार्कं दर्पेण कन्दर्पेण ससारता ।
शरन्नवाना बिभ्राणा नाबिभ्राणा शरं नवा ।।[2]

एक या दो पाद का अन्तर देकर अथवा बिना अन्तर दिए एक- एक करके अथवा एक साथ ही सभी पादों में उसी पाद के आवृत्त होने पर "पादसमुद्गक" यमक होता है।[3] नमिसाधु ने इसके पन्द्रह भेद भी किए हैं, यद्यपि रुद्रट ने इसके उपभेद नहीं बताए हैं। इसके उदाहरण रूप में केवल तीन पद्य उद्धृत किए हैं।[4] नमिसाधु के अनुसार- "प्रथम और तृतीय में द्वितीय से, द्वितीय और चतुर्थ में तृतीय से प्रथम, तृतीय और चतुर्थ में द्वितीय से, प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ में तृतीय से, अन्तर होने पर एकान्तरित चार प्रकार का होता है। प्रथम और चतुर्थ में द्वितीय और तृतीय से अन्तर होने पर- दो के अन्तर में एक ही प्रकार का अन्तरित होता है। इस प्रकार अन्तरित पाँच प्रकार का होता है। अन्तर न होने पर भी प्रथम और द्वितीय में एक साथ, द्वितीय और तृतीय में, तृतीय और चतुर्थ में- इस प्रकार दो

1- प्रथमतृतीयार्द्धे तदनन्तरचरमयोः परावृत्ते ।
भवति समस्तान्तादिक योगादर्द्धपरिवृत्तिः ।।
- वही, 3/34

2- वही, 3/35

3- पादसमुद्गकसंज्ञं तत्रावृत्तानि कुर्वते तज्ज्ञ ।
अन्तरितानन्तरितव्यस्तसमस्तेषु पादेषु ।।- वही, 3/36

4(क) मुदा सेनामुदासेनादसौ तामसमुत्सवम् ।
महीनाथमहीनाथ जयश्रीरातिलिङ्गतम् ।
(ख) यत्त्वया शात्रवं जन्ये मदायतमदायत ।
तेन त्वामनुरक्तेयं रसायत रसायत ।।
(ग) रसासार रसासार विदा रणविदारण ।
भवतार भवतारं महीयत महीयत ।।
- वही, 3/37, 38, 39

के योग में तीन प्रकार का होता है। तीन के योग में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय और द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ में- यह दो प्रकार का होता है, इस प्रकार बिना अन्तर के पादसमुद्गक पाँच प्रकार का होता है। यह पृथक्- पृथक् चारों पादों में चार प्रकार का होता है तथा एक साथ प्रयोग होने पर एक प्रकार का। इस प्रकार "पादसमुद्गक" के पन्द्रह भेद हुए।[1]

तीन प्रकार के अन्य भेदों को बताते हुए रुद्रट कहते हैं कि आद्यर्ध के आदि में विभक्त होकर उसी विभक्त अंश में आवृत्त होने पर वक्त्र तथा अन्त्यार्ध के आदि में विभक्त होकर उसी विभक्त अंश में आवृत्त होने पर शिखा तथा इन दोनों के योग में माला यमक होता है।[2] इनके उदाहरण निम्नलिखित हैं -

"अनाअनाभिनोजानामास्थामास्थाय शाश्वतीम् ।
चलाचलापि कमले लीलालीनाभिहावली ।।
यासां चित्ते मानोऽमानो नारीभिर्योऽरं ता रन्ता।
सोऽरप्रेमा सन्नासन्ना जायैत्वानन्ता नन्ता ।।
भीताभीता सन्नासन्ना सेना सेनागत्यागत्या ।
धीराधीराद त्वा हत्वा संत्रासं त्रायस्वायस्वा।।[3]

मध्य, आद्यन्त और काञ्ची नामक यमकों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि मध्य में अर्धांश के उसी स्थल में आवृत्त होने पर मध्य नामक यमक होता है। इसी प्रकार आद्यन्त आवृत्त होकर आद्यन्त यमक उत्पन्न करते हैं। दोनों का एक

1- वही, 3/36 संस्कृत टीका

2- आवृत्तानि तु तस्मिन्नाद्यन्त्यार्धांशे विभक्तानि ।
वक्त्रं तथा शिखान्त्यान्युभयानि च जायते माला।।
- वही, 3/40

3- का० 3/41, 42, 43.

साथ प्रयोग होने पर काञ्ची यमक होता है। यथा-

"सन्तोऽस्वत एत प्राणानिमानिह निहन्ति न: ।
सदाजनो जनोऽयं हि योद्धुं सदसदक्षम: ।।[2क]

दीना दृप्तविशारदीना शरापादितमाशरा ।
सेना तेन पराते ना रणे कुञ्जीवितेरणे ।।[2ख]

या मानीतानीतायामा लोकाधीरा धीरालोका।
सेनासन्नासन्ना सेना सारं हत्वाह त्वा सारम् ।।[2ग]

ये तीनों क्रमश: मध्य, आद्यन्त और काञ्ची के उदाहरण हैं।

एकदेशगत यमक के उपर्युक्त सभी भेदों में पाद को दो भागों में विभक्त करके विवेचन किया गया है। इनके पश्चात् उक्त यमक के कुछ और भेदों का रुद्रट ने विवेचन किया है, जिनमें पाद तीन भागों {आदि, मध्य तथा अन्त } में विभक्त होता है। पादावृत्ति की ही भाँति इनके भी दस-दस उपभेद होते हैं, कुल मिला कर ये तीस प्रकार के होते हैं।[3] अन्तादिक तथा आद्यन्तक की भाँति तीन भागों में विभक्त पाद भी छ: प्रकार के यमक तथा अर्धपरिवृत्ति को उत्पन्न करता है।[4] इस प्रकार इन तेरह उपभेदों के साथ वक्त्र, शिखा, माला, मध्य, आद्यन्त तथा काञ्ची

1- मध्यान्यर्धार्धानि तु मध्यं कुर्वन्ति तत्र परिवृत्त्या ।
आद्यान्ताभ्यामन्तं काञ्चीयमकं तदेकत्र ।। - वही, 3/44

2- {क} वही, 3/45
{ख} वही, 3/46
{ग} वही, 3/47

3- पादस्त्रिधा विभक्त: सकलस्तत्रादिमध्यपर्यन्ता: ।
तेऽप्यपरत्रावृत्त्या दश दश यमकानि जनयन्ति ।। -वही, 3/48
एवं त्रिंशद्यमकानि भवन्ति । - वही, टीका

4- अन्तादिकमिव षोढा विभिन्नमेतत्करोति तावन्ति ।
यमकान्याद्यन्तकवत्तथापरामर्धपरिवृत्तिम् ।।
- वही, 3/50

नानाः उपभेदों का भी इसमें रचना की जानी चाहिए।[1] उक्त एकदेशगत यमक का स्थानकृत नामक एक अन्य उपभेद भी तीन प्रकार का होता है- आदिभाग के मध्य में आवृत्त होने पर आदि, मध्य, आदि भाग के अन्त में आवृत्त होने पर आन्त तथा मध्यभाग के पाद के अन्त में आवृत्त होने पर मध्यान्त नामक तीन प्रकार होते हैं।[2] इनके उदाहरण निम्नलिखित हैं -

> स रणेन उरणेन नृपो बलिनावलिनारिजनः ।
> पदमाप दमात्स्वमतेरुचितं रुचितं च निजम् ।।
> जनाजनार्यं न नभा जनाजनानुदारयन्नति मनोऽनुदारयन् ।
> सखेऽद्यं तामविलास खेदयन्महोयसे गोरथया न होयसे ।।
> असतामहितो युधि सारतया रतया ।
> स तयोरुभवे रुभवे परमेभवते भवते[3] ।।

इन सभी भेद- प्रभेदों में स्थान {देश} अर्थात् पाद के आदि, मध्य तथा अन्त इत्यादि स्थान तथा अवयव अर्थात् अर्ध, त्रिभाग इत्यादि की अपेक्षा रहती है। किन्तु इनके अतिरिक्त भी यमक के और भेद- प्रभेद होते हैं, जिनमें स्थान तथा अवयव की अपेक्षा नहीं होती, रुद्रट के मतानुसार ऐसे यमकप्रभेदों की संख्या असीम होती है।[4]

1- कृत्वावंशश्च भागानिहापि सर्वं तथा रचयेत् ।।
- वही, 3/5। उत्तरार्द्ध

2- स्थानाभिधानभाञ्जि त्रीण्यन्यानीति सन्ति यमकानि ।
आदिर्मध्येऽन्ते वा मध्योऽन्ते तत्र परिवृत्तः ।।
- वही, 3/52.

3- वही, 3/53, 54, 55.

4- यमकानां गतिरेषा देशावयवावपेक्षमाणानाम् ।
अनियतदेशावयवं तदपरमसंख्यं सदेवास्ति ।।
- वही, 3/56.

इसके उदाहरण रूप में रूद्रट ने दो पद्य भी उद्धृत किए हैं।[1] 'कमलिनी मलिनी' इत्यादि प्रथम उदाहरण में प्रथमार्ध में छः वर्ण हैं, उसमें प्रथम वर्ण को छोड़कर तीन {द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ} वर्णों की आवृत्ति हुई है, इस प्रकार इसमें स्थान अथवा अवयव अनिश्चित हैं। इसी प्रकार दूसरा पद्य भी इसी प्रकार के यमक का स्थल है।

रूद्रट के इस यमक-विवेचन से स्पष्ट है कि इनका यमक-सम्बन्धी विस्तार वैज्ञानिक, साथ ही सरल भी है। इनका यह सम्पूर्ण विवेचन न तो दण्डी की भाँति अत्यधिक विस्तृत अतएव दुर्बोध है और न ही भामह इत्यादि की भाँति अत्यधिक समासित है। रूद्रटकथित यमक के उपर्युक्त सभी भेदों में अन्याचार्यों को मान्य सभी भेदों का समावेश होता है।

सरस्वतीकण्ठाभरण में यमक- भेदों के प्रसङ्ग में "स्वरूपानन्दभाष्य" नामक हिन्दी टीका में यह लिखा गया है कि "रूद्रट ने प्रायः पादगत भेद का ही सहारा लिया है, भोज ने स्थान, अस्थान और पाद- इन तीन आधारों पर वर्गीकरण किया है।[2] किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि यमक के प्रसङ्ग में स्थान एक पाद को एवं एक अथवा अनेक पाद के आदि, मध्य तथा अन्त भागों को कहा जाता है। जैसा वामन के कथन से ही स्पष्ट हो चुका है। रूद्रट ने इन सभी दृष्टि से यमक के भेद किए हैं। जहाँ तक अस्थान का प्रश्न है, अन्त में रूद्रट ने उसका भी उल्लेख किया है, जैसाकि पूर्व विवेचन से ही स्पष्ट है। अतः यही मानना उचित है कि रूद्रट ने सभी दृष्टियों से यमक के भेद- प्रभेद किए हैं।

1- {क} कमलिनीमलिनी दयितं विना न सहते सह तेन निषेवितम् ।
तमधुना मधुना निहितं हृदि स्मरति सा रतिसारमहर्निशम्।।
{ख} कमलिनी सरसा सरसामियं विकसितानवमं नवमण्डनम् ।
किमिति नाकिमता किमताकृतं मधुकरेणु वताणवता कृतम् ।।
— वही, 3/57-58.

2- स0 कं0 भ0 2/पृ0- 292.

परवर्ती आचार्यों में केवल भोज ही ऐसे हैं, जिन्होंने इस यमक के भेद-प्रभेदों की चर्चा की है, उनके विवेचन पर अग्निपुराण का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।[1] यद्यपि यमक के भेदों की निश्चित संख्या के विषय में भोज ने कुछ नहीं कहा है किन्तु "स्वरूपानन्दभाष्य" के अनुसार तीन सौ पन्द्रह भेद केवल स्थान यमक के हैं।[2] अस्थान यमक तथा पादयमक के भी अनेक भेद-प्रभेदों का भोज ने उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त तीन प्रकार प्रकार के समुद्गयमक तथा महायमक का भी उन्होंने उल्लेख किया है।[3]

भोज के बाद मम्मट ने पादवृत्ति तथा पादभागवृत्ति से यमक को . दो प्रकार का कहा है,[4] जो रूद्रट के समस्तपादगत तथा एकदेशगत के ही नामान्तर हैं। पादवृत्ति यमक के मम्मट ने ग्यारह भेद किए हैं, ये ग्यारह भेद रूद्रट के मुख, संदंश, आवृत्ति, गर्भ, सन्दष्टक, पुच्छ, पंक्ति, युग्मक, परिवृत्ति, समुद्गक तथा महायमक ही हैं, किन्तु मम्मट ने इन संज्ञाओं की उपेक्षा की है। रूद्रट ने जिस प्रकार एकदेशगत यमक में पाद के दो और तीन अंश {भाग} करके विवेचन किया है, उसी प्रकार मम्मट ने पादभागवृत्ति के भेद किए हैं। पाद के चार भागों के अनुसार सजातीय पादभागवृत्ति के चालीस भेद किए हैं। विजातीय पादभागवृत्ति की आवृत्ति से होने वाले अन्तादिक, आद्यन्तिक इत्यादि रूद्रटकथित भेद भी उन्हें मान्य थे। मध्यादिक, आदिमध्य, मध्यान्तिकादि का उन्होंने नामनिर्देश किया है। इसी प्रकार एक ही पाद में भागावृत्ति से होने वाले भेदों का भी आंशिक

1- वही, 2/59.
2- वही, पृ0- 294.
3- वही, 2/63-67.
4- यमकं पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ।
 - का0 प्र0 9/83 उत्तरार्ध

रूप में उन्होंने उल्लेख किया है।[1] स्पष्ट है कि मम्मट को रुद्रटसम्मत यमक के लगभग सभी भेद मान्य थे, किन्तु उन्होंने उनके लक्षण इसलिए नहीं किए क्योंकि उनके मत में यह भेद-प्रपञ्च रसास्वाद के भीतर एक नीरस ग्रन्थि है।[2]

अलङ्कार- सर्वस्व की विमर्शिनी टीका के टीकाकार जयरथ ने मम्मट का अनुसरण करते हुए इसे काव्यरसचर्वणा में विघ्नकारक माना है और इसीलिए वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि भेद-निर्देश प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थांश को जैसा का तैसा मानना उचित है।[3] सम्भवतः परवर्ती आचार्यों ने उपर्युक्त मान्यता को स्वीकार कर यमक के भेदों की चर्चा ही समाप्त कर दी।

शब्दश्लेष -

आचार्य रुद्रट से पूर्व प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों ने श्लेष का विवेचन अर्थालङ्कारों के बीच किया था और उसे श्लिष्ट की संज्ञा दी है।[4] केवल वामन ने ही इसके लिए "श्लेष" संज्ञा का प्रयोग किया है,[5] किन्तु उन्होंने भी इसकी गणना अर्थालङ्कारों के मध्य की है।

1- का० प्र० 9/93 वृत्तिभाग

2- तदेतत्काव्यान्तर्गडुभूतम् । इति नास्य भेद लक्षणं कृतम् ।
 - का० प्र० 9/ पृ०- 442.

3- अतश्च भेदनिर्देशग्रन्थो यथास्थित एव ज्यायान् । संक्षेपतः इति। एतच्च काव्यात्मभूतरसचर्वणा प्रत्यूहकारित्वात्प्रपञ्चयितुं न योग्यमिति विरतना-लङ्कारवन्न विभज्य लक्षितमिति भावः ।
 - अ० स० पृ०- 68.

4- {क} ....श्लिष्टं तदभिधीयते । - का० 3/14.
{ख} श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः । - का०द० 2/310.
{ग} ..... श्लिष्टमिहोच्यते। - का०सा०सं० 4/9.

5- स धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेषः । - का० सू० वृ० 4/3/7.

रुद्रट ही वह प्रथम काव्यशास्त्री हैं, जिन्होंने शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष का शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार - इन दो वर्गों में पृथक्- पृथक् विवेचन किया है। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि "श्लेष शब्दालङ्कार तो है ही साथ ही साथ अर्थालङ्कार भी है और वह अर्थश्लेष शब्दश्लेष से भिन्न है।[1] यद्यपि उद्भट इनसे पूर्व ही शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष का श्लिष्ट के अन्तर्गत् विवेचन कर चुके थे[2] तथापि उन्होंने भी अन्य आचार्यों की भाँति अर्थालङ्कारों के मध्य ही इसका विवेचन किया था, इससे यही प्रतीत होता है कि ये भी इसे अर्थालङ्कार ही मानते हैं। रुद्रट के "काव्यालङ्कार" में श्लेष के सन्दर्भ में एक नवीनता यह भी है कि उन्होंने अर्थालङ्कारों के चतुर्विध विभाजन {वास्तवमूलक, औपम्यमूलक, अतिशयमूलक तथा श्लेषमूलक} में श्लेष की एक ऐसे सामान्यभूत तत्त्व के रूप में चर्चा की है, जो अनेक अर्थालङ्कारों के मूल में निहित है।

रुद्रट से पूर्व "काव्यशास्त्र में श्लिष्ट का क्या स्वरूप था" इस पर विचार अपेक्षित प्रतीत होता है। भामह के अनुसार गुण, क्रिया तथा नाम के द्वारा उपमेय का उपमान के साथ तादात्म्य प्रतिपादन ही श्लिष्ट अलङ्कार है[3] साथ ही रूपक से श्लेष का भेद प्रदर्शित करते हुए वे कहते हैं कि यह लक्षण रूपक में भी घटित होता है, किन्तु श्लेष में उपमान तथा उपमेय का एक साथ प्रयोग अभीष्ट होता है, रूपक

1- वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम् ।
शब्दस्यालङ्काराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु ।।
- का० 2/13.

2- एक प्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम् ।
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते ।।
- का० सा० सं० 4/9

3- उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते ।
गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते ।।
- का० 3/14.

में नहीं[1], यथा-"शीकराम्भोमदसृजस्तुङ्‌गा जलदन्तिनः" यहाँ मेघ तथा गज का युगपद् प्रयोग किया गया है।[2] इनका श्लिष्ट- सम्बन्धी यह विवेचन परवर्ती आचार्यों के मत से भिन्न प्रतीत होता है।

भामह की अपेक्षा दण्डीकृत श्लेष का लक्षण अधिक स्पष्ट तथा समीचीन है। उनके अनुसार अनेकार्थक एकरूपान्वित उक्ति को श्लिष्ट कहते हैं तथा भिन्नपद एवं अभिन्नपद के भेद से यह दो प्रकार का होता है।[3] इनके उदाहरणों[4] से स्पष्ट है कि अभिन्नपद तथा भिन्नपद से अभङ्‌ग तथा सभङ्‌ग श्लेष में इनका तात्पर्य है।

उद्भट ने इस अलङ्‌कार के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया है। उनके अनुसार {भिन्नार्थक होते हुए भी} जो शब्दबन्ध एक ही प्रयत्न से उच्चरित हों अथवा स्वरितादि गुणों के कारण भिन्न होते हुए भी एक से प्रतीत होते हों उन्हें श्लिष्ट कहते हैं।[5] एक प्रयत्न से उच्चरित होने वाले शब्दबन्धों के {स्वरितादि} स्वर, व्यञ्जन, उच्चारणस्थान तथा प्रयत्न समान होते हैं। किन्तु कुछ ऐसे शब्द- बन्ध होते हैं, जिनके स्वर, व्यञ्जनादि भिन्न होने पर भी वे एक समान प्रतीत होते हैं। एक प्रयत्न से उच्चरित शब्द- बन्धों के स्थल पर अर्थश्लेष

1- लक्षणं रूपकेऽपीदं लक्ष्यते काममत्र तु ।
इष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः ।। - वही, 3/15

2- शीकराम्भोमदसृजस्तुङ्‌गाः जलदन्तिनः ।
इत्यत्र मेघकरिणां निर्देशः क्रियते समम् ।।- वही, 3/16

3- श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः ।
तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा ।। - का० द० 2/310.

4- {क} असावुदयमारूढः कान्तिमान् रक्तमण्डलः ।
राजा हरति लोकस्य हृदयं मृदुभिः करैः ।।-
{ख} दोषाकरेण सम्बध्नन्नक्षत्रपथवर्तिना ।
राज्ञा प्रदोषो मामित्थमप्रियं किं न बाधते।।- वही, 3/311-12

5- एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम् ।
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते।।
- का० सा० सं० 4/9.

होता है तथा समान प्रतीत होने वाले किन्तु मूलतः भिन्न शब्दबन्ध शब्दश्लेष में होते हैं।[1]

सम्भवतः उद्भट से प्रभावित होकर ही रुद्रट ने श्लेष के उक्त दोनों रूपों को स्वीकार किया है। सम्प्रति रुद्रट के शब्दालङ्कारगत श्लेष {शब्दश्लेष} की समीक्षा की जा रही है। उनके अनुसार शब्दश्लेष वहाँ होता है, जहाँ ऐसे अनेक वाक्य एक ही समय में एक साथ उच्चरित किए जायें, जिनमें भलीभाँति श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट अनेक प्रकार के पदों की सन्धि हो और जो अभिप्रायार्थ को कहने में समर्थ हो[2] अर्थात् अनेक वाक्य भिन्न अर्थों वाले होने पर भी वर्ण-विन्यास की दृष्टि से एक ही प्रतीत होते हों, फलतः उन्हें पृथक्-पृथक् उच्चरित करने की आवश्यकता न हो और एक ही उच्चारण से वर्णविन्यास के क्रम में अभेद के कारण अनुच्चरित भी साथ-साथ उच्चरित समझ लिए जायें। रुद्रट ने उपर्युक्त लक्षण में "पदसन्धि" शब्द का ग्रहण किया है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अभङ्ग श्लेष को इन्होंने शब्दश्लेष नहीं माना है। इसके अतिरिक्त शब्दश्लेष के उन्होंने वर्णादि जो आठ भेद किए हैं,[3] वे सभङ्ग श्लेष के ही भेद हैं, अभङ्ग के नहीं।

1- यत्र तु एकानेकत्वानेकत्वरूपत्वात् स्वराणां चोदात्तत्वानुदात्तत्वादिना स्थानानां चोष्ठ्यदन्त्यौष्ठ्यत्वादिना प्रयत्नानां च लघुत्वालघुत्वादिना .... एवं चावस्थिते ये तन्त्रेणोच्चारयितुं शक्यन्ते, ते एकप्रयत्नोच्चार्याः। तद्बन्धे सत्यर्थश्लेषो भवति। .....। तथा ये तेषामेकप्रयत्नोच्चार्याणां शब्दानां छायां सादृश्यं बिभ्रति तदुपनिबन्धेन शब्दश्लिष्टं शब्दान्तरे उच्चार्यमाणे सादृश्यवशेनानुच्चरितस्यापि शब्दान्तरस्य श्लिष्टत्वात्। तदुक्तं तच्छायां चैव बिभ्रताम्। - का० सा० सं० लघुवृत्तिटीका, पृ०-365-66.

2- वक्तुं समर्थमर्थं सुश्लिष्टाश्लिष्टविविधपदसन्धि।
युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयेत स श्लेषः ॥- का० 4/1

3- वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम्।
अत्रायं मतिमद्भिर्विधीयमानोऽष्टधा भवति ॥
- वही, 4/2

इन्होंने शब्दश्लेष के उपर्युक्त आठ भेदों का क्रम उदाहरणसहित विवेचन किया है। जो निम्नलिखित हैं – उनके अनुसार जहाँ पर विभक्ति, प्रत्यय तथा वर्ण के कारण विविध वर्णों की एकरूपता प्रतीत होती है, उसे वर्णश्लेष कहते हैं।[1] यथा –

साधो विधावधलविपराहायास्थितं विवादमितः ।
आधारि दानवत्वं तद्धर्म्यं परमकुर्वाणि: ।।[2]

इस पद्य में "साधो" तथा "विधो" पदों में सम्बोधन विभक्ति के कारण उकार तथा उकार में एकरूपता आ गयी है। वास्तव में जहाँ पर एक अर्थ में "साधि" तथा "विधि" पद है एवं दूसरे अर्थ में "साधु" तथा "विधु" पद हैं। इसी प्रकार "आस्थितम्" में क्त तथा क्तवतु प्रत्ययों के कारण, "दत्तः" में तद्धित तथा क्त प्रत्ययों के कारण तथा "तद्धर्म्यम्" में अकार और इकार वर्णों के कारण एकरूपता प्रतीत होती है, अतः यह वर्णश्लेष का स्थल है ।

जिसमें पदभङ्ग होने पर विविध प्रकार के विभक्तिप्रयोग और समासयोग उत्पन्न हो जाते हैं, उसे रुद्रट ने पदश्लेष कहा है,[3] यथा –

सुरतरूलतालतागलन्नमनोदकजालाकुवारोहम् ।
नगराजिदन्तकुञ्जरस्मिते नमदगी सरोरमदः ।।
नवरोमराजिराजितालिवलयमनोहरतरसारं भाः ।
धवलयति रोहितानवमद्ध्यानमदापितस्तनि ते ।।[4]

1– यत्र विभक्तिप्रत्ययवर्णवशादेकरूप्यमापतति ।
वर्णानां विविधानां वर्णश्लेषः स विज्ञेयः ।।
– वही, 4/3

2– वही, 4/4

3– यस्मिन्विभक्तियोगः समासयोगश्च जायते विविधः ।
पदभङ्गेषु विविक्तो विज्ञेयोऽसौ पदश्लेषः ।।
– वही, 4/5

4– वही, 4/ 6–7

प्रस्तुत पद्य में "समराजिदन्तरुचिरस्मिते" पद का कामिनी के पक्ष में - समं राजिः येषां ते दन्ताः तैः रुचिरः स्मितः यस्याः सा, सम्बोधने - यह पदभङ्ग होगा तथा वीर के पक्ष में समरम् आसमन्तात् जयन्ति इति समराजितो ये तेषाम् अन्तेः रुचिः यस्य तथाविधोऽहम् अस्मि, ते- इस प्रकार पदभङ्ग होगा।

लिङ्गश्लेष के स्थलों में स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग वाले शब्दों में कहीं दीर्घ मात्रा के ह्रस्व होने से कहीं ह्रस्व के दीर्घ होने से तथा कहीं समास के कारण सारूप्य होता है।[1] यथा-

> देवी महो कुमारी पद्मानां भवानी रसाहारी ।
> सुखनो राज तिरोऽहितमहिमानं यस्य सद्धारी[2] ।।

{राजा के पक्ष में} देवी {दीव्यतीति} अर्थात् क्रीड़ारत, महो अर्थात् उत्सववान्, कुमारी अर्थात् कुत्सित, वीर आदि का वध करने वाले अथवा कु अर्थात् पृथ्वी तथा मार अर्थात् कामदेव से युक्त। पद्मानां भवानी अर्थात् भृत्यों को लक्ष्मी प्रदान करने वाले, रसाहारी अर्थात् रसा- पृथ्वी का आहरण- विजय करने वाले अथवा मधुरादि रसों का आहार करने वाले, सुखनी- {सेवकों को} सुख देने वाले तथा सद्धारी अर्थात् शिष्टों की सङ्गति करने वाले अथवा सुन्दर हार वाले {हे राजन्} राज अर्थात् शोभित हो तथा अहिमानम् अर्थात् अहि {राक्षस} के समान अहंकार वाले शत्रु को नष्ट करो।

{पृथ्वी पक्ष में} नित्य तरुणी, कमलों को उत्पन्न करने वाली, रसाज्जलि आदि से युक्त, शोभनकरा, {अनन्त की} महिमा- माहात्म्य को रोहित-आरोपित करने वाली तथा सद्धारी- विद्यमान वस्तुओं को धारण करने वाली देवी पृथ्वी {मही} राजति सुशोभित होती है।

1- स्त्रीपुंनपुंसकानां शब्दानां भवति यत्र सारूप्यम् ।
लघुदीर्घत्वसमासैर्लिङ्गश्लेषः स विज्ञेयः ।।
- काव्यालङ्कार 4/8

2- वही, 4/9

उपर्युक्त पद्य में एक अर्थ में सभी शब्द राजा के विशेषण हैं, अतः पुल्लिङ्ग शब्द हैं तथा दूसरे अर्थ में पृथ्वी के विशेषण होने के कारण स्त्रीलिङ्ग शब्द हैं। इनमें एकरूपता के कारण लिङ्गश्लेष है।

भाषा- श्लेष उन स्थलों में होता है, जहाँ जितने अर्थ कवि को विवक्षित होते हैं, भिन्न भाषाओं के उतने ही वाक्य उच्चरित किए जाते हैं।[1] अर्थात् भिन्न भिन्न भाषाओं के भिन्न- भिन्न अर्थों वाले वाक्यों का एक साथ निबन्धन ही भाषा- श्लेष है। यथा -

सरसबलं स हि सरोऽसङ्गामे माणवं धुरसहावं ।
मित्तमसीसरदवरं ससरणमुद्धर इमं दवलम्[2] ॥

ससरणमुद्धरः - ससरण- तानयुक्त योगियों के मुद् हर्ष को धारण करने वाले मित्तम् - कृपणों पर दया करने वाले, स सुरो - उस सूर्य ने, सरसबलं - गति लाभ के कारण शक्तिसम्पन्न असङ्गामे - असम्पर्कयोग्य रोग होने पर धुरसहावम् - "धुः [धुरि] पहले ही असहा- असमर्थ अवा- वेतों वाले, इमं तं अवरं दवलं माणवम् - इस रोग के कारण कुत्सित तापयुक्त उस मनुष्य को असीसरद् - चलने- फिरने योग्य बना दिया। संस्कृत भाषा के आधार पर उक्त पद्य का यह अर्थ है। प्राकृत भाषा के अनुसार -

स सुरो- वह वीर सङ्गामे- युद्ध में, सरसबलं - बाणों से चितकबरे, माणवन्धुरसहावम् - मान के कारण रमणीक स्वभाव वाले असीसरदवरं - तलवार से युद्ध करने वालों को ताप देने वाले ससरणम् - शरणागत के रक्षक [मित्र] को उद्धरइ - रक्षा करने वाला है क्योंकि [वह मित्र] मन्दवलम् - क्षीण शक्ति वाला है। इस प्रकार उक्त पद्य में इन दोनों भाषाओं का श्लेष है।

1- यस्मिन्नुच्चार्यन्ते सुव्यक्तविविक्तभिन्नभाषाणि ।
वाक्यानि यावदर्थं भाषाश्लेषः स विज्ञेयः ॥
- वही, 4/10

2- वही, 4/11

रुद्रट ने एक अन्य प्रकार के भाषा श्लेष का भी स्वरूप स्पष्ट किया है। इस भाषा श्लेष में एक वाक्य में अनेक भाषाओं का निबन्धन होता है, इसमें पूर्वकथित भाषा श्लेष के समान भाषाओं के पृथक्-पृथक् अर्थ नहीं होते अपितु इसमें जितनी भी भाषाएँ एक पद्य में निबद्ध होती हैं, सब एक ही अर्थ की वाचक होती हैं[1]। उदाहरण रूप में उद्धृत -

> समरे भीमारम्भं विमलासु कलासु सुन्दरं सरसम् ।
> सारं सभासु सुरिं तमहं सुरगुरुसमं वन्दे[2] ।।

इस पद्य में एक ही अर्थ में संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाएँ श्लिष्ट हैं। जिसका अर्थ इस प्रकार है -

रण में भीषण उद्योग करने वाले, निर्मल कलाओं में सुन्दर, श्रृङ्गारादि से युक्त, सभाओं में उत्कृष्ट, बृहस्पति-तुल्य उस विद्वान् को मैं नमस्कार करता हूँ।

इसके अतिरिक्त संस्कृत के साथ श्लिष्ट अन्य भाषाओं के भी उदाहरण रुद्रट ने उद्धृत किए हैं। उनके मतानुसार दो से अधिक भाषाओं का भी श्लेष हो सकता है[3]।

भाषाश्लेष के पश्चात् प्रकृतिश्लेष का विवेचन करते हुए आचार्य रुद्रट कहते हैं - जहाँ पर एक ही प्रत्यय, आगम और उपपद से नाना प्रकार की प्रकृतियों का सारूप्य सिद्ध होता है उसे प्रकृतिश्लेष कहते हैं[4]। यथा-

---

1- वाक्ये यत्रैकस्मिन्ननेकभाषानिबन्धनं क्रियते ।
   अयमपरो विद्वद्भिर्भाषाश्लेषोऽत्र विज्ञेयः ।। - वही, 4/16

2- वही, 4/17

3- अनयैव दिशा भाषास्त्र्यादि रचयेद्यथाशक्तितः ।।- वही, 4/22

4- सिद्ध्यति यत्रानन्यैः सारूप्यं प्रत्ययागमोपपदैः ।
   प्रकृतीनां विविधानां प्रकृतिश्लेषः स विज्ञेयः ।।- वही, 4/24

परहृदयविदसुरक्षितप्राणनमत्काव्यकृत्सुधारसनुत् ।
सौरमनारं कलयति सदसि महत्कालचित्सारम् ।।[1]

इस उदाहरण में सुरपक्ष तथा विद्वत्पक्ष के अर्थ श्लिष्ट हैं। सुरपक्ष में - शत्रु-मण्डल के साथ, मानवों से शून्य, शत्रुओं का हृदय वेधन करने वाला, राक्षसों के हितैषियों का प्राण मथने वाला, शुक्र का छेदन करने वाला, अमृत-रस को नमस्कार करने वाला, कृत्य-करण के समय में प्रभूत चैतन्य वाला सुर-मण्डल सभा में गणना करता है।

विद्वत् पक्ष में - दूसरों के चित्त को जानने वाला, प्राण-रहित हो गये लोगों के पुनः जीवित होने के कारण प्रसन्न, काव्य-रचना करने वाले, खलों को प्रेरित करने वाले, कलाओं का चयन करने वाले, शत्रु-समुदाय से रहित विद्वान् सभा में उत्तम का ही चयन करते हैं ।

इसमें व्यन्धि, विदि इत्यादि प्रकृतियाँ भिन्न होने पर भी क्विप् आदि प्रत्यय, परहृदय आदि उपपद तथा कालचित् आदि आगम के एक ही होने से स्वरूप प्रतीत होते हैं, अतः यह प्रकृतिश्लेष का स्थल है।

जहाँ प्रकृति प्रत्यय के अनेक समुदायों में प्रत्यय के कारण समरूपता प्रतीत होती है, उसे प्रत्ययश्लेष कहते हैं।[2] यथा-

तापनमार्जं पावनमारं हारं परापदाश्लेषुः ।
कारं वारणमाक्षितमाज दरं तार्क्ष्यं वक्षुः ।।[3]

1- वही, 4/25

2- यत्र प्रकृतिप्रत्ययसमुदायानां भवत्यनेकेषाम् ।
तारूप्यं प्रत्ययतः स ज्ञेयः प्रत्ययश्लेषः ।।
- वही, 4/26

3- वही, 4/27

इस पद्य में - {1} यह दासीपुत्र संताप देने वाले, आक्षेप करने वाले, शुद्ध मृत्यु कराने वाले हार को चुराकर पा गया। {उसने} शासकों से मिल सकने वाले, हृदय में समाये हुये हाथ- पैर के भय को अनेक बार त्याग दिया है।

{2} अनेक बार शीघ्र ही अखिल { राग आदि } के साधन संसार में प्राणियों को भ्रमण कराने वाली क्रिया के परित्याग के कारण {यह} आत्मा {ज्ञानी} सूर्य, विष्णु, वायु और शिव की गति को प्राप्त हो गया। - ये दो अर्थ श्लिष्ट हैं। यहाँ प्रत्यय के कारण प्रकृति और प्रत्यय के समुदायों में समरूपता आयी है।

विभक्तिश्लेष और वचनश्लेष का स्वरूप बताते हुए रुद्रट कहते हैं - जहाँ सुप् तथा तिङ् में परस्पर सब प्रकार से समरूपता होती है श्लेष के प्रबन्ध में उसे विभक्ति श्लेष कहते हैं, इसी प्रकार वचनश्लेष के स्थलों में एकवचन आदि में परस्पर समरूपता होती है।[1]

आयामो दानवतां सरति बले जीवतां न नाकिरताम् ।
नयदानवाँल्ललाभः किम्भूरसि दारुणः सहसा ॥[2]

उपर्युक्त पद्य में दानवीर के प्रसंग में आयामः, नयः, ललामः, किम्भूः तथा असि सुबन्त हैं तथा "सरति" पद तिङन्त है किन्तु देवता- प्रसङ्ग में ये पद ठीक इसके विपरीत हैं अर्थात् आयामः, नयः, ललामः, अमः तथा असि तिङन्त हैं और "सरति" सुबन्त। इनमें परस्पर समरूपता प्रतीत होने के कारण यहाँ पर विभक्तिश्लेष है। इसी प्रकार वचन- श्लेष के लिए जो पद्य रुद्रट ने उद्धृत किया है- "आर्योऽसि तरोमात्य:"[3] इत्यादि इसमें राजा सम्बन्धी अर्थ के पक्ष में सभी पद एकवचन में हैं किन्तु शत्रुरमणियों के अर्थ में ये पद बहुवचनान्त हैं। इन दोनों वचनों के सारूप्य से यह वचनश्लेष का स्थल है।

1- सारूप्यं यत्र सुपां तिङां तथा सर्वथा मिथो भवति ।
सोऽत्र विभक्ति श्लेषो वचनश्लेषस्तु वचनानाम् ॥
- वही, 4/28

2- वही, 4/29

3- आर्योऽसि तरोमात्यः सत्योऽभतकुथः स्तवावाच्यः ।
सन्नाभयो युवतयः सम्भुवः सुषमा वन्द्यः ॥

उपर्युक्त आठों शब्दश्लेषों के अतिरिक्त रुद्रट ने अन्य अलङ्कारों के साथ श्लेष के सङ्कर का प्रतिपादन करते हुए उपमा तथा समुच्चय के साथ इसके सङ्कर को विशेष चमत्कारी माना है।[1] यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि शब्दश्लेष के स्थलों पर केवल शब्द श्लिष्ट होता है, अर्थ नहीं, अतः अर्थ के साम्याभाव के कारण उपमा और समुच्चय में शब्दश्लेष का स्पर्श कैसे सम्भव हो सकता है।[2] इसका समाधान करने के लिए रुद्रट ने यह तथ्य प्रस्तुत किया है कि ये दोनों यद्यपि अर्थालङ्कार हैं, किन्तु शब्दमात्र साधारण धर्म का अवलम्बन करके उपमा तथा समुच्चय दोनों शब्दगत हो सकते हैं।[3]

रुद्रट के पश्चात् भोज ने शब्द-श्लेष का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने श्लेष को स्वमान्य अलङ्कारों के तीन वर्गों में से शब्दगत तथा उभयगत दो वर्गों में रखा है उन्होंने शब्दश्लेष का लक्षण इस प्रकार किया है- "जब तन्त्र द्वारा एक रूप वाले वाक्य से दो अर्थों का कथन किया जाता है, तो वहाँ श्लेष होता है।[4] "तन्त्र" शब्द के प्रयोग से इनका यह लक्षण उद्भट के मत के विपरीत प्रतीत होता है क्योंकि लघुवृत्ति टीका में यह कहा गया है कि "तन्त्र के द्वारा उन शब्दों का प्रयोग हो सकता है, जिनके स्वर स्थान तथा प्रयत्न समान हों, परन्तु जहाँ व्यञ्जनों की एकता अथवा अनेकता हो, स्वर उदात्त एवं अनुदात्त हो, प्रयत्न, लघु एवं अलघु आदि हों और इन सबके

1- भाषाश्लेष विहीनः स्पृशति प्रायोऽयमप्यलङ्कारम् ।
धत्ते वैचित्र्यमयं सुतराम् उपमासमुच्चयोः ।। - का० 4/31

2- नन्वत्र श्लेष वाक्यद्वये शब्दमात्रं श्लिष्टं भवति, न त्वर्थं इति साम्या-
भावस्तत्कथ कथमुपमासमुच्चयाभ्यां स्पर्शो घटते। - का०, पृ- 117.

3- स्फुटमर्थालङ्कारवेतावुपमासमुच्चयौ किं तु ।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सम्भवतः।।- वही, 4/32

4- एकरूपेण वाक्येन द्वयोर्भिन्नमर्थयोः ।
तन्त्रेण यस्तु शब्दैः श्लेष इत्यभिधानिदत: ।। - स०कं०भ० 2/63

कारण भिन्नार्थक शब्दों में भेद हो तो उन शब्दों का तन्त्र द्वारा प्रयोग सम्भव नहीं है, क्योंकि तन्त्र का प्रयोग साधारण शब्दों के लिए ही होता है, इस स्थिति में जिनका तन्त्र द्वारा उच्चारण सम्भव हो, वे एकप्रयत्नोच्चार्य माने जाते हैं और ऐसे शब्दों के बन्ध से अर्थ-श्लेष होता है।[1] उस तथ्य का पर्यवलोकन करने पर भोज- कथित शब्दश्लेष का लक्षण अर्थश्लेष का लक्षण प्रतीत होता है। किंतु "सरस्वतीकण्ठाभरण" की रत्नदर्पण नामक टीका में "तन्त्र" शब्द का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है- "अनेकसम्बन्धानामेकरूपेणवर्तनं तन्त्रमित्युच्यते" अर्थात् अनेक सम्बन्धों के एक रूप में होने को तन्त्र कहते हैं। वास्तव में श्लेष के प्रसङ्ग में तन्त्र का प्रयोग सर्वप्रथम वामन ने किया है- "स धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेषः।" उद्भट ने इसकी व्याख्या "एकप्रयत्नोच्चार्य" कहकर की है अर्थात् तन्त्र से तात्पर्य है एक प्रयत्न से उच्चरित होना । भोज ने प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति, वचन, पद तथा भाषा से उद्भूत कुल छः श्लेष के भेद कहे हैं।[2] स्पष्ट ही उन्होंने रुद्रट का अनुकरण किया है किन्तु वर्ण तथा लिङ्ग को पृथक्- पृथक् न मानकर इन्हीं में अन्तर्भूत कर दिया है। इनमें से प्रत्यय, वचन तथा विभक्ति श्लेष- भेदों के भी दो-दो उपभेद किए हैं।[3]

1- तत्रार्थभेदेन भिद्यमानाः शब्दाः केचित्तन्त्रेण शक्याः केचिन्न। येषां हल्स्वर- स्थानप्रयत्नादीनां साम्यं ते तन्त्रेण शक्यन्ते, यत्र तु हलामेकत्वानेकत्वरूपत्वात् स्वराणां चोदात्तत्वानुदात्तत्वादिना स्थानानां चौष्ठ्यदन्त्यौष्ठ्यत्वा- दिना प्रयत्नानां च लघुत्वालघुत्वादिना भेदस्तेषां तन्त्रेण प्रयोगः कर्तुमशक्यः साधारणरूपत्वात्तन्त्रस्य। तदुक्तम्- साधारणं भवेत्तन्त्रमिति। एवं चाव स्थिते ये तन्त्रेणोच्चारयितुं शक्यन्ते, ते एकप्रयत्नोच्चार्याः। तद् बन्धे सत्यर्थश्लेषो भवति। - का० सा० सं० लघुवृत्तिटीका, पृ०- 365-66

2- प्रकृतिप्रत्ययोत्थौ द्वौ विभक्तिवचनाश्रयौ ।
पदभाषोद्भवौ चेति शब्दश्लेषा भवन्ति षट् ।। - स०कं०भ० 2/69

3- [क] प्रत्ययश्लेषः सोद्भेदो निरुद्भेदश्च। वचनश्लेषो द्विधा- सोद्भेदः निरुद्भेदश्च ।
[ख] विभक्तिश्लेषो द्विधा- भिन्नजातीययोः, अभिन्नजातीययोश्च ।
- वही, पृ०- 332-334.

परवर्ती आचार्यों में मम्मट, हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ कविराज आदि ने रुद्रट का अनुसरण करते हुए श्लेष को शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों वर्गों में रखते हुए पूर्वोक्त शब्दश्लेष के आठ भेदों को स्वीकार किया है।[1] इन आचार्यों के अनुसार भिन्नार्थक होते हुए भी जहाँ शब्द एक उच्चारण के विषय होते हुए श्लिष्ट प्रतीत होते हैं, वहाँ शब्द श्लेष अलङ्कार होता है।[2] इन्होंने वर्णादि आठों भेदों को उदाहरणों से ही स्पष्ट कर दिया है, स्वरूप- प्रतिपादन नहीं किया है। सम्भवतः इस विषय में वे रुद्रट से पूर्णरूपेण सहमत थे। मम्मट उपर्युक्त आठ भेदों के अतिरिक्त "अभङ्ग" नामक शब्दश्लेष के नवें भेद की भी चर्चा करते हैं,[3] वर्ण विभक्ति इत्यादि श्लेष भेदों में पदभङ्ग की आवश्यकता होती है, अतः ये सभङ्ग श्लेष के उपभेद हैं किन्तु अभङ्ग श्लेष में जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है पदभङ्ग की आवश्यकता नहीं होती। श्लेष को लेकर मम्मट पूर्ववर्तियों के श्लेष- विवेचन के अधोलिखित तीन पक्षों को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित कर उनका खण्डन करते हुए अंत में अपना मत प्रस्तुत करते हैं -

[क] अभङ्ग श्लेष अर्थश्लेष है।

[ख] श्लेष के स्थल में अवश्य ही कोई अन्य अलङ्कार रहता है। ऐसे स्थलों में अन्य अलङ्कार अलङ्काराभास मात्र होते हैं तथा अर्थश्लेष ही विशेष अलङ्कार होता है।

[ग] अभङ्ग तथा सभङ्ग दोनों ही अर्थालङ्कार हैं क्योंकि श्लेष अर्थाश्रित होता है।

1- [क] स च वर्ण-पद-लिङ्ग-भाषा-प्रकृति-प्रत्यय-विभक्ति वचनानां भेदादष्टधा।
- का०प्र० 9/पृ- 449

[ख] वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि।
श्लेषाद् विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा ।।- सा०द० 10/11-12

2- [क] वाच्यभेदेनभिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषो........।। - का०प्र० 9/84

[ख] श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।- सा०द० 10/11

[ग] अर्थभेदभिन्नानां शब्दानां भङ्गाभङ्गाभ्यां युगपदुक्तिः श्लेषः।
- का०शा० 5/5

3- भेदाभावात् प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत् । - का०प्र० 9/पृ-449

मम्मट ने शब्दपरिवृत्तिसहत्व तथा शब्दपरिवृत्यसहत्व को अर्थश्लेष तथा शब्द-श्लेष का निर्धारक माना है।[1] इस आधार पर अभङ्ग श्लेष के स्थलों पर शब्दपरिवृत्यसहत्व के कारण उसे शब्दश्लेष ही मानना उचित है। द्वितीय शङ्का का समाधान करते हुए मम्मट ने अनेक उदाहरणों के माध्यम से यह तथ्य सिद्ध कर दिया है कि किसी अन्य अलङ्कार के साथ श्लेष का सङ्कर होने पर अन्य अलङ्कार ही प्रधान होता है तथा वही श्लेष की प्रतीति का उत्पादक होता है न कि श्लेष उसका आभास कराता है। शब्दश्लेष को अर्थालङ्कार नहीं कहा जा सकता-इसके लिए मम्मट ने चार युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, प्रथम तो जिसकी संज्ञा शब्दश्लेष है वह अर्थालङ्कार कैसे हो सकता है, द्वितीय - कवि अपनी प्रतिभा से जिसे {शब्द या अर्थ को} सुन्दर बनाता है, वही अलङ्कृत कहलाता है, अतः जहाँ श्लेष के प्रसङ्ग में कविसंरम्भ का विषय शब्दगत वैचित्र्य होता है वहाँ श्लेष को शब्दालङ्कार ही कहना चाहिए। तृतीय, अर्थाश्रित होने के कारण शब्दश्लेष को अर्थालङ्कार नहीं कहा जा सकता। यदि अर्थाश्रितता के आधार पर सभङ्ग श्लेष को अर्थालङ्कार मान लिया जाए तो शब्द और अर्थ के गुणदोष तथा अलङ्कारादि की कोई व्यवस्था नहीं रह जाएगी क्योंकि शब्ददोषादि तथा अर्थदोषादि किसी अंश में अर्थ तथा शब्द की अपेक्षा रखते हैं। चतुर्थ - एकप्रयत्नोच्चारण को यदि शब्दों में अभेद अर्थात् अर्थश्लेष का कारण समझ लिया जाए तो "विधौ" इत्यादि द्व्यर्थक पदों के स्थल में भी अर्थश्लेष ही होगा, किन्तु ऐसा नहीं होता अर्थात् यह शब्दश्लेष ही होता है, क्योंकि "विधि" तथा "विधु" इन दो शब्दों के सप्तमी एकवचन में यही {विधौ} एक रूप होता है अतः यह "विधौ" पद एक प्रयत्न से उच्चरित होने पर भी इसमें स्पष्ट ही दो भिन्न- भिन्न पद हैं अतः यह अर्थश्लेष नहीं हो सकता।

1- का० प्र० नवम उल्लास पृ०- 450- 458 वृत्तिभाग ।

इस प्रकार मम्मट ने उद्भट के मत का तथा उनके मतानुयायियों का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है। रुद्रट भी सम्भवतः अभङ्ग श्लेष को अर्थश्लेष ही मानते हैं, क्योंकि जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इन्होंने शब्द-श्लेष के अन्तर्गत सभङ्ग के वर्णादि आठ उपभेदों का ही विवेचन किया है, तथा अर्थश्लेष के अन्तर्गत जिन उदाहरणों को उद्धृत किया है, उनमें से कुछ मम्मट सम्मत अभङ्गश्लेष के ही स्थल प्रतीत होते हैं। यथा -

> सत्यर्जितविविधाधिककमलोऽप्यवदलितनालिकः सोऽभूत ।
> सकलारिदाररसिकोऽप्यनाभिमतपराङ्गनासङ्गः[1] ।।

यहाँ पर कमलो, नालिकः, दार- ये पद श्लिष्ट हैं जिनके अर्थ इस प्रकार हैं- कमल- लक्ष्मी, नाल- मूर्ख, स्त्री- विदारण । इनमें शब्दभङ्ग के अभाव में ही दो-दो अर्थ श्लिष्ट हैं, अतः ये अभङ्ग श्लेष का स्थल है। इसी प्रकार-

> तव दक्षिणोऽपि वामो बलभद्रोऽपि प्रलम्ब एव भुजः ।
> दुर्योधनोऽपि राजन् युधिष्ठिरोऽस्तीत्यहो चित्रम् ।।[2]

बलभद्र, प्रलम्ब, दुर्योधन, युधिष्ठिर अभङ्ग स्थिति में ही दो- दो अर्थ श्लिष्ट हैं अतः अभङ्ग श्लेष का स्थल है।

वाग्भट, जयदेव, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित, रुय्यक इत्यादि कुछ परवर्ती आचार्यों ने श्लेष का अर्थालङ्कारों के मध्य विवेचन किया है। वाग्भट ने अर्थश्लेष के सभङ्ग तथा अभङ्ग ये दो भेद किए हैं[3] तथा जयदेव ने इसके खण्डश्लेष, भङ्गश्लेष एवं अर्थ-

---

1- का० 10/6

2- वही, 10/23

3- पदैस्तैरेव भिन्नैर्वा वाक्यं वक्त्येकमेव हि ।
 अनेकार्थं यत्रासौ श्लेष इत्युच्यते यथा ।।
 - वा० 4/127

श्लेष ये तीन भेद किए हैं।[1] खण्डश्लेष तथा भङ्गश्लेष से सम्भवतः शब्दश्लेष[2] में उनका तात्पर्य है।

कर्णपूर गोस्वामी ने श्लेष को दोनों वर्गों के अन्तर्गत निरूपित किया है तथा शब्दश्लेष के अन्तर्गत रुद्रटकथित वर्ण, विभक्ति इत्यादि आठ सभङ्ग श्लेषों एवं अभङ्ग श्लेष का विवेचन किया है,[3] किन्तु केशवमिश्र रुद्रट का अनुसरण करते हुए श्लेष के केवल उक्त आठ भेदों को ही स्वीकार करते हैं।[4] विश्वेश्वरपण्डित ने मम्मट का अनुसरण करते हुए शब्दश्लेष के सभङ्ग तथा अभङ्ग- इन दो प्रमुख भेदों तथा सभङ्ग के अन्तर्गत वर्णादि आठ उपभेदों का विवेचन किया है।[5]

1- च० 5/63-65

2- {क} खण्डश्लेषः पदानां चेदेकैकं पृथगर्थता ।

{ख} भङ्गश्लेषः पदस्तोमस्यैव चेत्पृथगर्थता।

- च० 5/63-64 पूर्वार्द्ध

3- {क} शब्दार्थश्लेषयोरयं भेदः यत्र शब्दपरिवर्त्तनेनापि न श्लेषत्वभङ्गः सोऽर्थश्लेषः, अन्यस्तु सभङ्गाभङ्गत्वाभ्यामेव शब्दश्लेषः ।।

- अ० कौ० पृ०- 267

{ख} स प्रकृतिलिङ्गवर्णप्रत्ययभाषाविभक्तिपदवचनैः ।

अष्टाविधो, निरपेक्षस्तुल्योभयवाच्य एव नवमः स्यात् ।।

- अ० कौ० 7/213

4- अयं चाष्टधा । यदाह -

विभक्तिपदवर्णानां लिङ्गस्य वचनस्य च ।

भाषाप्रकृत्योर्भेदेन श्लेषाः स्युः प्रत्ययस्य च।।

- अ० शे० 10वीं मरीचि

5- पुनर्द्विविधः । शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति । शब्दश्लेषोऽपि द्विविधः। पदभेदे तदैक्ये च। आद्यः खण्डश्लेष इति गीयते ।..............

खण्डश्लेषस्त्वष्टधा । - अ० मु०, पृ०- 19

उपर्युक्त समस्त विवरण से स्पष्ट है कि श्लेष को शब्दालङ्कार कहा जाये अथवा अर्थालङ्कार अथवा दोनों वर्गों में रखा जाये, इस विषय में आचार्यों में वैमत्य रहा है। जिन आचार्यों ने इसका केवल अर्थगत अलङ्कार के रूप में निरूपण किया है, उन्होंने भी प्राय: उसकेएकभेद के रूप में शब्दश्लेष का भी विवेचन किया है, इससे यह तो स्पष्ट ही है कि उन्हें शब्दश्लेष का स्वरूप स्वीकार्य था। किन्तु इस शब्दश्लेष को अर्थालङ्कार कहना कहाँ तक युक्तिसङ्गत है? अत: श्लेष को शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष मानते हुए दोनों को पृथक्- पृथक् वर्गों में रखना समीचीन है, जैसाकि रुद्रट ने किया है।

चित्रालङ्कार -

शब्दालङ्कारों के अन्त में आचार्य रुद्रट ने चित्रालङ्कार का विवेचन किया है। उन्होंने सम्पूर्ण पञ्चम अध्याय में इसकी व्याख्या की है। जिस अलङ्कार में चक्र, मुसल तथा खड्ग आदि वस्तुओं के रूपों की रचना लोक-प्रसिद्ध वर्ण के क्रम में की जाती है, उसे चित्रालङ्कार कहते हैं।[1] इन वर्णों का क्रम चक्रादि की आकृति के समान होता है।[2] रुद्रट ने इस अलङ्कार के अनेक भेद मानते हुए चक्र, मुसल, खड्ग, बाणासन, शक्ति, शूल, हल इत्यादि कुछ का विवेचन किया है।[3]

1- भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि ।
साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम् ॥- का0 5/1

2- भङ्ग्यन्तरेण चक्रादिविच्छित्तिलक्षणेन प्रकारेण कृत: स तत्तल्लोकप्रसिद्ध: क्रमो रचनापरिपाटी येषां ते च ते वर्णाश्चाक्षराणि च ते निमित्तं कारणं येषां वस्तुरूपाणां तानि तथोक्तानि । - वही, 5/1 टीका

3- तच्चक्रखड्गमुसलैर्बाणासनशक्तिशूलहलैः ।
चतुरङ्गपीठविरचितरथतुरगगजादिपदपाठैः ॥
अनुलोमप्रतिलोमैरर्धभ्रमयुक्तसर्वतोभद्रैः ।
इत्यादिभिरन्यैरपि वस्तुविशेषाकृतिप्रभवैः ॥
भेदैर्विभिद्यमानं संख्यातुमनन्तमस्मि नैतदलम् ।
तस्मादेतस्य मया दिङ्मात्रमुदाहृतं क्रियते ॥- वही, 5/2, 3, 4

काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम दण्डी ने इसके गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र तथा नियम- इन भेदों का उल्लेख किया है।[1] किन्तु उन्होंने न तो चित्रालङ्कार का सामान्य लक्षण किया है और न ही उसके भेदों की गणना की है। उन्होंने दुष्कर काव्यबन्ध को पद्धति के अन्तर्गत इसका विवेचन किया है।[2] अग्निपुराणकार ने गोष्ठी में पढ़ने मात्र से कुतूहल उत्पन्न करने वाले काव्यबन्ध को चित्रालङ्कार कहा है तथा इसके प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्तपद, च्युतपद, दत्तपद, च्युतदत्तपद और समस्या- ये सात भेद किए हैं।[3] इसके अतिरिक्त उन्होंने दुष्कर नामक अलङ्कार तथा उसके नियम, विदर्भ एवं बन्ध इन तीन भेदों का भी विवेचन किया है।[4] इनमें से "बन्ध" का जो स्वरूप उन्होंने निर्धारित किया है, वह रुद्रट के चित्र काव्य का ही लक्षण है।[5] साथ ही इस बन्ध के इन्होंने अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, पद्म, चक्रादि वही भेद बताए हैं[6] जो रुद्रट के चित्रालङ्कार के भेद- प्रभेद हैं। अग्निपुराणकार ने

1- का० द० 3/ पृ०- 329

2- इति दुष्करमार्गेऽपि कश्चिदादर्शितः क्रमः ।
- वही, 3/96

3- गोष्ठ्यां कुतूहलाधायी वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते ।
प्रश्नः प्रहेलिका गुप्तं च्युतं दत्तं तथोभयम् ।।
समस्या सप्त तद्भेदा नानार्थस्यानुयोगतः ।
- अ० पु० का का० शा० भाग 7/22-23 पूर्वार्द्ध

4- वही, 7/ 32-33.

5- अनेकधावृत्तवर्णविन्यासे शिल्पकल्पना।
तत्तत्प्रसिद्धवस्तूनां बन्ध इत्यभिधीयते।।
- वही

6- गोमूत्रिकार्धभ्रमणं सर्वतोभद्रमम्बुजम् ।
चक्रं चक्राब्जं दण्डो मुरजश्चेति चाष्टधा ।।
- वही

चित्रालङ्कारों में जिन प्रश्न प्रहेलिकादि भेदों का विवेचन किया है उनसे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः उन्होंने इन भेदों में विचित्रता होने के कारण इन्हें "चित्रालङ्कार" की संज्ञा दी है तथा जिनमें विभिन्न आकृतियों की रचना की जाती है उन पद्म चक्रादि की शिल्प कल्पना के कारण "बन्ध" संज्ञा प्रदान की है। अतः अग्निपुराणकार ने चित्र तथा बन्ध नामों से जिन दो अलङ्कारों का विवेचन किया है, वे रुद्रटादि आचार्यों के विवेचन को देखते हुए वास्तव में एक ही हैं।

रुद्रट ने चित्रालङ्कार के भेदों के लक्षण नहीं दिए हैं क्योंकि जो चित्र जिस नाम का होता है, उसकी आकृति ही उसका लक्षण होती है।[1] अतः उन्होंने जो उदाहरण दिए हैं, उन्हीं के आधार पर इनके विषय में जाना जा सकता है।

चक्रबन्ध में आठ श्लोक होते हैं, श्लोक के पूर्वार्द्धों से आठ अर तथा उत्तरार्द्धों से एक नेमि बनती है। चक्रबन्ध के प्रथम श्लोक का जो प्रथम वर्ण होता है, वही वर्ण अन्य श्लोकों के प्रारम्भ में भी होता है और यह सर्वसाधारण वर्ण नाभिवर्ती होता है। उदाहरण रूप में उद्धृत आठ श्लोक निम्नलिखित हैं -

मारारिशक्ररामेभमुखैरासाररंहसा ।
साराख्धस्तवा नित्यं तदर्तिहरणक्षमा ।।
मातानतानां संघट्टः श्रियां बाधितसंभ्रमा ।
मान्याथ सीमा रामाणां शं मे दिश्यादुमादिजा ।।
मायाविनं महाबाधा रसायातं सलद् भुजा ।
जातलीलायधासारवार्यं मयिबमावधीः ।।
मागभीदा शरण्या मुक्तदैवारूपप्रदा च धीः ।
धीरा पवित्रा संत्रासा तु त्रासोष्ठा मातरारम् ।।

1- यन्नाम नाम यस्यास्तदाकृतिर्लक्षणं मतं तस्य ।
तल्लक्षणैव दृष्ट्वावधार्यमखिलं तदन्यदपि ।।
- का० 5/5.

नाननापरुषं तोकादेवीं राद्रस सन्नम् ।
मनसा मादरं नत्वा सर्वदा दास्यमङ्•गताम् ।।
मा मुबो राजस स्वासूंलोक हूटेशदेवताम् ।
तां शिवावाशितां सिद्धयाध्यासितां हि स्तुतां स्तुहि ।।
महिबाळ्ये रणेऽन्या नु सा नु नान्येयमत्र हि ।
हिमातङ्•गाद्धिवागुं व कं कम्पनमुपप्लुतम्[1] ।।

1- वही, 5/ 6- 13•

खड्गबन्ध की रचना दो पद्यों से होती है। प्रथम पद्य से खड्ग का फल तथा दूसरे से मूठ बनती है। इसमें प्रथम पद्य का प्रारम्भिक वर्ण इसी पद्य के अन्त में तथा दूसरे पद्य के पूर्वार्द्ध के प्रारम्भ में, अन्त में उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ में तथा अन्त के कुछ वर्णों के पहले होता है। वक्र नाथ के दो प्रारम्भिक श्लोक इसके उदाहरण हैं।[1]

मुसलबन्ध में पद्य के पूर्वार्द्ध का अन्तिम वर्ण तथा उत्तरार्द्ध का प्रारम्भिक वर्ण समान होते हैं। दोनों के मध्यस्थ कुछ वर्ण भी समान होते हैं। यथा- "मायाविनं महाहावा:" इत्यादि।[2]

खड्गबन्ध

मुसलबन्ध
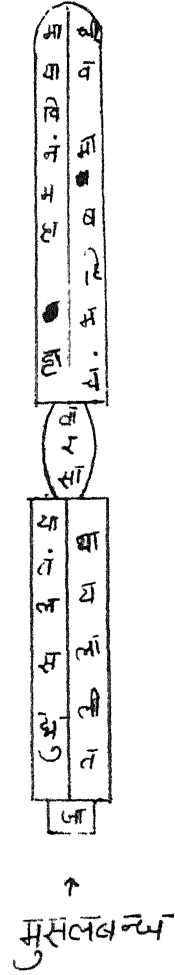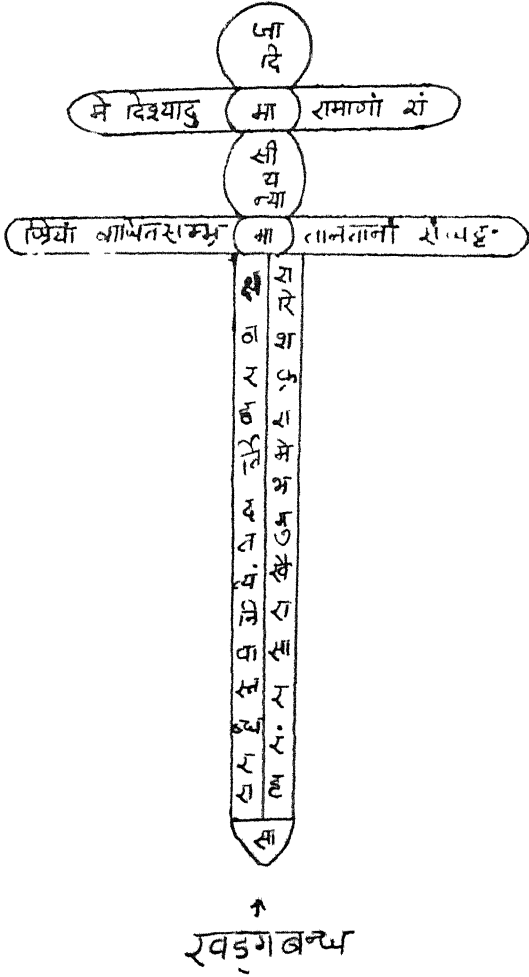
1- वही, 5/6-7
2- वही, 5/3

धनुर्बन्ध की रचना करने वाले पद्य के पूर्वार्द्ध से धनुष्काण्ड की वक्राकृति बनती है तथा उत्तरार्द्ध से प्रत्यञ्चा। इसके पूर्वार्द्ध के अन्त में जो वर्ण होता है वही उत्त-रार्ध के प्रारम्भ में होता है। यथा- "मामभोदा शरण्या" इत्यादि में।[1]
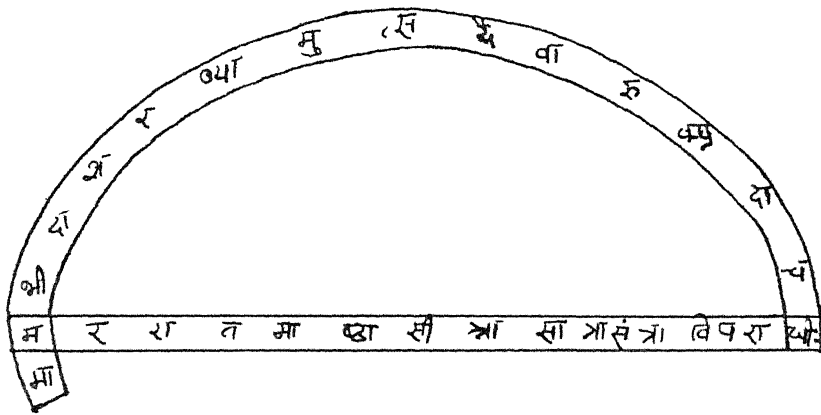
शरबन्ध की रचना में पद्य के प्रथम चरण से दण्ड, द्वितीय से फल तथा तृतीय एवं चतुर्थ से दोनों पक्ष तथा अग्नी बनती है। यथा- "मानननिपलखं लोकदेवों" इत्यादि।[2]

शूलबन्ध की रचना करने वाले श्लोक का आद्यार्ध दण्डभाग में तथा द्वितीयार्ध शिखाओं में न्यस्त रहता है यथा- "मा गुणो राजस" इत्यादि।[3]
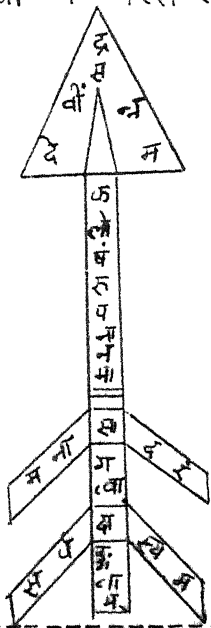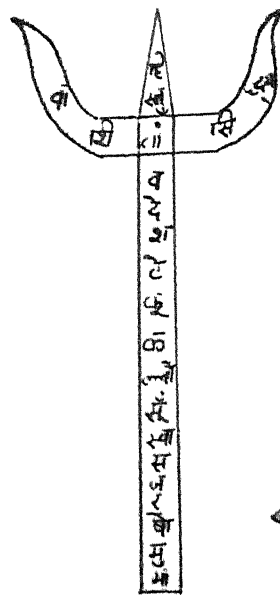
1- वही, 5/9
2- वही, 5/10
3- वही, 5/11

शक्तिबन्ध के स्थलों में वर्णों का न्यास इस प्रकार किया जाता है कि उससे मध्यभाग में पतली तथा प्रान्त भाग में तीक्ष्ण शक्ति का चित्र बन सके, यथा- "महिषारण्ये रणेऽन्या" इत्यादि[1] शक्तिबन्ध के उदाहरण हैं।

पूर्वार्द्ध के प्रारम्भिक वर्णों से हल में प्रविष्ट ईषा का अल्पभाग तथा शेष वर्णों से उस (हल) का फल बनाने वाले तथा उत्तरार्द्ध के वर्णों से ईषा का शेष-भाग तथा ऊपरी भाग का चित्र बनाने वाले श्लोक "मातङ्गानङ्गविधिनामुना" इत्यादि[2] की भाँति हलबन्ध के उदाहरण होते हैं। स्पष्ट ही है कि जिन आठ श्लोकों के माध्यम से रुद्रट ने चक्रबन्ध की रचना प्रस्तुत की है, उन्हीं उदाहरणों के माध्यम से खड्गबन्ध से हलबन्ध पर्यन्त सात चित्रालङ्कारों के रूप को भी स्पष्ट किया है।
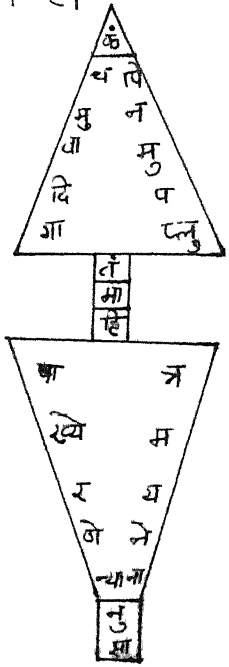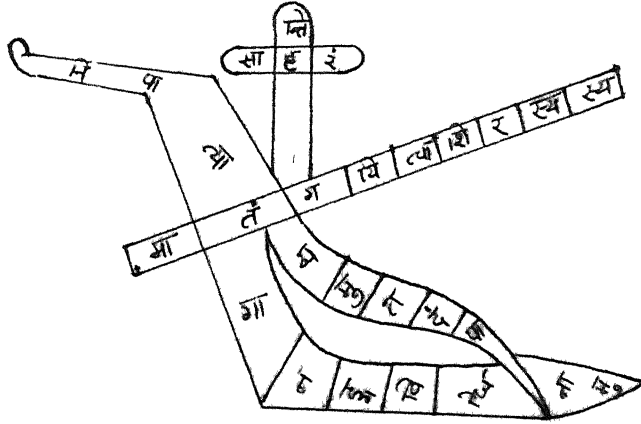
1- वही, 5/12
2- वही, 5/13

"रथपदपाठ" में श्लोक के द्वितीय तथा चतुर्थ पाद का आवृत्ति तथा निवृत्ति से पदपाठ करने पर कोई अन्तर नहीं पड़ता अर्थात् उनका रूप उसी प्रकार रहता है। यथा-

इतोक्षिता सुरैश्चक्रे या यमाममामयया ।
महिषं पातु वो गौरी सायतासिसितायसा।।[1]

इ	ती	क्षे	ता	सु	रै	श्च	क्रे
या	य	मा	म	म	मा	य	या
म	हि	षं	पा	तु	वो	गौ	री
सा	य	ता	सि	सि	ता	य	सा

← रथपदपाठ

"तुरगपदपाठ" का उदाहरण निम्नलिखित है -

सेना लीलीलीना नाली लीनाना नानालीलीली ।[2]
नालीनालीले नालीना लीलीली नानानानाली।।

इस पद्य के माध्यम से तुरगपदपाठ नामक इस चित्रालङ्कार की आकृति इस प्रकार बनेगी। -

से	ना	ली	ली	ली	ना	ना	ली
ली	ना	ना	ना	ना	ली	ली	ली
ना	ली	ना	ली	ले	ना	ली	ना
ली	ली	ली	ना	ना	ना	ना	ली

↑
तुरगपदपाठ

1- वही, 5/14
2- वही, 5/15

"गजपदपाठ" के स्थलों में वर्णों का न्यास इस प्रकार किया जाता है कि पूर्वार्द्ध में प्रथम- द्वितीय, तृतीय- चतुर्थ इत्यादि के क्रम से वर्णों का उच्चारण करने पर जो श्लोक की पंक्ति बनती है, वही प्रथम- नवम, द्वितीय- दशम इत्यादि के क्रम से उच्चारण करने पर भी बनती है, इसी प्रकार उत्तरार्द्ध के वर्णों में भी होता है यथा-

ये नानाधीनावा धीरा नाधीवा राधीरा राजन् ।
किं नानाशं नाकं शं ते नाशङ्कन्तेऽशं ते तेजः[1] ।।

ये	ना	ना	धी	ना	वा	धी	रा
ना	धी	वा	रा	धी	रा	रा	जन्
किं	ना	नां	शं	ना	कं	शं	ते
ना	शं	कं	ते	श	ते	ते	ज

↑
गजपद पाठ

प्रतिलोमानुलोम पाठ में श्लोक को जिस प्रकार क्रम से पढ़ा जाता है उसी प्रकार व्यतिक्रम से भी पढ़ा जाता है यथा -

वेदापन्ने स शक्ले रचितानिजकगुच्छेदयत्नेऽरमेरे
देवारावतेऽमुदक्षो जलदमनयदस्तोददुर्गासवासे ।
सेवासर्गाददस्तो दयनमदलवक्षोदमुक्ते सवादे
रेमे रत्नेऽयदच्छे गुरुजनितायिरत्नेशासन्मेऽपदावे[2] ।।

1- वही, 5/16
2- वही, 5/17

"अर्धभ्रम" में बत्तीस कोष्ठक होते हैं। आठ- आठ कोष्ठकों की चार पंक्तियाँ होती हैं। इनमें श्लोकगत चारों पादों को रखते हैं। इस चित्र {बन्ध} के आधे-आधे भाग में पाठ {भ्रमण} करने के कारण इसे "अर्धभ्रम" कहते हैं। यथा-

सरसायारिवीरालीरसनव्याध्यदेश्वरा ।
सा नः पायादरं देवी याव्यायागमदध्यरि ।।[1]

सा	र	सा	या	रि	वी	रा	ली
र	स	न	व्या	ध्य	दे	श्व	रा
सा	नः	पा	या	द	रं	दे	वी
या	व्या	या	ग	म	द	ध्य	रि

↑
अर्धभ्रम

किन्तु "सर्वतोभद्र" में चारों ओर से पाठ किया जा सकता है, इसलिए इसे सर्वतोभद्र कहते हैं। इसमें चौंसठ कोष्ठक होते हैं। प्रारम्भ के बत्तीस कोष्ठकों में श्लोक के वर्णों को सीधा सीधा रखा जाता है, किन्तु अन्त के बत्तीस कोष्ठकों में उन्हें व्यतिक्रम से रखा जाता है। इसका उदाहरण रूप पद्य निम्नलिखित है -

रसासाररसा सार सायताक्ष क्षतायसा ।
सातावात तवातासा रक्षतस्त्वस्त्वतक्षर।।[2]

1- वही, 5/18
2- वही, 5/20

र	सा	सा	र	र	सा	सा	र
सा	य	ता	क्ष	क्ष	ता	य	सा
सा	ता	वा	त	त	वा	ता	सा
र	क्ष	त	स्त्व	स्त्व	त	क्ष	र
र	क्ष	त	स्त्व	स्त्व	त	क्ष	र
सा	ता	वा	त	त	वा	ता	सा
सा	य	ता	क्ष	क्ष	ता	य	सा
र	सा	सा	र	र	सा	सा	र

↑

सर्वतोभद्रबन्धः

"मुरजबन्ध" के उदाहरण रूप में रुद्रट ने निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत किया है-

सरलाबहलारम्भतरलालिबलारवा ।

वारलाबहलामन्दकरला बहलामला ।।[1]

इस पद्य के माध्यम से निम्न प्रकार की आकृति बनेगी-

1- वही, 5/19

मुरजबन्ध
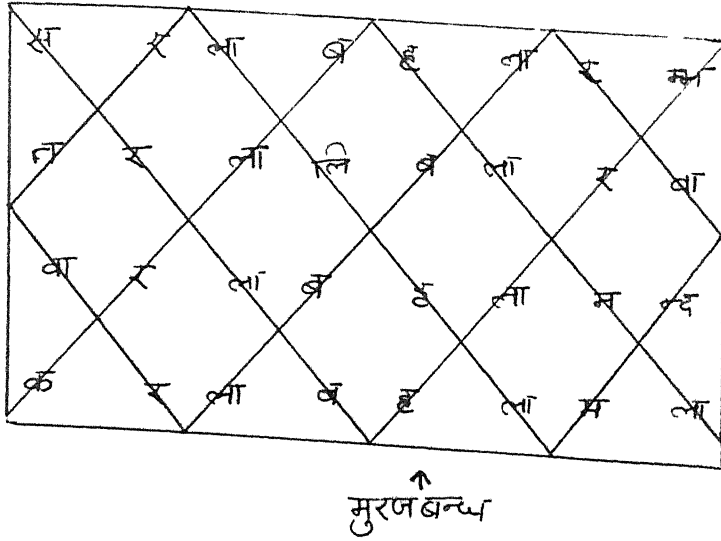
"पद्मबन्ध" में श्लोक का प्रारम्भिक वर्ण चारों पादों के प्रारम्भ तथा अन्त में आता है, इस प्रकार इसका पाठ आठ बार होता है, यह वर्ण कर्णिका स्थानीय होता है। प्रथम पाद के अन्त में आने वाले कुछ वर्ण द्वितीय पाद के प्रारम्भ में आते हैं, इसी प्रकार द्वितीय पाद के अन्त में आने वाले कुछ वर्ण तृतीय पाद के प्रारम्भ में आते हैं तथा तृतीय पाद के अन्त में आने वाले कुछ वर्ण चतुर्थ पाद के प्रारम्भ में आते हैं, स्पष्ट है कि चतुर्थ पाद के अन्त में आने वाले वर्ण प्रथम के प्रारम्भ में आते ही हैं, इस प्रकार पद्म के चारों दलों में सम्बन्ध बना रहता है यथा-

या पात्यपायपातितानवतारिताया
यातारिपावपाति वा भुवनानि माया ।
यमानिना वपतु वो वसु सा स्वगेया
यागा स्वरासुरगिरोर्जयपात्यपाया[1] ।।

1- वही, 5/21
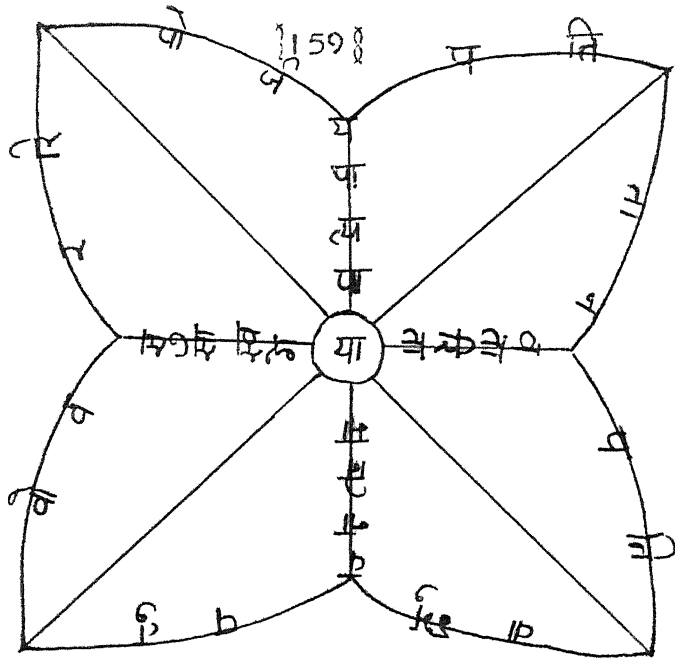
इन विभिन्न चित्रालङ्कारों के साथ ही रुद्रट ने अनुलोम, विलोम तथा विपर्यस्ताक्षर पाठ द्वारा एक श्लोक से दूसरे श्लोक की उत्पत्ति का उदाहरण भी दिया है, जिससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के पद्यों को भी वे चित्रालङ्कार का ही स्थल मानते हैं। उदाहरण रूप -

> समरणमहितोया यास्तनामारिपाता
> वनरतिसरमाया वानरा मापसारम् ।
> अमरततवरालो नानमासाद्य नेद्
> रणमहिनतलाशा धीरभावेऽरिराते ।।

इस श्लोक में मध्यस्थ वर्ण को छोड़कर अर्थात् प्रथम के साथ तृतीय तथा द्वितीय के साथ चतुर्थ वर्ण का तदनन्तर पश्चाद्वर्ती पाँचवें एवं छठें वर्ण के विपर्यय पाठ इसी क्रम से पूरे पद्य का पाठ करने से अन्य पद्य निकलता है, जो इस प्रकार है -

---

सरम्मगहिमतोयापास्तमानारितापा
वरनतिरसभावायानमारा पर सा ।
अरमत बत रामा लीनसामाद्धने
रम्मगहितमताधीशारवे भासितेरा[1] ।।

रुद्रट मात्राच्युतक, बिन्दुच्युतक, प्रहेलिका, कारकगूढ, क्रियागूढ, प्रश्नोत्तरादि को अलङ्कारों की श्रेणी में नहीं रखते हैं।[2] किन्तु लक्ष्यग्रन्थों में उपलब्ध होने के कारण उन्होंने इनका विवेचन किया है।[3]

मात्रा तथा बिन्दु के छूट जाने पर जहाँ अभिधेयार्थ भिन्न हो जाता है, उसे क्रमशः मात्राच्युतक तथा बिन्दुच्युतक कहते हैं।[4] यथा- "नियतमगम्यमदृश्यं भवति किल त्रस्यतो रणोपान्तम्।"[5] इस पंक्ति में "किल" की इकार रूप मात्रा छूट जाने से कलत्र सम्बन्धी अन्य अर्थ का बोध होता है। इकार के छूट जाने पर उपर्युक्त पंक्ति का यह रूप हो जाएगा -

"नियतमगम्यमदृश्यं भवति कलत्रस्य तोरणोपान्तम् ।"

1- वही, 5/23
2- मात्राबिन्दुच्युतके प्रहेलिका कारकक्रियागूढे ।
प्रश्नोत्तरादि चान्यत्क्रीडामात्रोपयोगमिदम् ।।
- वही, 5/24

3- काव्येषु च दर्शनाद् वक्तव्यमिति ।
- वही, 5/24 नमिसाधुकृत टीका

4- मात्राबिन्दुच्यवनादन्यार्थत्वेन तच्च्युतो नाम ।
- वही, 5/25 पूर्वार्द्ध

5- वही, 5/28 पूर्वार्द्ध

इसी प्रकार "कान्तो नयनानन्दी बालेन्दुः खे न भवति सदा।"[1] इस पंक्ति में "बालेन्दु" शब्द का बिन्दु {नु} हटा देने पर इसका यह रूप हो जाएगा- "कान्तो नयनानन्दी बाले दुःखेन भवति सदा ।"
प्रहेलिका दो रूपों वाली होती है - स्पष्टप्रच्छन्नार्था तथा व्याहृतार्था[2]।
"स्पष्टप्रच्छन्नार्था" में अर्थ पदारूढ होने के कारण स्पष्ट तथा प्रश्नवाक्य के ही अन्तर्गत् होने से भ्रम उत्पन्न करने के कारण प्रच्छन्न होता है,[3] यथा-

"कानि निवृत्तानि कथं कदलीवनवासिना स्वयं तेन।"[4] पद्य के इस पूर्वार्द्ध में प्रश्न किया गया है और इसी पंक्ति में इसका उत्तर भी स्पष्ट किन्तु प्रच्छन्न है- "तेन स्वयं कथं {आश्चर्यसूचक} नव-कानि कदलीव असिना निवृत्तानि।"

व्याहृतार्था प्रहेलिका में असामान्य विशेषणों का उपादान होने के कारण अर्थ साक्षात् कथित नहीं होता।[5] यथा- "कथमपि न दृश्यतेऽसावन्वहं हरति वसनानि ।।[6] इसमें "वायु" यह अर्थ स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है, अतः यह व्याहृतार्था प्रहेलिका का स्थल है।

1- वही, 5/28 उत्तरार्द्ध

2- स्पष्टप्रच्छन्नार्था प्रहेलिका व्याहृतार्था च ।। - का० 5/25 उत्तरार्द्ध

3- तत्र स्पष्टः पदारूढत्वात्प्रच्छन्नश्च प्रश्नवाक्य एवान्तर्गतत्वेन भ्रमकारित्वादर्थो यस्याः सा तथाविधा। - वही, नमिसाधुकृत टीका

4- वही, 5/29 पूर्वार्द्ध

5- तथासाधारणविशेषणोपादानादेवाविगतत्वेनाव्याहृतः ।
साक्षादनुक्तोऽर्थो यस्यां सा तथाभूता द्वितीया ।।
- वही, 5/25 नमिसाधुकृत टीका

6- वही, 5/29 उत्तरार्द्ध

कारक अथवा क्रिया के प्रच्छन्न होने पर क्रमशः कारकगूढ़ तथा क्रियागूढ़ होता है।[1] यथा-

> पिबतो वारि तवास्यां सरिति शरावेण पातितो केन ।
> वारि शिशिरं रमण्यो रतिखेदादपुरुषस्येव ।।[2]

इसमें- इस नदी में शराव {कसोरे} से जल पीते समय किसके द्वारा छोड़े गये। यहाँ क्या छोड़े गये। यह कर्म कारक गूढ़ है। वह इस प्रकार स्फुट है- एण- हे मृग। अस्याम्-इस नदी में जल पीते समय तुम पर कितने बाण {शरो + एण- शरावेण} छोड़े। इसी प्रकार दूसरी पंक्ति में रति के कष्ट के कारण रमणियों ने कापुरुष के समान शीतल क्या किया? यह क्रिया गूढ़ है। जो इस प्रकार स्फुट है- रमणियों ने प्रातःकाल ही {उषस्येव} रति खेद के कारण शीतल जल का पान किया {अपुः- उषस्येव = अपुरुषस्येव}।

इस प्रकार इस पद्य के पूर्वार्द्ध में "शरो" रूप कारक तथा उत्तरार्द्ध में "अपुः" रूप क्रिया प्रच्छन्न है।

अनेक प्रश्नों का जहाँ एक उत्तर होता है, वहाँ प्रश्नोत्तर चित्र होता है। यह व्यस्त, समस्तादि भेदों से अनेक प्रकार का होता है। भाषा की दृष्टि से भी इसके अनेक भेद होते हैं।[3] यथा-

---

1- प्रच्छन्नत्वाद् भवतस्तद्गूढे कारकक्रियान्तयोः ।

- वही, 5/26 पूर्वार्द्ध

2- वही, 5/30

3- प्रश्नानां च बहूनामुत्तरमेकं भवेद्यत्र ।।
प्रश्नोत्तरं तदेतद्व्यस्तसमस्तादिभिर्भिदबहुधा ।
भेदैरनेकभाषं .... च भिद्यते ।।

- वही, 5/26-27

उद्यन्निदवसकरोऽसौ किं कुरुते कथय मे मृगायाशु ।
कथयानिन्द्राय तथा किं करवाणि क्वणित्कामः ।।
अहिणवकमलदलाहण्णि मापु फुरन्तिल केण ।
जाणिज्जइ तरुणीअणस्स निद्दा(9)भज अहरेण ।।

इस उदाहरण में तीन प्रश्न हैं। अन्तिम प्रश्न प्राकृत में है। इन तीनों का उत्तर "अहरेण" इस एक शब्द में निहित है। तीनों प्रश्नों के उत्तर में इसका पृथक्- पृथक् रूप होगा - }क} अहः एण, }ख} अहरे अण, }ग} अहरेण }अधरेण}।

परवर्ती आचार्यों में प्राय: अधिकांश ने चित्रालङ्•कार का विवेचन किया है। सर्वप्रथम रुद्रट के काव्यालङ्•कार में ही इसका पहला विस्तृत और सुव्यवस्थित विवेचन प्राप्त होता है। इनके पश्चात् सर्वाधिक विस्तृत विवेचन भोजराज ने किया है। उनके अनुसार वर्ण, स्थान, स्वर, आकार, गति तथा बन्ध के विषय में जो नियम हैं, उसे ही छ: प्रकार के चित्रालङ्•कार कहते हैं।[2] इन वर्णादि में से प्रत्येक के भेद- प्रभेदों का भी उन्होंने विस्तृत विवेचन किया है। पद्म, चक्र, सर्वतोभद्र, अर्धभ्रम, तथा मुरजबन्ध इत्यादि कुछ का विवेचन इनके "सरस्वतीकण्ठाभरण" में प्राप्त होता है। अन्य खड्गबन्ध, मुसलबन्ध तथा धनुर्बन्ध इत्यादि का विवेचन इसमें नहीं प्राप्त होता।

आचार्य मम्मट, विश्वनाथ कविराज तथा जयदेव आदि सभी काव्यशास्त्रियों ने चित्रालङ्•कार की लगभग एक सी परिभाषा की है।[3] इस दृष्टि से इन पर रुद्रट

1- वही, 5/31-32
2- वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धान्प्रतीह यः ।
नियमस्तद्बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते।। - स0क0भ0 2/109
3- }क} तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता ।- का0प्र09/85उत्तरार्द्ध
}ख} वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम् । - अ0स0 सूत्र ।।
}ग} काव्यविदुग्धवरैश्चित्रं खड्गबन्धादि लक्ष्यते ।- च0 5/9 पूर्वार्द्ध
}घ} पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते ।- प्र0रु0, पृ0-409
}ङ•} पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते ।- सा0द0, पृ0-687

का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। मम्मट ने रुद्रट कृत चित्रालङ्कारों के कुछ[1] उदाहरण भी अपने ग्रन्थ में उद्धृत किए हैं। जिस प्रकार रुद्रट प्रहेलिकादि को अलङ्कार की कोटि में नहीं रखते उसी प्रकार साहित्यदर्पणकार भी स्पष्टरूपेण प्रहेलिका के अलङ्कारत्व का खण्डन करते हैं।[2] किन्तु इन आचार्यों में से प्रायः सभी ने कुछ चित्रालङ्कार के कुछ भेदों को ही उद्धृत किया है, अन्य का विवेचन नहीं किया है क्योंकि ये अलङ्कार कवि की शक्ति अथवा प्रतिभा को ही प्रदर्शित करते हैं, काव्यरूपता को धारण नहीं करते,[3] काव्य तो वही होता है जो सहृदयाह्लादक हो, नीरस एवं क्लिष्ट होने के कारण उक्त अलङ्कार से आनन्द की अनुभूति नहीं होती।

उपर्युक्त समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि चित्रालङ्कार का लक्षण तथा उसके विभिन्न भेदों का विशुद्ध विवेचन सर्वप्रथम रुद्रट ने ही किया तथा परवर्ती काव्यशास्त्र पर उनके इस विवेचन का पूर्ण प्रभाव पड़ा है।

=========

1- का०प्र० 9/ उदाहरण 384-85-86-88

2- रसस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका ।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका ॥
- सा० द० 10/13

3- तद्भिन्नोऽप्यन्ये प्रभेदाः शक्तिमात्रप्रकाशका न तु काव्यरूपतां दधतीति न प्रदर्श्यन्ते । - का०प्र० 9/ पृ०- 463.

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ अध्याय

अर्थालङ्कार - विवेचन

जैसा कि "शब्दालङ्कार - विवेचन" नामक अध्याय में कहा जा चुका है- आचार्यप्रवर रुद्रट ने समस्त अर्थालङ्कारों को चार कोटियों में विभाजित किया है- वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष । प्रत्येक वर्ग की अपनी एक सामान्य विशेषता है, जो उसके अन्तर्गत आने वाले सभी अलङ्कारों में मूल रूप से पायी जाती है। जैसाकि इन चारों वर्गों की संज्ञाओं से ही स्पष्ट है, वास्तव में वस्तु के स्वरूप का कथन होता है, औपम्यमूलक सभी अलङ्कारों में उपमा का होना आवश्यक है, अतिशयमूलक अलङ्कारों में लोकातिक्रान्त वर्णन होता है तथा श्लेषमूलक अलङ्कारों में अनेकार्थक पदों से निबद्ध होने के कारण वाक्य अनेक अर्थों की प्रतीति कराते हैं । रुद्रट ने इन चार वर्गों तथा उनके अन्तर्गत आने वाले अलङ्कारों का चार पृथक् - पृथक् अध्यायों में विवेचन किया है। वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष इन चारों का उन्होंने सामान्य लक्षण भी किया है। उनके अनुसार वस्तु के स्वरूप का कथन ही वास्तव है। यह कथन पुष्ट अर्थ वाला तथा विविक्षतार्थ से अविपरीत होना चाहिए।[1] कुछ ऐसे कथन, जो वस्तु के स्वरूप को तो कहते हैं किन्तु काव्य की दृष्टि से उचित न होने के कारण अपुष्ट अर्थ को देते हैं, वास्तव की कोटि में नहीं आते । इसी प्रकार कुछ ऐसे भी वर्णन होते हैं जो वास्तविक होते हुए भी विवक्षितार्थ से विपरीत अर्थ की प्रतीति कराते हैं, ये कथन अथवा वर्णन भी "वास्तव" के अन्तर्गत नहीं आते , इन्हीं प्रसङ्गों का निराकरण करने के लिए आचार्य रुद्रट ने "वास्तव" के

1- वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत् ।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयमश्लेषम् ।।
- काव्यालङ्कार 7/10

लक्षण में "पुष्टार्थ" तथा "अविपरीत" इन दो विशेषणों का उपादान किया है।[1] किसी वस्तु के स्वरूप को भलीभाँति प्रतिपादित करने के लिए "उस वस्तु के समान है" इस प्रकार अप्रकृत वस्तु का वक्ता के द्वारा उपन्यास किए जाने पर औपम्य होता है।[2] औपम्य में उपमेयोपमानभाव श्रौत अथवा प्रातीतिक होता है।[3] जहाँ अर्थ एवं धर्म का नियत स्वरूप प्रसिद्धि की बाधा के कारण विपरीत हो जाता है, अतः यह नियत स्वरूप [नियम] कभी कहीं लोकातिक्रान्त हो जाता है, ऐसे स्थलों पर अतिशय होता है[4] और जहाँ अनेकार्थक पदों से रचित एक वाक्य अनेक अर्थों की प्रतीति कराता है वह अर्थश्लेष होता है।[5]

1- पुष्टार्थग्रहणमपुष्टार्थनिवृत्त्यर्थम् । "तेन गोरपत्यं बलीवर्दस्तृणान्यत्ति मुखेन सः। मूत्रं मुञ्चति शिश्नेन अपानेन तु गोमयम् ।। अस्य वास्तवत्वं न भवति। अविपरीतग्रहणं विवक्षितविपरीतार्थस्य वास्तवत्वनिवृत्त्यर्थम्। यथा दन्ताग्नि-दैलयद्रसां च जडयत्तालु द्विधा स्फोटयन्नाड्यः संकटयद् गलद्गलबिलादान्त्राणि संकोचयत् । इत्थं निर्मलशर्करोत्थमसद्प्रालेयवाताहतं नावन्याः प्रचुरं पिबन्त्यनुदिनं प्रोन्मुक्तधारं पयः। अत्र हो प्रायसः शीतलत्वाह्लादकत्वं च विवक्षितं तद्-वैपरीत्यं च प्रतीयते । - वही, 7/10 की टीका

2- सम्यक्प्रतिपादितुं स्वरूपतोवस्तु तत्समानमिति ।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद्वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम् ।। - वही, 8/1

3- यत्रोपमानोपमेयभावः श्रौतः प्रातीतिको वा तदौपम्यमिति तात्पर्यमिति।
- वही, 8/1टीका

4- यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति ।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य ।।
- वही, 9/1

5- यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन् ।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ।।
- वही, 10/1

वास्तव के अन्तर्गत रुद्रट ने सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित तथा एकावली - इन तेइस अलङ्कारों का विवेचन किया है।[1] औपम्य के अन्तर्गत उपमा उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य तथा स्मरण- ये इक्कीस अलङ्कार हैं।[2] पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात तथा अहेतु - इन बारह अलङ्कारों का अतिशय के अन्तर्गत[3] तथा अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व तथा विरोधाभास- इन दश का श्लेष के अन्तर्गत विवेचन है।[4]

उपर्युक्त चारों वर्गों के अलङ्कारों के पर्यवेक्षण से यह विदित होता है कि सहोक्ति इत्यादि कुछ अलङ्कार एक से अधिक वर्गों में आए हैं। इन अलङ्कारों की आगे समीक्षा की जाएगी। सम्प्रति वास्तवमूलक अलङ्कारों की समीक्षा प्रस्तुत है।

1- तस्य सहोक्तिसमुच्चयजातियथासंख्यभावपर्यायाः ।
विषमानुमानदीपकपरिकरपरिवृत्तिपरिसंख्याः ।।
हेतुः कारणमाला व्यतिरेकोऽन्योन्यमुत्तरं सारम्।
सूक्ष्मं लेशोऽवसरो मीलितमेकावली भेदाः ।। - वही, 7/11-12

2- उपमोत्प्रेक्षारूपकमपह्नुतिः संशयः समासोक्तिः ।
मतमुत्तरमन्योक्तिः प्रतीपमर्थान्तरन्यासः ।।
उभयन्यासभ्रान्तिमदाक्षेपप्रत्यनीकदृष्टान्ताः ।
पूर्वसहोक्तिसमुच्चयसाम्यस्मरणानि तद्भेदाः ।। - वही, 8/23

3- पूर्वविशेषोत्प्रेक्षाविभावनातद्गुणाधिकविरोधाः ।
विषमासंगतिपिहितव्याघाताहेतवो भेदाः ।।- वही, 9/2

4- अविशेषविरोधाधिकवक्रव्याजोक्त्यसम्भवावयवाः ।
तत्त्वविरोधाभासाविति भेदास्तस्य शुद्धस्य ।।- वही, 10/2

जाति -

रुद्रट के अनुसार किसी वस्तु के लोकप्रसिद्ध संस्थान, स्थान तथा क्रियादि के यथावत् वर्णन को जाति कहते हैं।[1] "संस्थान" का तात्पर्य है - स्वभाविक - रूप।[2] इस लक्षण को देखकर यह शङ्‌का हो सकती है कि वास्तव तथा जाति में क्या अंतर है क्योंकि वास्तव में भी वस्तु के स्वरूप का ही वर्णन होता है तथा जाति में भी? इसका समाधान करते हुए नमिसाधु ने इन दोनों की वृक्ष एवं धव से उपमा दी है। जो अन्तर वृक्ष एवं धव में होता है, वही अन्तर वास्तव तथा जाति में होता है,[3] वास्तव अपने वर्ग के सभी अलङ्‌कारों में रहता है जबकि जाति केवल जाति में। रुद्रट के अनुसार शिशु, मुग्धा युवती, कातर, पक्षी तथा घबड़ाए हुए नीच पात्रों की काल और अवस्था के अनुरूप चेष्टाओं के वर्णन में यह अलङ्‌कार अधिक रम्य होता है।[4] इन्हें आचार्य ने उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट किया है।[5]

1- संस्थानावस्थानक्रियादि यद् यस्य यादृशं भवति ।
   लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः ॥ - का0 7/30

2- तत्र संस्थानं स्वाभाविकं रूपम् । - वही, 7/30 टीका

3- अथ वास्तवस्य जातेश्च को विशेषः, यो वृक्षस्य धवस्य वा। वास्तवं हि वस्तुस्वरूपकथनं । तच्च सर्वेष्वपि तद्भेदेषु सहोक्त्यादिषु स्थितम् । जातिस्त्वनुभवं जनयति । यत्र परस्थं स्वरूपं वर्ण्यमानमेवानुभवमिवेतीति स्थितम् ।
   - वही, टीका

4- शिशुमुग्धयुवतिकातरतिर्यक्संभ्रान्तहीनपात्राणाम् ।
   सा कालावस्थोचितचेष्टासु विशेषतो रम्या ॥ - वही, 7/31

5- वही, 7/32-33

अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि प्रायः सभी पूर्ववर्ती तथा परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने इसका विवेचन करते हुए इसके लिए जाति के साथ-साथ स्वभावोक्ति संज्ञा का भी प्रयोग किया है तथा इसका लगभग एक सा ही लक्षण प्रतिपादित किया है। अधिकांश आचार्यों ने "स्वभावोक्ति" संज्ञा को ही अपनाया है। रुद्रट के उक्त अलङ्कार सम्बन्धी लक्षण तथा अन्य आचार्यों के लक्षण में कुछ अन्तर है, जहाँ रुद्रट ने वस्तु के स्वाभाविक रूप, स्थान तथा क्रिया- इन तीनों को इस अलङ्कार में स्थान दिया है वहाँ अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने वस्तु के स्वाभाविक रूप तथा क्रिया को अधिक महत्व दिया है। इन सभी काव्य-

---

1- {क} नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा ।। -का०द०2/8

{ख} क्रियायां सम्प्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम् ।
कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता ।। - का० ग० सं०3/4

{ग} नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः ।
स्वेभ्यः स्वेभ्यो निसर्गेभ्यस्तानि जातिं प्रचक्षते।।- सं०का०भ० 3/4

{घ} स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् । - का०प्र० 10/111

{ङ} सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः । - अ०स० सूत्र 79

{च} स्वभावोक्तिः पदार्थस्य सक्रियस्याक्रियस्य वा।
जातिर्विशेषतो रम्या हीनपात्राभकादिषु ।। - वा० 4/47

{छ} स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिषु च वर्णनम् ।
कुरङ्गैरुत्तरङ्गाक्षैः स्तब्धकर्णैरुदीक्ष्यते ।।- च०5/112

{ज} स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद् वस्तु वर्णनम् ।- र०ग०,पृ०-495.

{झ} स्वभावोक्तिर्डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ।-सा०द०10/92उत्तरार्ध

{ट} स्वभावोक्तिः स्वभावस्य वर्णनं यत् । -अ०कौ० 8/273

{ठ} यस्य वस्तुनो यत् स्वभावता व्याख्यानं स्वभावः।
तदेव जातिरित्युच्यते ।। - अ०शे० 13

{ड} स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम्- कु०,पृ०-280

{ढ} यो वस्तुनः स्वभावस्तस्य निरुक्तिः स्वभावोक्तिः।
- अ०सू० सूत्र 30.

शास्त्रियों के मध्य भामह तथा कुन्तक[1] दो ऐसे काव्यशास्त्री हैं जिन्हें इस अलङ्कार को अलङ्कारता मान्य नहीं है।

<u>यथासंख्य</u> - जिस अलङ्कार में अनेक अर्थों का जिस क्रम में निर्देश किया गया हो, उसी क्रम में उनसे सम्बद्ध का निर्देश होने पर यथासंख्य अलंकार होता है।[2] रुद्रटकृत इस लक्षण का स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार नमिसाधु कहते हैं - "इस अलङ्कार में निर्दिष्ट अनेक अर्थों में विशेषण- विशेष्य भाव होता है, अतः इसमें जिस क्रम से विशेष्यों का कथन होता है, उसी क्रम से विशेषणों का भी।[3] इस अलङ्कार की विशेषता यह है कि इसमें अनेक निर्दिष्ट विशेष्यों के दो या तीन विशेषण अथवा दो विशेष्यों के होने पर अनेक विशेषणों के उपन्यास से सौन्दर्यवृद्धि होती है।[4] "यथा-

कज्जलहिमकनकरुचः सुपर्णवृषहंसवाहनाः शं वः ।
जलनिधिगिरिपद्मस्था हरिहरचतुराननाः ददतु।।[5]

1- [क] स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते । - का0 2/93 पूर्वार्द्ध
[ख] व0 जी0 तृतीय उन्मेष का प्रारम्भ

2- निर्दिश्यन्ते यस्मिन्नर्था विविधा यथैव परिपाट्या ।
पुनरपि तत्प्रतिबद्धास्तथैव तत्स्याद्यथासंख्यम् ।।
- का0 7/34

3- तेषु पूर्वनिर्दिष्टेषु विशेष्यविशेषणभावेन प्रतिबद्धास्तदनुयायिनो निर्दिश्यन्ते तद् यथासंख्यानं स्यात् । - वही, 7/34 टीका

4- तदिह द्विगुणं त्रिगुणं वा बहुषु निर्दिष्टेषु जायते रम्यम् ।
यत्तेषु तथैव ततो द्वयतो बहवोऽपि कल्पनीयाः ।।
- वही, 7/35

5- वही, 7/36

इसमें हरि, हर तथा ब्रह्मा इन तीन विशेष्यों के तीन- तीन विशेषण हैं, इसी प्रकार दो विशेष्यों के अनेक विशेषणों का उदाहरण निम्नलिखित है-

> दुग्धोदधिबिलस्थौ सुपर्णवृषवाहनौ चन्द्रकुधवौ[1] ।
> नकुरकञ्जनयनौ पातां वः शाङ्र्गशूलधरौ ।।

रुद्रट से पूर्व प्रायः सभी आचार्यों ने इस अलङ्कार का उल्लेख किया है।[2] भामह के अनुसार उद्दिष्ट अर्थों का अनुनिर्देश ही यथासंख्य अलङ्कार है[3] अर्थात् इसमें एक क्रम से कुछ अर्थ कहे जाते हैं, उनसे सम्बन्धित दूसरे अर्थों का उसी क्रम से उन अर्थों के साथ अन्वय किया जाता है।[4] दण्डी ने स्वयं तो इसे यथाक्रम की संज्ञा दी है, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इसे ही यथासंख्य, संख्यान तथा क्रम भी कहते हैं।[5] वामन ने इसे क्रम की संज्ञा दी है।[6]

वामन ने उपमेयोपमान के क्रमिक सम्बन्ध को क्रम कहा है, किन्तु इस लक्षण की व्याप्ति उक्त अलङ्कार के प्रत्येक स्थल में नहीं हो सकती। क्योंकि कहीं- कहीं पदार्थों में उपमेयोपमान भाव होता है यथा- "मृणालहंसपद्मानि" इत्यादि में, सर्वत्र नहीं यथा- "कज्जलहिमकनकरुचः" इत्यादि में उपमेय-उपमान भाव नहीं है।

1- वही, 7/37
2- (क) का0 2/89
   (ख) का0 द0 2/273
   (ग) का0सा0सं0 तृतीय वर्ग
   (घ) का0 सू0 वृ0 4/3/17.
3- भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम् ।
   क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते।। - का0 2/89
4- उद्दिष्टानां पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम्। - का0द0 2/273 पूर्वार्द्ध
5- यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि । - वही, उत्तरार्द्ध
6- उपमेयोपमानानां क्रमसम्बन्धः क्रमः । - का0 सू0 वृ0 4/3/17

इसीलिए परवर्ती काव्यशास्त्र में दण्डी तथा रुद्रटकथित लक्षण ही अधिक मान्य हुआ।[1]

राजानक रुय्यक ने इसके शाब्द तथा आर्थ - ये दो भेद भी किए हैं।[2] शाब्द यथासंख्य वह होता है, जिसमें असमस्त पदों का असमस्त पदों से अर्थ के द्वारा सम्बन्ध होता है। इसमें क्रमसम्बन्ध स्पष्ट रूप से बोध का विषय बनता है, इसीलिए यह शाब्द यथासंख्य है। आर्थ यथासंख्य वह होता है जिसमें समास रहता है इसमें शब्द-समूह का शब्दसमूह से सम्बन्ध शाब्द होता है फलतः अवयव से अवयव का सम्बन्ध अर्थ का ज्ञान होने के पश्चात् उसकी पर्यालोचना करने से विदित होता है।[3] पण्डितराज

1- [क] यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः । - काव्यप्र० 10/108 उत्तरार्द्ध

[ख] उद्दिष्टानामर्थानां क्रमेणानुनिर्देशो यथासंख्यम् । - वामन सू० 30

[ग] यथोक्तानां पदार्थानामर्थाः सम्बन्धिनः पुनः ।
क्रमेण तेन बध्यन्ते तद् यथासंख्यमुच्यते ॥ - वा० 4/114

[घ] यथासंख्यं द्विधार्थाश्चेत् क्रमादेकैकमन्विताः । - च० 5/92 पूर्वार्द्ध

[ङ] उद्दिष्टानां पदार्थानां पूर्वं पश्चाद् यथाक्रमम् ।
अनुद्देशो भवेद् यत्र तद्यथासंख्यमिष्यते ॥ - प्र० रु०, पृ० - 547.

[च] यथासंख्यमनुद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत् । - सा०द० 10/पृ०-337

[छ] यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः । - कु० 109 पूर्वार्द्ध

[ज] यथासंख्यं यथासंख्यं क्रमिकाणां यदन्वयः । - अ० कौ० 8/पृ०-313.

[झ] उपदेशक्रमेणार्थानां सम्बन्धो यथासंख्यम् । - र० ग० 2/पृ०-502.

2- तच्च यथासंख्यं शाब्दमार्थं च द्विधा । - अ० स०, पृ० - 556

3- शाब्दं यथासमस्तानां पदानामसमस्तैः पदैरर्थद्वारकः सम्बन्धः ।
तत्र क्रमसम्बन्धस्यातिरोहितस्य प्रत्येयत्वात् । आर्थं तु यत्र समासः
क्रियते तत्र समुदायस्य समुदायेन सह सम्बन्धस्य शाब्दत्वादर्थावगम-
पर्यालोचनया त्ववयवावयवतः क्रमसम्बन्धः प्रतीयते। ततोऽस्य यथासंख्यं
आर्थत्वम् । - अ० स०, पृ० - 556.

जगन्नाथ तथा विमर्शिनीटीकाकार इसके अलङ्कारत्व को स्वीकार नहीं करते हैं, उनके अनुसार यह अपक्रम दोष का अभावमात्र है, अलङ्कार नहीं।[1] वक्रोक्तिजीवितकार भी भामहकृत यथासंख्य के लक्षण को उद्धृत करके उक्ति वैचित्र्य के अभाव में इसकी अलङ्कारता का खण्डन करते हैं।[2]

इस अलङ्कार की समीक्षा के अन्त में यह पर्यालोचना उचित होगी कि इसे वास्तववर्ग में रखना उचित है या नहीं। सभी काव्यशास्त्रियों द्वारा मान्य लक्षणों तथा उदाहरणों से यथासंख्य का जो रूप काव्यशास्त्र में निर्धारित हुआ है, उसके अनुसार इसे वास्तवमूलक वर्ग में ही रखना उचित नहीं है क्योंकि यदि इसे इस वर्ग में रखा जाता है तो "मृणालहंसपद्मानानि" इत्यादि जो यथासंख्य के स्थल कहे गए हैं तथा जिनमें औपम्य का पुट है, इस अलङ्कार की सीमा से बाहर हो जाएँगे।

1- {क} न चास्यालङ्कारत्वं युक्तम् । दोषाभावरूपत्वात् । उद्दिष्टानां क्रमेणानुनिर्देशे ह्यक्रियमाणेऽपक्रमाख्यो दोषः प्रसज्यते। यदुक्तम्- क्रमहीनार्थमपक्रमम् इति .... दोषाभावमात्रं च नालङ्कारत्वम् । - अ० स० विमर्शिनी टीका, पृ०- 558.

{ख} यथासंख्यमलङ्कारपदवीमेव तावत्कथमारोढुं प्रभवतीति तु विचारणीयम्। नह्यस्मिन् लोकसिद्धे कविप्रतिभानिर्मितत्वस्यालङ्कारता जीवातोर्लेशतोऽपि उपलब्धिरस्ति, येनालङ्कारव्यपदेशो मनागपि स्थाने स्यात् । अतोऽपक्रमत्वरूपदोषाभाव एव यथासंख्यम् । - र०गं०2, पृ०- 610.

2- भणितिवैचित्र्यविरहान्न काचिदत्र कान्तिर्विद्यते । - व०जी० 3/पृ०-407.

भाव-

काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने ही इस अलङ्कार का विवेचन किया है। उन्होंने उक्त "भाव" नामक अलङ्कार के दो भेद प्रस्तुत किए हैं। उनके अनुसार प्रथम प्रकार के भावालङ्कार में किसी विकारवान् का विकार अप्रतिबद्ध {अनैकान्तिक, अनियत} कारण से उत्पन्न होता हुआ उसके अभिप्राय तथा प्रतिबन्ध अर्थात् कार्य- कारण सम्बन्ध का बोध कराता है।[1] उदाहरण रूप में प्रस्तुत-

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया।।[2]

इस पद्य में मुखकान्ति का मलिन होना विकार है, यह विकार बेंत की नवमञ्जरी से युक्त हाथ रूप कारण से उत्पन्न हुआ है, यह कारण अनियत है क्योंकि सदैव ही वञ्जुलमञ्जरी से मुखकान्ति का मलिन होना रूप कार्य {विकार} सिद्ध नहीं होता है। मलिनता रूप विकार से ही नायक के प्रतिनायिका का राग रूप अभिप्राय सूचित होता है। इस प्रकार यह अनियतकारण से उत्पन्न विकार अपने अभिप्राय तथा कार्य- कारण सम्बन्ध {प्रतिबन्ध} को सूचित करता है, इसीलिए यह प्रथम भावालङ्कार का स्थल है। किन्तु जो अनियत है वह कारण कैसे हो सकता है और यदि कारण {हेतु} है तो वह अनियत कैसे होगा? और जो अनियत कारण से उत्पन्न हुआ कार्य है वह कैसे अपने कारण का बोध करा सकता है। यदि कार्य- कारण रूप सम्बन्ध है तो कारण अनियत नहीं होगा। इस शङ्का को उठाकर उसके समाधान के रूप में टीकाकार नमिसाधु दो युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं- एक तो इस प्रकार के उदाहरण

1- यस्यविकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन ।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ।। - का0 7/38

2- वही, 7/39.

महाकवियों के लक्ष्यग्रन्थों में प्राप्त होते हैं, दूसरे, यह अनुभव भी किया जाता है।[1] उनके अनुसार ऐसे स्थलों में अभिप्राय {भाव} सूचित होता है, इसीलिए ये भावालङ्कार के स्थल कहे जा सकते हैं।[2] दूसरे प्रकार का भावालङ्कार वहाँ होता है, जहाँ कोई वाक्य वाच्यार्थ को कहता हुआ उस वाच्यार्थ से भिन्न गुण-दोष से युक्त अर्थान्तर अर्थात् वक्ता के अभिप्राय रूप अन्यार्थ का बोध कराता है।[3] गुण-दोष से आचार्य का तात्पर्य विधि-निषेध है।[4] वाच्यार्थ से भिन्न विधि-निषेध वाला अर्थान्तर अर्थात् यदि वाच्यार्थ विधियुक्त है तो अन्यार्थ निषेधयुक्त होता है तथा यदि वाच्यार्थ निषेधयुक्त है तो अन्यार्थ विधियुक्त होता है। इस प्रकार वाच्यार्थ से अभिप्राय रूप अन्यार्थ विपरीत होने के कारण इस अलङ्कार का समासोक्ति तथा अन्योक्ति से पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है।[5] क्योंकि इन दोनों अलङ्कारों में इस प्रकार का वैपरीत्य नहीं होता। इनमें दोनों ही अर्थ विधिरूप अथवा निषेध रूप होते हैं। यथा-

---

1- ननु विरुद्धमिदम् । अप्रतिबद्धश्चेत् कथं हेतुरस्य हेतुः कथमप्रतिबद्धो नाम। अपि च योऽप्रतिबद्धेन हेतुना जन्यते स कुतस्तदप्रतिबन्धं गमयति, विद्यते वेत्प्रतिबन्धो न तर्ह्यप्रतिबद्धो हेतुरिति। सत्यमेतत्। किं तु महाकविलक्ष्यमेवंविधं दृश्यतेऽनुभूयते च। न च दृष्टे किंचिदनुपपन्नं नाम। - वही 7/38 की टीका

2- असावेवंरूपो भावनामालङ्कारो भण्यते। भवत्यस्मादभिप्रायनिश्चय इति कृत्वा । - वही

3- अभिधेयमभिदधानम् तदेव तदसदृशसकल गुणदोषम् ।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्यं सोऽपरो भावः ।।- वही, 7/40

4- ....गुणदोषा विधिप्रतिषेधादयो यस्य तत्तथोक्तम् ।
- वही, टीका

5- एतेन चान्योक्तिसमासोक्त्योर्भावत्वं निषिद्धम् । तत्र हीति वृत्तसादृश्यं वर्तते। औपम्यभेदात्तयोरिति। - वही, टीका

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाह-
मस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम् ।
किं याचसे यदिह वासमियं वराकी
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ[1] ।।

यह पद्य अपने निषेधरूप वाच्यार्थ को कहता हुआ उससे भिन्न विधियुक्त अन्य अर्थ अर्थात् वास देने की अनुमति रूप विधि के भाव { अभिप्राय } का बोध कराता है, अतः यह दूसरे प्रकार का भावालङ्कार है।

जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ प्रधान होता है, "वहाँ ध्वनि नहीं होती, इसी मत की विवेचना में लोचनकार ने रुद्रट के प्रथम प्रकार के भावालङ्कार का लक्षण तथा द्वितीय प्रकार के भावालङ्कार का उदाहरण उद्धृत किया है।[2] रुद्रट-कृत लक्षण के उपन्यास के पश्चात् वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यहाँ भी वाच्य की प्रधानता में भाव नामक अलङ्कार होता है। "एकाकिनी यदबला" इत्यादि उदाहरण के लिए वे कहते हैं कि व्यङ्ग्य यहाँ एक-एक पद के अर्थ में सहायक है, इस प्रकार वाच्य का प्राधान्य है।[3] स्पष्ट है कि रुद्रटसम्मत उक्त अलङ्कार का अलङ्कारत्व उन्हें स्वीकार था।

1- वही, 7/41

2- ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत 13वीं कारिका लोचनटीका, पृ०- 234-35.

3- यस्य विकारः प्रभवन्प्रतिबन्धस्तु हेतुना येन ।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ।।

अत्रापि वाच्य प्राधान्ये भावालङ्कारता। ....यथा एकाकिनी यदबला....... मूढपन्था। अत्र व्यङ्ग्यमेकैकपदार्थे उपस्कारीति वाच्यं प्राधानम् । व्यङ्ग्यप्राधान्ये तु न कश्चिदलङ्कार ।

— वही, पृ०- 234-35.

रुद्रट के प्रथम प्रकार के "भावालङ्•कार" के उदाहरण रूप में उद्धृत "ग्राम-तरूणं तरूण्या" इत्यादि पद्य को मम्मट ने मध्यम काव्य }गुणीभूतव्यङ्•ग्य} के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।[1]

परवर्ती काव्यशास्त्रियों में भोजराज ने इस अलङ्•कार का विवेचन किया है। उनके अनुसार अभिप्राय के अनुकूल प्रवृत्ति ही भाव है।[2] इसके उन्होंने सोद्भेद तथा निरूद्भेद - ये दो भेद किए हैं तथा इन्हें पुनः एकतः एवं अभितः के भेद से दो-दो प्रकार का कहा है।[3] इस प्रकार उन्होंने उक्त अलङ्•कार के चार भेद किए हैं। यद्यपि इन्होंने भी भाव के लक्षण के अन्तर्गत "अभिप्राय" का ही उपन्यास किया है, तथापि ये प्रवृत्ति को "भाव" कहते हैं, इस दृष्टि से रूद्रट के लक्षण से इनका लक्षण भिन्न है।

भोज के अतिरिक्त अन्य किसी परवर्ती आचार्य ने इस अलङ्•कार का उल्लेख नहीं किया है।

पर्याय -

रूद्रट के अनुसार जो वस्तु विवक्षित अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ होती है, किन्तु वाच्यार्थ से भिन्न होती है }असदृश} तथा भावालङ्•कार के समान जो उस अर्थ का कारण अथवा कार्य नहीं होती, उसके कथन में पर्याय अलङ्•कार होता है।[4] समासोक्ति तथा अन्योक्ति से भेद प्रदर्शित करने के लिए रूद्रट ने लक्षण सम्बन्धी कारिका

1- का० प्र० 1/ पृ०- 28•

2- अभिप्रायानुकूल्येन प्रवृत्तिर्भाव उच्यते । - स० कं० भ० 3/176 पूर्वार्द्ध

3- सोद्भेदोऽथनिरूद्भेदश्चैकतश्चाभितश्च सः।- वही, उत्तरार्द्ध

4- वस्तु विवक्षितवस्तुप्रतिपादनशक्तमसदृशं तस्य ।
यदजनकमजन्यं वा तत्कथनं यत् स पर्यायः ॥

- का० 7/42

में "असदृशम्" पद का तथा भाव से भेद प्रदर्शित करने के लिए "अजनकमजन्यम्" पद का उपन्यास किया है। यथा-

राजन्जहासि निद्रां रिपुबन्दीनिविडनिगडशब्देन ।
तेनैव यदन्तरितः स कलकलो वन्दिवृन्दस्य ॥[2]

उक्त उदाहरण में "हे राजन् ! तुम बन्दी शत्रुओं को सघन बेड़ियों के शब्द से निद्रा का त्याग करते हो, उसी शब्द से मिश्रित है जो, वह चारण समुदाय की मधुर ध्वनि है", यह कथन "समस्त शत्रुमण्डल को जीत लिया है", इस विवक्षितार्थ का प्रतिपादन कर रहा है, अतः यह पर्याय का स्थल है।

रुद्रट के अनुसार जहाँ एक ही वस्तु अनेक आधारों में अथवा अनेक वस्तुयें एक आधार में, सुखादि प्रकृति की होती है, वह पर्याय का दूसरा भेद है।[3] यथा-

कमलेषु विकासोऽभूद्व्यति भानावुपेत्य कुमुदेभ्यः ।
नभसोऽपससार तमो बभूव तस्मिन्नथालोकः ॥[4]

इस उदाहरण में एक ही "विकास" कमल तथा कुमुद- इन अनेक आधारों में होता है तथा अन्धकार एवं प्रकाश रूप अनेक वस्तुएँ आकाश रूप एक आधार में होती हैं, ये वस्तुएँ सुखरूप हैं। ये उदाहरण कर्तृवाच्य के हैं, इसी प्रकार -

आच्छिद्य रिपोर्लक्ष्मीः कृता त्वया देव भृत्यभवनेषु ।
दत्तं भयं द्विषद्भ्यः पुनरभयं याचमानेभ्यः ॥[5]

1- समासोक्त्यन्योक्त्योः पर्यायत्वनिवृत्त्यर्थमाह- असदृशं तस्य ।
...... भावसूक्ष्मयोः पर्यायोक्तनिवृत्त्यर्थमाह- अजनकमजन्यं वेति । - वही, संस्कृत टीका

2- वही, 7/43.

3- यत्रैकमनेकस्मिन्ननेकमेकत्र वा क्रमेण स्यात् ।
वस्तु सुखादिप्रकृति क्रियते वाच्यः स पर्यायः ॥
- 7/44

4- वही, 7/45

5- वही, 7/46

रुद्रट के इन उदाहरण में लक्ष्मी रूप एक वस्तु शत्रु एवं सेवक रूप अनेक आधारों में की गयी तथा भय- अभय रूप अनेक वस्तुयें शत्रु रूप एक आधार में दिए गए। इस प्रकार रुद्रट ने पर्याय के प्रमुख भेदों के साथ दो- दो उपभेदों का भी विवेचन किया है।

इनसे पूर्व भामह, दण्डी तथा उद्भट ने पर्यायोक्त नामक अलङ्कार का विवेचन किया था। भामह के अनुसार किसी बात को अन्य प्रकार से कहना ही पर्यायोक्त अलङ्कार है।[1] इसी लक्षण को और अधिक स्पष्ट करते हुए दण्डी कहते हैं कि अभीष्ट अर्थ का साक्षात् कथन न करके उसकी सिद्धि के लिए प्रकारान्तर से उसका आख्यान करना पर्यायोक्त है।[2] भामह प्रदत्त उदाहरण में कृष्ण ने भोजन के लिए अस्वीकारोक्ति को सीधे शब्दों में न कहकर प्रकारान्तर से कहा है[3] तथा दण्डी के उदाहरण में नायक-नायिका के सुरतोत्सव- सम्पादन रूप अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए प्रकारान्तर का आश्रय लिया गया है।[4] इस प्रकार इन उदाहरणों से उक्त अलङ्कार का रूप अधिक स्पष्ट हो गया है। उद्भट ने भामहकृत लक्षण को शब्दशः ग्रहण करते हुए साथ में कुछ अंश और जोड़ दिया है। कुल मिलाकर उनके शब्दों में वाच्यवाचक वृत्तियों से शून्य अवगमात्मना अन्य प्रकार से कथन को पर्यायोक्त कहते हैं,[5] लघुवृत्ति टीका में "अवगमात्मना" का "अर्थसामर्थ्य से प्रतीति"-

---

1- पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते । - का० 3/8 पूर्वार्द्ध

2- इष्टमर्थमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये ।
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते ।।- का०द० 2/295

3- गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः ।
न भुञ्जते द्विजास्तच्च रसदाननिवृत्तये ।। - का० 3/9

4- दशत्यसौ परभृतः सहकारस्य मञ्जरीम् ।
तमहं वारयिष्यामि युवाभ्यां स्वैरमास्यताम् ।। - का०द० 2/496

5- पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ।। - का० सा० सं० 4/6

यह अर्थ किया गया है।[1]

इन तीनों आलङ्कारिकों द्वारा विवेचित पर्यायोक्त के उक्त स्वरूप तथा रुद्रट के प्रथम पर्याय के स्वरूप में तो साम्य अवश्य है, किन्तु द्वितीय भेद का पूर्ववर्तियों ने कोई उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि प्रथम प्रकार के पर्याय का लक्षण भी इन आलङ्कारिकों की अपेक्षा भिन्न प्रतीत होता है, इसीलिए भ्रान्त होकर "काव्यालङ्कार-सार संग्रह" के हिन्दी व्याख्याकार ने भूमिका में यह स्पष्ट कह दिया है कि "रुद्रट ने तो इस अलंकार की चर्चा नहीं की है।"[2]

परवर्ती काव्यशास्त्र में पर्याय तथा पर्यायोक्त- इन दोनों का पृथक् पृथक् विवेचन किया गया है। ध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्तादि अलङ्कारों में नहीं हो सकता, इस तथ्य की पुष्टि के सन्दर्भ में लोचनकार ने उद्भटकथित लक्षण को उद्धृत किया है तथा इसे अधिक स्पष्ट किया है। उनके अनुसार प्रकारान्तर से व्यङ्ग्य द्वारा उपलक्षित होकर जो अभिधावृत्ति गम्य होता है, उसे पर्यायोक्त कहते हैं। इस प्रकार "अवगमात्मना" पद का उन्होंने "व्यङ्ग्येन" यह अर्थ किया है।[3]

1- एवं विधश्च यो वाच्यवाचकयोर्व्यापारस्तमन्तरेणापि प्रकारान्तरेणार्थ - सामर्थ्यात्मनावगमस्वभावेन यदवगम्यते तद् पर्यायेण स्वकण्ठानभिहितमपि सान्तरेण शब्दव्यापारेणावगम्यमानत्वाद् पर्यायोक्तं वस्तु।

- वही, लघुवृत्ति टीका

2- वही, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी कृत भूमिका, पृ०- 17।

3- अतएव पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद् यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयत इति लक्षणपदं पर्यायोक्तमिति लक्ष्यपदम् ।

- ध्व० लो० प्रथम उद्योत 13वीं कारिका

वक्रोक्तिजीवितकार ने सौन्दर्य की सृष्टि के लिए वाक्यान्तर से प्रतिपादित की जाने योग्य वस्तु के उससे भिन्न वाक्य द्वारा प्रतिपादन को पर्यायोक्त कहा है।[1]

काव्यप्रकाशकार ने उद्भट तथा अभिनवगुप्त का पूर्णरूपेण अनुसरण करते हुए वाच्य-वाचकभाव से भिन्न अवगमन व्यापार {व्यन्जना} द्वारा वाच्यार्थ के प्रतिपादन को पर्यायोक्त कहा है, इसमें वाच्यार्थ का कथन पर्याय अर्थात् भङ्ग्यन्तर से होता है, इसलिए इस अलङ्कार को पर्यायोक्त कहते हैं।[2] उनके अनुसार वाच्यार्थ तथा पर्याय द्वारा ज्ञात होने वाले इस व्यङ्ग्यार्थ का क्रमशः निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान के समान अनुभव होता है अर्थात् जिस प्रकार किसी भी वस्तु का ज्ञान पहले निर्विकल्पक रूप का होता है तदनन्तर सविकल्पक रूप का, उसी प्रकार पर्यायोक्त में पहले वाच्यार्थ के ज्ञान के पश्चात् व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान होता है।[3]

सर्वस्वकार गम्यार्थ के भङ्ग्यन्तर से अभिधान अर्थात् शब्दतः कथन को पर्यायोक्त कहते हैं।[4] शंका हो सकती है कि जो व्यङ्ग्य है, उसका अभिधा वृत्ति से कथन किस प्रकार सम्भव है, इसे रुय्यक इस प्रकार स्पष्ट करते हैं - इस गम्यार्थ

1- यद् वाक्यान्तरवक्तव्यं तदन्येन समर्प्यते ।
येनोपशोभानिष्पत्त्यै पर्यायोक्तं तदुच्यते।।
- व० जी० 3/23

2- पर्यायोक्तं विना वाच्यावाचकत्वेन यद्वचः। वाच्यवाचकभावव्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत्प्रतिपादनं तत्पर्यायेण भङ्ग्यन्तरेण कथनात्पर्यायोक्तम् ।
- का० प्र० 10/ पृ० 550.

3- अत्रैरावणशक्रौ मदमानमुक्तौ जाताविति व्यङ्ग्यमपि शब्देनोच्यते। तेन यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम् । यथा तु व्यङ्ग्यन्न तथोच्यते। यथा गवि शुक्ले चलति दृष्टे "गौः शुक्लश्चलति" इति विकल्पः। यदेव दृष्टं भेद - संसर्गाभ्यां विकल्पयति । - वही

4- गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम् ।
- अ० स० पृ०-410 सूत्र 37

का कार्यरूप में अभिधान होता है अर्थात् कार्य को अभिधा द्वारा कहा जाता है तथा अभिधा द्वारा कहा गया यह कार्य अपने कारण का आक्षेप कर लेता है,[1] यह कारण ही गम्यार्थ रूप का होता है।

इनके इस प्रतिपादन से रुद्रटकृत पर्याय के लक्षण में आया हुआ "अजनकजन्यम्" विरुद्ध प्रतीत होता है, जहाँ रुद्रट पर्याय द्वारा कहे गए अर्थ में कार्यकारणभाव स्वीकार नहीं करते वहीं रुय्यक कार्यकारणभाव को ही इस अलङ्कार का आधार मानते दिखायी पड़ते हैं। सम्भवतः इसलिए हिन्दी व्याख्याकार ने भी निःसंकोच कह दिया है कि "रुद्रट ने जो व्यङ्ग्यार्थ में साहृश्य का व्यवच्छेद करने के साथ कार्य-कारणभाव का भी व्यवच्छेद किया है, वह दिए हुए उदाहरण की वस्तुस्थिति के विपरीत है। इस उदाहरण में शत्रुजयकारण है, उनके या उनकी स्त्रियों को बन्दी बनाए जाने का। अतः यहाँ कार्यकारणभाव का अभाव नहीं है।[2]

चन्द्रालोककार, विद्यानाथ, साहित्यदर्पणकार तथा अप्पयदीक्षित पर रुय्यक का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। इन्होंने भी पर्यायोक्त के लगभग वही लक्षण दिए हैं[3] जो सर्वस्वकार को अभिमत लक्षण के अनुरूप हैं।

1- गम्यस्य सतः कथमभिधानमिति चेत्, गम्यापेक्षया प्रकारान्तरेणाभिधानस्य भावात्। नहि तस्यैव तदैव तथैव विच्छित्त्या गम्यत्वं वाच्यत्वं च सम्भवति, अतः कार्यादिद्वारेणाभिधानं, कार्यादेरपि तत्र प्रस्तुतत्वेन वर्णनार्हत्वात्।
- वही, वृत्तिभाग

2- अ० स० 414 डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी व्याख्या

3- {क} कारणं गम्यते यत्र प्रस्तुतात् कार्यवर्णनात्।
प्रस्तुतत्वेन सम्बद्धं तत् पर्यायोक्तमुच्यते ॥ - प्र० रु०, पृ०-541।
{ख} कार्याद्यैः प्रस्तुतैरुक्ते पर्यायोक्तिं प्रचक्षते।
युधान्याङ्कुरयामास विपक्षनृपसद्मसु ॥ - च० 5/70
{ग} पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते।-
- सा० द० 10/60 उत्तरार्द्ध
{घ} पर्यायोक्तं तु गम्यस्य वचो भङ्ग्यन्तराश्रयम्।
- 68 पूर्वार्द्ध

वाग्भट का लक्षण अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक सरल भाषा में निबद्ध है। उनके अनुसार विवक्षित अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के न रहने पर कथित शब्दों के द्वारा, जो विवक्षितार्थ की प्रतीति हो जाती है, उसे पर्यायोक्ति कहते हैं।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ ने अन्य अलङ्कारों के समान इस अलङ्कार की भी विस्तृत समीक्षा की है। उनके अनुसार विवक्षितार्थ का भङ्ग्यन्तर से प्रतिपादन पर्यायोक्त है।[2] "भङ्ग्यन्तर" शब्द को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं - "विवक्षित अर्थ जिस रूप का होता है, उससे भिन्न प्रकार या उसका आक्षेप ही भङ्ग्यन्तर है।[3] विभिन्न खण्डन- मण्डन के पश्चात् उन्होंने पर्यायोक्त के मुख्य तीन भेद बताए हैं- कहीं वाच्य कारण से कार्य की अभिव्यक्ति होने पर, कहीं वाच्य कार्य से कारण की अभिव्यक्ति होने पर तथा कहीं कार्य- कारणभाव से उदासीन किसी अन्य सम्बन्ध से सम्बन्धित वाच्य से उसी सम्बन्ध से सम्बन्धित किसी दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति होने पर यह पर्यायोक्त होता है।[4]

1- अतत्परतया यत्र जल्पमानेन वस्तुना ।
विवक्षितं प्रतीयेत पर्यायोक्तिरियं यथा।।
- वा0 4/107

2- विवक्षितस्य अर्थस्य भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादनं पर्यायोक्तम् ।
- र0 गं0 2/पृ0- 345

3- येन रूपेण विवक्षितोऽर्थस्तदतिरिक्तः प्रकारो भङ्ग्यन्तरम् ।
आक्षेपो वा । - वही

4- अयं चालङ्कारः क्वचित्कारणेन वाच्येन कार्यस्य गम्यत्वे क्वचित्कार्येण कारणस्य, क्वचिदुभयोदासीनेन सम्बन्धिमात्रेण सम्बन्धिमात्रस्य चेति विपुलविषयः । - वही, पृ0- 360

इन सभी आचार्यों ने {मम्मट से कर्णपूर गोस्वामी पर्यन्त} प्राय: पर्यायोक्त के साथ पर्याय का भी विवेचन किया है। इन्होंने पर्याय का वही रूप निर्धारित किया है,[1] जो रुद्रट कथित पर्याय के द्वितीय भेद का रूप है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि रुद्रट ने पर्याय के जिन दो भेदों का विवेचन किया था, परवर्ती काव्यशास्त्र में उनमें से एक को उक्त अलङ्कार के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। दूसरे अर्थात् पर्याय के प्रथम प्रकार को थोड़े बहुत अन्तर के साथ पूर्ववर्तियों के पर्यायोक्त में ही अन्तर्भूत करके परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने प्रस्तुत किया है।

1- {क} एकं क्रमेणानेकस्मिन्पर्याय: । एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन्भवति क्रियते वा स पर्याय: । अन्यस्ततोऽन्यथा । - का० प्र० 10/ पृ०- 559-60

{ख} एकमनेकस्मिन्नेकमेकस्मिन् क्रमेण पर्याय: । - अ० सू० सूत्र 6।

{ग} पर्यायश्चेदनेकत्र स्यादेकस्य समन्वय: । - च० 5/935 पूर्वार्द्ध

{घ} क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात् ।
भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते।। - सा० द० 10/ 79-80

{ङ} पर्यायो यदि पर्यायेणैकस्यानेकसंश्रय: ।
एकस्मिन् यद्यनेकं वा पर्याय: सोऽपि सम्मत: ।।
- कु० 110-11

{च} क्रमेणानेकाधिकरणमेकमाधेयमेक: पर्याय: ।
क्रमेणानेकमाधेयमेकमधिकरणमपर: ।।
- र० गं० 2/पृ०-611

{छ} अनेकस्मिन् क्रमेणैक: पर्याय: । अन्यो विपर्ययात् ।
- अ० कौ० 8/ पृ०- 325-26

अनुमान -

"अनुमान" इस पद के श्रवण से ही मस्तिष्क में दर्शनशास्त्र सम्बन्धी प्रमाण-{अनुमान} विशेष सद्यः उपस्थित हो जाता है । किन्तु यहाँ यह संज्ञा अलङ्कार विशेष को सूचित करती है। काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम रुद्रट ने ही इस संज्ञा से अलङ्-कार का विवेचन किया है। जिस स्थल पर परोक्ष साध्य तथा साधक दोनों का उपन्यास किया जाता है, वहाँ अनुमान अलङ्कार होता है, इसमें कहीं साध्य के कथन के पश्चात् साधक का कथन किया जाता है तथा कहीं इसके विपरीत साधक तदनन्तर साध्य का । स्पष्ट है कि अनुमान प्रमाण की भाँति इसमें भी साध्य तथा साधक- ये दो पक्ष होते हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि जिस वस्तु का अनुमान किया जाता है उसे साध्य तथा जिसके द्वारा किया जाता है उसे साधक कहते हैं। यथा -

> सावज्ञमागमिष्यन्नूनं पतितोऽसि पादयोस्तस्याः ।
> कथमन्यथा ललाटे यावकरसतिलकपंक्तिरियम् ॥[2]

इस पद में "पादपतन" रूप साध्य का कथन पहले किया गया है, तदनन्तर ललाट पर लगी हुई महावर पंक्ति-इस साधक का कथन है। पादपतन परोक्ष है, उसका अनुमान किया जा रहा है, इसलिए यह साध्य है, तथा भाल पर लगी हुई महावरपंक्ति इस साध्य का अनुमान करा रही है, इसलिए यह साधक है। साधक तदनन्तर साध्य के कथन का उदाहरण निम्नलिखित है -

> वचनमुपचारगर्भं दूराद् उद्गमनमासनं सकलम् ।
> इदमद्य मयि तथा ते यथासि नूनं प्रिये कुपिता ॥[3]

1- वस्तु परोक्षं यस्मिन्साध्यमुपन्यस्य साधकं तस्य ।
पुनरन्यदुपन्यस्येद् विपरीतं चैतदनुमानम् ॥ - का० 7/56

2- वही, 7/57

3- वही, 7/58

यहाँ वचन, ऽठना, बैठना इत्यादि क्रिया के कोप रूप साध्य को अनुमानित करा रहे हैं।

इसके अतिरिक्त एक अन्य अनुमान के भेद का भी रुद्रट ने विवेचन किया है। साध्य- साधक का पूर्व अथवा पश्चात् कथन तो इस अलङ्कार का विषय है ही, साथ ही कहीं- कहीं साधक के बलवत्तर होने के कारण अभूत {घटित न हुआ} कार्य घटित सा प्रतिपादित किया जाता है या किसी अभूतपूर्व कार्य का भविष्य में होना प्रतिपादित किया जाता है।[1] इस प्रकार उक्त अलङ्कार चार रूपों वाला होता है -

{क} जिसमें बलवत्तर साधन का कथन पहले किया जाता है, तदनन्तर अघटित साध्य का घटित रूप में कथन किया जाता है। यथा-

अविरलविलोलजलदः कुटजार्जुननीपसुरभिवनवातः ।
अयमायातः कालो हन्त मृताः पथिकगेहिन्यः ।।[2]

इसमें काल रूप साधक को पहले उपन्यस्त किया गया है, तदनन्तर "मृताः" रूप अघटित साध्य का घटे हुए रूप में उपन्यास किया गया है।

{ख} अनुमान के दूसरे रूप में अभूत साध्य {कार्य} का घटित हुए रूप में कथन होता है, तदनन्तर बलवत्तर साधक का, यथा-

दिष्ट्या न मृतोऽस्मि सखे नूनमिदानीं प्रिया प्रसन्ना मे ।
ननु भगवानयमुदितास्त्रिभुवनमानन्दयन्निन्दुः ।।[3]

1- यत्र बलीयः कारणमालोक्याभूतमेव भूतमिति ।
भावीति वा तथान्यत् कथ्येत तदन्यदनुमानम् ।।
- वही, 7/59

2- वही, 7/60
3- वही, 7/61

{ग} इसके तृतीय रूप में साधक के कथन के पश्चात् अभूतपूर्व कार्य के भविष्य में घटने का कथन होता है यथा -

वहति यथा मलयमरुद्यथा च हरितीभवन्ति विपिनानि[1] ।
प्रियसखि तथैव न चिरादेष्यति तव वल्लभो नूनम् ।।

{घ} इसी प्रकार चतुर्थ रूप में अभूतपूर्व साध्य कथन पहले होता है तत्पश्चात् बलवत्तर कारण का यथा -

यास्यन्ति यथा तूर्णं किंचिदिह मलोज्ज्वलादमी सरसः ।
हंसा यथैवमेतां मलिनयति घनावली ककुभम् ।।[2]

इस प्रकार रुद्रट ने छः प्रकार के अनुमान अलङ्कार का विवेचन किया है।

आचार्य दण्डी तथा उद्भट ने हेतु तथा काव्यलिङ्ग नामक अलङ्कारों का विवेचन किया है। वाणी का उत्तम भूषण कहते हुए "हेतु" अलङ्कार के अन्तर्गत दण्डी ने दो मुख्य कारण बताए हैं - कारक तथा ज्ञापक।[3] उद्भट ने कारण के केवल ज्ञापकांश को लेकर "काव्यलिङ्ग" अलङ्कार का विवेचन किया है, उनके अनुसार जहाँ एक वस्तु श्रुतिगोचर होकर अन्य वस्तु का स्मरण अथवा अनुभव कराए, वहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है।[4]

रुद्रट के उदाहरणों को देखने से प्रतीत होता है कि इन्होंने भी केवल ज्ञापक कारणों को दृष्टि में रखकर अनुमान अलङ्कार की परिभाषा की है। इस प्रकार लक्षणगत सीमाओं को देखते हुए दण्डी तथा रुद्रटप्रदत्त क्रमशः हेतु तथा अनुमान संज्ञायें उचित ही हैं। कारण के एक अंश को लेकर उसे एक स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप

1- वही, 7/63
2- वही, 7/62
3- हेतुश्च ....वाचामुत्तमभूषणम् ।
कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ यथा ।।- का० द० 2/235
4- श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा ।
हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिङ्गं तदुच्यते ।। - का० सा० सं० 6/7

में प्रस्तुत करने का विचार रुद्रट ने सम्भवतः उद्भट से ही ग्रहण किया है, किन्तु उद्भट की "काव्यलिङ्ग" संज्ञा की अपेक्षा रुद्रट की "अनुमान" संज्ञा अधिक पुष्ट प्रतीत होती है।

परवर्ती काव्यशास्त्र में मम्मटादि अधिकांश आचार्यों ने रुद्रट का अनुसरण करते हुए उक्त अलङ्कार की स्वतन्त्र रूप में विवेचना की है तथा साध्य- साधक के सद्-भाव अथवा निर्देश को अनुमान कहा है। इस प्रकार काव्यशास्त्र को अनुमान अलङ्कार की देन रुद्रट की ही है।

1- [क] अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः ।
- का० प्र० 10/117 उत्तरार्द्ध

[ख] साध्यसाधननिर्देशोऽनुमानम् । - अ० स० सूत्र- 59

[ग] प्रत्यक्षात्लिङ्गतो यत्र कालत्रितयवर्तिनः ।
लिङ्गिनो भवति ज्ञानमनुमानं तदुच्यते ।।
- वा० 4/137

[घ] अनुमानं च कार्यादेः कारणाद्यवधारणम् ।
- च० 5/36 पूर्वार्द्ध

[ङ] साध्यसाधननिर्देशे त्वनुमानमुदीयते ।
- प्र० रु० पृ०- 543

[च] साध्यसाधन सद्भावेऽनुमानमनुमानवत् ।
- अ० कौ० 8/ पृ०- 337.

[छ] अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात् ।
- सा० द० 10/ 63

[ज] अनुमिति कारणमनुमानम् ।
- र० गं० 2/ पृ०- 599

हेतु -

रुद्रट ने "हेतु" नामक अलङ्कार की भी विवेचना की है। यह "हेतु" दण्डी के "हेतु" तथा उद्भट के "काव्यलिङ्ग" से सर्वथा भिन्न है। रुद्रट के अनुसार साध्य के साथ साधन का अभेद रूप से कथन "हेतु" कहलाता है।[1] यथा-

> अविरल कमलविकासः सकलालिमदश्चकोकिलानन्दः ।
> रम्योऽयमिति सम्प्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥[2]

इस पद्य में "वसन्त" हेतु है और सघन कमलों का विकासादि हेतुमद् (कार्य) है, वसन्त को ही "अविरलकमलविकास" इत्यादि कह दिया गया है, इस प्रकार साधन तथा साध्य में अभेद है और इसीलिए यह "हेतु" का स्थल है। इस हेतु का सर्वप्रथम रुद्रट ने ही उल्लेख किया है।

परवर्ती काव्यशास्त्रियों में विश्वनाथ कविराज रुद्रट से पूर्णतः प्रभावित दिखायी पड़ते हैं, वे भी कारण- कार्य के अभेद कथन को "हेतु" अलङ्कार कहते हैं।[3]

वाग्भट ने कुछ भिन्न प्रकार से इस अलङ्कार को उपस्थित किया है। उनके अनुसार जहाँ किसी अर्थ को उत्पन्न करने वाले कर्ता की योग्यता की युक्ति का प्रकाशन होता है, उसे "हेतु" अलङ्कार कहते हैं।[4]

1- हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद्भवेद्यत्र ।
   सोऽलङ्कारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः ॥
   - का० 7/82

2- वही, 7/83

3- अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह ।
   - सा० द० 10/63 उत्तरार्द्ध

4- यत्रोत्पादयतः किञ्चिदर्थं कर्तुः प्रकाश्यते ।
   तद्योग्यतायुक्तिरसौ हेतुरुक्तो बुधैर्यथा ॥
   - वा० 4/104.

अप्पयदीक्षित ने सामान्य हेतु का "हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यते ।"[1] यह लक्षण किया है। इनका यह हेतु अन्य आचार्यों के काव्यलिङ्ग तथा अनुमान से अधिक साम्य रखता है। वे अन्य आलङ्कारिकों के मत के प्रति भी उदासीन नहीं हैं। "कुछ विद्वान् हेतु तथा हेतुमद् के ऐक्य (अभेदकथन) को हेतु कहते हैं"[2] यह कहते हुए इन्होंने रुद्रट के मत को भी प्रस्तुत किया है।

किन्तु वाग्देवतावतार मम्मट ने रुद्रट के इस हेतु का स्पष्ट शब्दों में खण्डन किया है। कारणमाला के प्रसङ्ग के अन्तर्गत वे कहते हैं कि "हेतुमद् का हेतु के साथ अभेदपूर्वक कथन हेतु है"- यह हेतु अलङ्कार का लक्षण नहीं है।[3] उन्होंने रुद्रटकृत "अविरलकमलविकासः" इत्यादि पद्य को उद्धृत करते हुए "यहाँ कोमलानुप्रास के कारण काव्यरूपता बतायी गयी थी, हेतु अलङ्कार के कारण नहीं। अतः पूर्वोक्त काव्यलिङ्ग ही हेतु अलङ्कार है, उससे भिन्न कोई हेतु अलङ्कार नहीं है।"[4]- यह कहकर स्पष्ट रूप से रुद्रट कथित हेतु को अलङ्कारता तथा उसके अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया है। नमिसाधु ने संस्कृत टीका में "आयुर्घृतं" इत्यादि पद्य को रुद्रट के "हेतु" के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है,[5] मम्मट ने वैचित्र्य के अभाव में इसकी भी अलङ्कारता का खण्डन किया है।[6]

1- हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यते । - कु० 167 पूर्वार्द्ध

2- हेतुहेतुमतोरैक्यं हेतुं केचित् प्रचक्षते । - वही, 168 पूर्वार्द्ध

3- "हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतु"-
रिति हेत्वलङ्कारो न लक्षितः । - का०प्र० 10/ पृ०-569

4- अविरलकमलविकासः ....।। इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रास-
महिम्नैव समाम्नासिषुः न पुनर्हेत्वलङ्कारकल्पनयेति पूर्वोक्तकाव्यलिङ्गमेव
हेतुः । - वही, पृ०- 570.

5- इदं तूदाहरणं यथा - आयुर्घृतं नदी पुण्यं भयं चौरः सुखं प्रिया ।
वैरं द्यूतं गुरुर्ज्ञानं श्रेयो ब्राह्मणपूजनम् ।।
- का० 7/83 संस्कृतटीका

6- आयुर्घृतमित्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात् ।
- का०प्र०, पृ०-569 वृत्तिभाग ।

तत्पश्चात् मम्मट का अनुसरण करते हुए अधिकांश परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने उक्त अलङ्कार का उल्लेख नहीं किया है।

दीपक-

रुद्रट ने दीपक अलङ्कार का अत्यन्त सरल शब्दों में लक्षण किया है। उनके अनुसार अनेक वाक्यार्थों का एक क्रियापद अथवा एक कारकपद होने पर दीपक अलङ्कार होता है।[1] इन क्रिया अथवा कारक पदों के वाक्य के आदि, मध्य अथवा अन्त में रहने के कारण पुनः इसके तीन भेद हो जाते हैं। इस प्रकार कुल छः प्रकार के दीपकालङ्कार होते हैं।[2] यथा-

> कान्ता ददाति मदनं मदनः सन्तापमक्रममनुपशमम् ।
> सन्तापो मरणमहो तथापि शरणं नृणां सैव ।। [क]
>
> तारुण्यमाशु मदनं मदनः कुरुते विलासविस्तारम् ।
> स च रमणीषु प्रभवन्जनहृदयाकर्षणं बलवत् ।। [ख]
>
> नवयौवनम् अङ्गेषु प्रियसङ्गमनोरथो हि हृदयेषु ।
> अथ चेष्टासु विकारः प्रभवति रम्यः कुमारीणाम् ।। [ग][3]

ये तीनों क्रियापद के उदाहरण हैं अर्थात् इनमें क्रमशः ददाति, कुरुते तथा प्रभवति- ये एक एक क्रियापद हैं, ये क्रमशः वाक्य के आदि, मध्य तथा अन्त में प्रयुक्त हुए हैं तथा साथ ही प्रत्येक का कई वाक्यों से सम्बन्ध है। इसी प्रकार

1- यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति ।
तद्वत्कारकपदमपि तदेतदिति दीपकं द्वेधा।।- का0 7/64

2- आदौ मध्येऽन्ते वा वाक्ये तत्संस्थितं च दीपयति ।
वाक्यार्थानिति भूयस्त्रेधैतदेवं भवेत्षोढा ।। - वही, 7/65

3- वही, 7/66-67-68.

कारकपद के भी उदाहरण रुद्रट ने दिए हैं।[1] जिनमें क्रमशः निद्रा, अनुराग तथा नवपरिणीता वधुयें – ये तीनों कर्तृकारक वाक्य के आदि, मध्य तथा अन्त में प्रयुक्त हुए हैं।

उक्त अलङ्कार का विवेचन प्रायः सभी आचार्यों ने किया है। सर्वप्रथम भरतमुनि ने इसका रूप निर्धारित करते हुए एक वाक्य से संयुक्त विभिन्न शब्दों के प्रकाशन को दीपक कहा है।[2] भामह ने इसमें संशोधन करते हुए वाक्यादि (पदार्थ) के दीपन को दीपक अलङ्कार कहा है तथा एक ही वस्तु के वाक्य के आदि, मध्य तथा अन्त में स्थित होने के कारण इसे तीन प्रकार का निर्धारित किया है।[3]

1- (क) निद्रापहरति जागरमुपजनयति मदनदहनसन्तापम् ।
जनयति कान्तासङ्गमसुखं च कोऽप्यसतो जन्तुः ।।

(ख) श्लथयति गात्रमखिलं ग्लपयति चेतो नितान्तमनुरागः ।
जनमसुलभं प्रति सखे प्राणानपि भङ्क्तु मुष्णाति ।।

(ग) दूरादुत्कण्ठन्ते दयितानां सन्निधौ तु लज्जन्ते ।
वस्यन्ति वेपमानाः शयने नवपरिणया वध्वः ।।

– वही, 7/69,70,71.

2- नानाधिकरणस्थानां शब्दानां सम्प्रदीपकम् ।
एकवाक्येन संयोगं तद् दीपकम् इहोच्यते ।।

– ना० शा० 16/56

3- आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते ।
एकस्यैव त्र्यवस्थत्वादिति तद् भिद्यते त्रिधा।।
अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात् ।

– का० 2/25-26 पूर्वार्द्ध

उनके दीपक- सम्बन्धी उदाहरणों[1] को देखने से प्रतीत होता है कि लक्षणगत "एकस्थ" पद से सम्भवतः उनका क्रियापद से तात्पर्य है, क्योंकि उपर्युक्त तीनों क्रम आदि क्रिया, मध्यक्रिया तथा अन्तक्रिया के उदाहरण हैं।

दण्डी तथा भोजराज गुण, क्रिया, जाति तथा द्रव्यवाची एक पद से समस्त वाक्य के उपकृत अथवा अन्वित होने को दीपक अलङ्‌कार कहते हैं।[2] दण्डी ने इसके अनेक उदाहरण भी दिए हैं[3] जिनसे स्पष्ट है कि वे आदि, मध्य तथा अन्त प्रभेदों को स्वीकार करते हैं। साथ ही इन्होंने माला, विरुद्धार्थ तथा एकार्थ दीपकों का भी उल्लेख किया है।[4] विरुद्धार्थ दीपक के उदाहरण रूप पद्य[5] में "बलाहक" रूप एक कर्तृकारक पद का विभिन्न विरुद्धार्थक क्रियाओं से सम्बन्ध है। इसी प्रकार एकार्थ दीपक के उदाहरण[6] में "जलधरावली" रूप एक कारकपद का विभिन्न क्रियाओं से

1- मदो जनयति प्रीतिं साऽनङ्‌गं मानभङ्‌गुरम् ।
स प्रियासङ्‌गमोत्कण्ठां साऽसह्यां मनसश्शुचम् ।।
मालिनीरंशुकभृतः स्त्रियोऽलङ्‌कुरुते मधुः ।
हारीतवाचश्च भूधराणामुपत्यकाः ।।
वीरीमतोररण्यानीः सरितश्शुष्यदम्भसः।
प्रवासिनां च चेतांसि शुचिरन्तं निनीषति।।
- का० 2/27-29

2- (क) जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना ।
सर्ववाक्योपकारश्चेत्तदाहुर्दीपकं यथा।। - का० द० 2/97.
(ख)

3- का०द० 2/98-106

4- ... तन्मालादीपकं मतम् ।।
..... तद् विरुद्धार्थदीपकम्।।
..... तस्मादेकार्थदीपकम् ।। - का० द० 2/108, 110, 112

5- अवलेपमनङ्‌गस्य वर्धयन्ति बलाहकाः ।
कर्शयन्ति तु घर्मस्य मारुतोद्धूतशीकराः।। - वही, 109

6- हरत्याभोगमाशानां गृह्णाति ज्योतिषां गणम् ।
आदत्ते चाद्य मे प्राणानसौ जलधरावली ।।-वही, 111

सम्बन्ध है। रुद्रट सम्भवत: इन दोनों को अनेक वाक्यार्थों में एक कारकपद का होना- इस भेद में अन्तर्भूत मानते रहे होंगे, इसलिए उन्होंने इनकी चर्चा नहीं की। वामन ने भी आदि, मध्य तथा अन्त- इन तीनों भेदों को स्वीकार करते हुए केवल क्रिया का ही उल्लेख किया है, इन्होंने ही सर्वप्रथम इस अलङ्कार में उपमान - उपमेय भाव का सन्निवेश किया है, उनके अनुसार एक क्रिया वाले उपमान तथा उपमेय रूप वाक्यों में दीपक अलङ्कार होता है।[1]

उद्भट ने आदि, मध्य तथा अन्त तीनों प्रकारों को स्वीकार करते हुए भामह के "एक" तथा दण्डी के "क्रिया" पद के स्थान पर "धर्म" पद का प्रयोग किया है। उनके अनुसार शब्दत: न कहे गए अर्थात् छिपे हुए उपमेयोपमान भाव वाले अत: प्रधानत्व एवं अप्रधानत्व से युक्त धर्मों का प्रयोग दीपक में होता है।[2] यथा-

संजहार शरत्काल: कदम्बकुसुमश्रिय: ।
प्रेयोवियोगिनीनां च नि:शेषसुखसम्पद: ।।

इस पद्य में शरत्काल के प्रसङ्गवश वियोगिनी स्त्रियों के समस्त सुख तथा कदम्बकुसुम शोभा में उपमानोपमेयभाव है, जो शब्दत: कथित नहीं है। अत: कदम्बकुसुमशोभा प्रधान है तथा समस्तसुखसम्पत्ति अप्रधान। "संजहार" क्रिया धर्म है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उक्त अलङ्कार के विषय में रुद्रट ने पूर्ववर्तियों का अनुसरण करते हुए भी इसके लक्षण में संशोधन करते हुए इसे प्रस्तुत किया

1- उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम् ।
तत्त्रैविध्यम् आदिमध्यान्तवाक्यवृत्तिभेदात् ।। - का०सू०वृ० 4/3/18.

2- आदिमध्यान्तविषया: प्राधान्येतरयोगिन: ।
अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद् दीपकं विदु: ।। - का०सा०सं०, पृ०-276.

3- वही, लघुवृत्ति टीका 277-78.

है, क्रियापद तथा कारक पद- इस भेद- विभाजन को स्थिर करने का श्रेय रुद्रट को ही है। इस भेद को पूर्ण मान्यता देते हुए परवर्तियों ने रुद्रट के साथ उद्भट का भी अनुसरण करते हुए इस अलङ्कार के लक्षण उपन्यस्त किए हैं।[1] इनमें से अधिकांश आचार्यों ने माला दीपक की भी विवेचना की है।[2] वाग्भट ने आदि, मध्य तथा अन्त में आने वाले एक पदार्थ से वाक्य को अर्थ-सङ्गति होने को दीपक कहा

1- [क] सकृद् वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ।। - का०प्र० 10/256

[ख] प्रस्तुताप्रस्तुतानां तु दीपकम् ।
.... अत्र च यथानेककारकगतत्वेनैकक्रिया दीपकं तथानेकक्रियागतत्वेनैककारकमपि दीपकम् । -
- अ०स०सूत्र 25 तथा वृत्तिभाग

[ग] प्रस्तुताप्रस्तुतानां च तुल्यत्वे दीपकं मतम् । - च० 5/53 पूर्वार्द्ध

[घ] समस्तवाक्योपकरणत्वं दीपकत्वम् । ....तत्तत्कारक- क्रियादिभेदादनन्तम् । - अ० शे०, पृ०- 36.

[ङ.] कारकैक्ये क्रिया बह्व्यो व्यत्ययेऽपि च दीपकम् ।
- अ० कौ० 8/264

[च] अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते ।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ।।
- सा० द० 10/48-49.

[छ] वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः । - कु० 48

[ज] प्रकृताप्रकृतानां चेकसाधारणधर्मान्वयो दीपकम् ।
प्राग्वदेवात्रा प्यौपम्यस्य गम्यत्वम् ।।
- र० गं०, पृ०-57.

2- का० प्र० 103 पूर्वार्द्ध
अ० स० सूत्र 56
अ० शे० पृष्ठ36

है।[1] इनके उदाहरणों[2] से स्पष्ट है कि वे भी रुद्रट की ही भाँति एक कारक से अनेक क्रियाओं के तथा एक क्रिया से अनेक कारकों के सम्बन्ध को ही दीपक मानते हैं।

साहित्यदर्पणकार क्रिया अथवा कारक के वाक्य के आदि, मध्य अथवा अन्त में प्रयुक्त होने को त्रिविध विभाजन का हेतु न मानकर सहस्रों वैचित्र्यों में से एक वैचित्र्य मानते हैं।[3] सम्भवतः इसी विचार को ध्यान में रखकर अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने इस विभाजन का उल्लेख नहीं किया है।

परिकर -

समुच्चय, विषम, उत्तर इत्यादि अलङ्कारों के समान परिकर भी रुद्रट द्वारा विवेचित एक नवीन अलङ्कार है। इससे पहले भामह, दण्डी तथा उद्भट आदि ने इसकी चर्चा नहीं की है। वास्तवमूलक इस अलङ्कार में अभिप्रायपूर्ण विशेषणों द्वारा वस्तु {विशेष्य} की विशिष्टता का प्रतिपादन किया जाता है।[4] यह अलङ्कार जाति, द्रव्य, गुण तथा क्रिया के भेद से चार प्रकार का होता है।[5] इन चारों को रुद्रट ने उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है। यथा-

उचितपरिणाम रम्यं स्वादु सुगन्धि स्वयं करे पतितम् ।
फलमुत्सृज्य तदानीं ताम्यसि मुग्धे मुधेदानीम् ॥[6]

1- आदिमध्यान्तवर्त्यैक पदार्थेनार्थसङ्गतिः ।
वाक्यस्य यत्र जायेत तदुक्तं दीपकं यथा ॥ - का० 4/98.

2- {क} जगुस्तव दिवि स्वामिन्गन्धर्वा पावनं यशः।
किन्नराश्च कुलाद्रीणां कन्दरेषु मुहुर्मुदा ॥
{ख} विराजन्ति तमिस्रासु ज्योत्स्ने दिवि तारकाः ।
विभान्ति कुमुदश्रेण्यः शोभन्ते निशि दीपकाः ॥- वही, 4/99-100

3- अत्र च गुणक्रिययोरादिमध्यावसान सद्भावेन त्रैविध्यं न लक्षितम् ।
तथाविध वैचित्र्यस्य सर्वत्रापि सहस्रधासम्भवात् ॥ - सा०द० 10/पृ०-760

4- साभिप्रायैः सम्यग्विशेषणैर्वस्तु यद् विशिष्येत ।

5- द्रव्यादिभेदभिन्नं चतुर्विधः परिकरः स इति ॥- का० 7/72

6- वही, 7/73.

इस स्थल पर उचितपरिणामरम्य, स्वादु तथा सुगन्धि- इन अभिप्रायपूर्ण विशेषणों से विशिष्ट फल रूप द्रव्य का कथन है, अतएव यह द्रव्य परिकर का स्थल है। यह फल किसी भी प्रकार त्याज्य नहीं है, यही इन विशेषणों का प्रतिपाद्य है। इस प्रकार ये विशेषण साभिप्राय हैं। इसी प्रकार गुण परिकर के उदाहरण रूप -

कार्येषु विछिन्नलेखं विदितमहीयोऽपराधसम्वरणम् ।
अस्माकमधन्यानामार्जवमपि दुर्लभं जातम् ।।[1]

इस पद्य में "आर्जव" रूप गुण विशेष्य है, अन्य उसके विशेषण हैं। यहाँ "नायिका को सरल न समझ लेना" ही विशेषणों का अभिप्राय है। क्रिया परिकर के उदाहरण रूप -

सततमनिर्वृतमानसमायाससहस्रसङ्कुलक्लिष्टम् ।
गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीषुरयम् ।।[2]

इस पद्य में "जीवति" क्रिया के सततमनिर्वृतमानसम् इत्यादि विशेषण हैं, राजा के निन्दनीय जीवन को सूचित करना ही इन विशेषणों का अभिप्राय है।

अत्यन्तमसहनानामुत्सवतीनामनिछन्नवृत्तीनाम् ।
एवं सकले जगति स्पृहणीयं जन्म केसरिणाम् ।।[3]

"जाति परिकर" के इस उदाहरण में "सिंह" जाति के "अत्यन्तमसहना" इत्यादि विशेषण उनके महत्वप्रतिपादन रूप अभिप्राय के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

1- वही, 7/74

2- वही, 7/75

3- वही, 7/76

इस परिकर का प्राय: अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने उसी रूप में विवेचन किया है किन्तु इनमें से किसी भी आचार्य ने परिकर के उपर्युक्त चतुर्विभाजन का उल्लेख नहीं किया है। चन्द्रालोककार ने स्वसम्मत लक्षण में विशेषण पद के लिए एकवचन का प्रयोग किया है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में उक्त अलङ्कार में विशेष्य का अनेक विशेषणों से युक्त होना अनिवार्य नहीं है। किन्तु मम्मट के "एक विशेष्य के अनेक विशेषणों से युक्त होने से इसमें चमत्कार आ जाता है और इसीलिए इसकी अलङ्कारों के मध्य गणना की गयी है,[2] इस प्रतिपादन से उक्त अलङ्कार में विशेष्य का अनेक विशेषणों से युक्त होना अनिवार्य प्रतीत होता है।

स्पष्ट है कि इस अलङ्कार को काव्यशास्त्र में लाने का तथा उसके स्वरूप को स्थिर करने का श्रेय रुद्रट को है।

1- {क} विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्ति: परिकरस्तु स: ।
- का० प्र० 10/11 पूर्वार्द्ध

{ख} विशेषणसाभिप्रायत्वं परिकर: । - अ० स० सूत्र 23.

{ग} अलङ्कार: परिकर: साभिप्राये विशेषणे । - च० 5/39 पूर्वार्द्ध

{घ} यत्राभिप्रायगर्भा स्याद्विशेषणपरम्परा ।
तत्राभिप्रायविद्वांसो परिकरो मत: ।। - प्र० रु०, पृ०-530.

{ङ.} उक्तैर्विशेषणै: साभिप्रायै: परिकरो मत: ।
- सा० द० 10/ 57 पूर्वार्द्ध

{च} विशेषणानां साभिप्रायत्वं परिकर: ।
- र० गं० 2/ पृ०-272

{छ} विशेषोक्ति: परिकर: स्यात् साकूतैर्विशेषणै: ।
- अ० कौ० 8/291.

2- तथा एकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवम् उपन्यासे
वैचित्र्यम् इत्यलङ्कारमध्ये गणित: ।। - का० प्र० 10/पृ०-564.

परिवृत्ति -

आचार्यप्रवर रुद्रट के अनुसार परिवृत्ति वहाँ होता है, जहाँ वस्तुओं का दान तथा ग्रहण एक साथ प्रतिपादित किया जाता है अथवा प्रसिद्धि के कारण यह दान तथा ग्रहण लाक्षणिक रूप से कथित { उपचरित } होता है।[1] यथा-

दत्त्वा दर्शनमेते मत्प्राणा वरतनु त्वया क्रीताः ।
किं त्वपहरसि मनो यद् ददासि रणरणकमेतदसत् ।।[2]

इस पद्य के पूर्वार्द्ध में दर्शनदान तथा प्राणदान का एक साथ वर्णन है। इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में मन का अपहरण {आदान} तथा उत्कण्ठा दान का समकाल में वर्णन है। नमिसाधु के मतानुसार मन का अपहरण तथा उत्कण्ठा देने का वर्णन उपचरित है।[3] रुय्यक के अनुसार उक्त उदाहरण के पूर्वार्द्ध में समपरिवृत्ति तथा उत्तरार्द्ध में न्यूनपरिवृत्ति है।[4] रुद्रट ने इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं किया है। हाँ, पूर्ववर्तियों ने अवश्य परिवृत्ति को सम तथा विसदृश बताया है। भामह के अनुसार अन्य वस्तु के त्याग से विशिष्ट वस्तु का आदान परिवृत्ति है।[5] वामन ने कुछ

1- युगपद् दानादानेऽन्योन्यं वस्तुनोः क्रियेते यत् ।
क्वचिद् उपचर्येते वा प्रसिद्धितः सेति परिवृत्तिः ।।
- का० 7/77

2- वही, 7/78

3- .... चित्तहरणसमकालमेव चुक्योत्कलिकादानमुपचरितम् ।
- वही, टीका

4- अत्रार्धे समपरिवृत्तिः । द्वितीयार्धे न्यूनपरिवृत्तिः ।
- अ०स०, पृ०-57। वृत्तिभाग

5- विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः ।
..........परिवृत्तिरसौ यथा ।।

परिवर्तन करते हुए समान तथा असमान वस्तुओं के विनमय को परिवृत्ति कहा है।[1] दण्डी के काव्यादर्श में इसका लक्षण तो नहीं है, किन्तु उनके उदाहरण[2] से स्पष्ट है कि वे भामह से सहमत हैं अर्थात् उनके उदाहरण में भी दान की वस्तु की अपेक्षा आदान की वस्तु {यश} विशिष्ट है। उद्भट ने समान, न्यून अथवा विशिष्ट वस्तुओं से किसी वस्तु के परिवर्तन को परिवृत्ति कहा है।[3]

मम्मट इत्यादि अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने वस्तु के विनमय {दानादान} को परिवृत्ति कहते हुए उक्त अलङ्कार का लक्षण किया है।[4] इन लक्षणों के पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि इन सभी आचार्यों ने उद्भटकथित सम तथा असम {न्यून एवं विशिष्ट} परिवृत्तियों को मान्यता प्रदान की है। चन्द्रालोककार ने विषम परिवृत्ति

1- समविसदृशाभ्यां परिवर्त्तने परिवृत्तिः । - का0 सू0 वृ0 4/3/16.

2- शस्त्रप्रहारं ददता भुजेन तव भूभुजाम् ।
चिरार्जितं हृतं तेषां यशः कुमुदपाण्डुरम् ।।- का0 द0 2/356.

3- समन्यूनविशिष्टैस्तु कस्यचित्परिवर्तनम् ।
अर्थानर्थस्वभावं यत् परिवृत्तिरभाणि सा।।- का0 सा0 सं0 5/16.

4- {क} परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः ।
- का0प्र0 10/113 उत्तरार्द्ध

{ख} समन्यूनाधिकानां समाधिकन्यूनैर्विनिमयः परिवृत्तिः ।
- अ0 स0 सूत्र 62

{ग} परिवर्तनमर्थेन सदृशासदृशेन वा ।
जायतेऽर्थस्य यत्रासौ परिवृत्तिर्मता यथा।। - वा0 4/111

{घ} समन्यूनाधिकानां च यदा विनिमयो भवेत् ।
सार्धं समाधिकन्यूनैः परिवृत्तिरसौ मता ।।
- प्र0 रु0, पृ0- 569

{ङ} परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत् । - र0 गं0 2/पृ0-621.

{च} समासमाभ्यां नियमः परिवृत्तिरुदीर्यते । - अ0कौ0 8/280.

{छ} सदृशासदृशैरर्थानां विनिमस्तु परिवृत्तिः।- अ0 सु0 32.

को ही स्वीकार किया, समपरिवृत्ति का उल्लेख नहीं किया है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भामह से लेकर आचार्य विश्वेश्वर पर्यन्त सभी आचार्यों ने परिवृत्ति का एक सा स्वरूप प्रतिपादित करते हुए उसके सम तथा विषम भेदों को स्वीकार किया है, केवल रुद्रट ही ऐसे काव्यशास्त्री हैं, जिन्होंने इन भेदों के विषय में कुछ नहीं कहा है। सम्भवतः वे विनिमय को ही इसमें प्रधानता देते हैं, वह चाहे सम विनिमय हो या विषम विनिमय, वह तो परिवृत्ति के क्षेत्र में आ ही जाता है।

परिसंख्या -

काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम रुद्रट ने ही इस अलङ्कार का विवेचन किया है। उनके अनुसार जहाँ पूछे गए अथवा न पूछे गए कहीं विद्यमान साधारण गुणादि का इस प्रकार कथन हो कि अन्यत्र उनका अभाव प्रतीत हो, वह प्रश्नपूर्विका तथा अप्रश्नपूर्विका दो प्रकार की परिसंख्या का स्थल होता है।[2] यथा प्रश्नपूर्विका परिसंख्या के उदाहरण रूप -

> किं सुखमपारतन्त्र्यं किं कल्पविनाशि निर्मला विद्या ।
> किं कार्यं सन्तोषो विप्रस्य महेश्वरा राज्ञाम् ।।[3]

इस पद्य में सुख इत्यादि गुणों का स्वतन्त्रता इत्यादि में कथन किया गया है। यद्यपि ये गुण क्रमशः स्त्री, कल्पतरु, तप एवं विजय में भी होते हैं। तथापि इनका इस प्रकार कथन किया गया है कि स्त्री इत्यादि स्थलों में इनका अभाव प्रतीत होता

1- परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः । - च० 5/94 पूर्वार्द्ध

2- पृष्टमपृष्टं वा सद् गुणादि यत्कथ्यते क्वचित्तुल्यम् ।
अन्यत्र तु तदभावः प्रतीयते सेति परिसंख्या ।। - का० 7/79

3- वही, 7/80

है। इसी प्रकार कथन के अभाव में "कौटिल्यं कचनिचये"[1] इत्यादि अप्रश्नपूर्विका परिसंख्या का उदाहरण है।

परवर्ती काव्यशास्त्र में इस अलङ्कार को पूर्ण मान्यता प्राप्त हुई। मम्मट के अनुसार जहाँ पूछी गयी अथवा न पूछी गयी वस्तु कथित होकर अपने जैसी किसी अन्य वस्तु के निराकरण के रूप में कल्पित होती है, उसे परिसंख्या कहते हैं।[2] उन्होंने रुद्रट सम्मत भेदों के अतिरिक्त दो अन्य प्रभेद किए हैं, जो वस्तु के निराकरण के वाच्य अथवा प्रतीयमान रूप में वर्णित होने पर आधारित हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में कुल चार भेद हैं -

प्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेद्या परिसंख्या
प्रश्नपूर्विका आर्थव्यवच्छेद्या परिसंख्या
अप्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेद्या परिसंख्या
अप्रश्नपूर्विका आर्थव्यवच्छेद्या परिसंख्या ।।[3]

1- वही, 7/31

कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते ।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति

2- किञ्चित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता।।
- का0प्र0 10/119.

3- अत्र च कथनं प्रश्नपूर्वकं तदन्यथा च परिदृष्टम्, तत्राभयत्र व्यपोह्यमानस्य प्रतीयमानता वाच्यत्वं चेति चत्वारो भेदाः।
- वही, 11/119 वृत्तिभाग

इन चारों को उन्होंने उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट भी किया है।[1] इस विभाजन की दृष्टि से रुद्रट द्वारा उद्धृत दोनों उदाहरण क्रमशः प्रश्नपूर्विका तथा अप्रश्नपूर्विका आर्थव्यवच्छेद्या परिसंख्या के स्थल हैं।

स्पष्ट ही मम्मट ने पूर्णरूप से रुद्रट का अनुसरण करते हुए उक्त अलङ्कार में कुछ और वृद्धि की है। अन्य परवर्ती आचार्यों ने भी परिसंख्या के रुद्रट सम्मत रूप को ही मान्यता प्रदान करते हुए मम्मट कथित चारों भेदों को भी स्वीकार

1- {क} किमासेव्यं पुंसां सविधमनवद्यं द्युसरितः
किमेकान्ते ध्येयं? चरणयुगलं कौस्तुभभृतः ।
किमाराध्यं पुण्यं किमभिलषणीयं च करुणा
यदासक्त्या चेतो निरवधिविमुक्त्यै प्रभवति ।।

{ख} किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं
किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः
किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं
जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ।।

{ग} कौटिल्यं कचनिचये .... ।।

{घ} भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे ।
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ।।
- का० प्र० 10/119 वृत्तिभाग

किया है।

स्पष्ट है कि यह अलङ्कार भी रुद्रट की ही देन है।

1- {अ}

- {क} एकस्यानेकप्राप्तावेकत्र नियमनं परिसंख्या । - अ०स० सूत्र 63.

{ख} यत्र साधारणं किञ्चिदेकत्र प्रतिपाद्यते ।
अन्यत्र तन्निवृत्त्यै सा परिसंख्योच्यते।। - वा० 4/141.

{ग} परिसंख्या निषिध्यैकमन्यस्मिन् वस्तुयन्त्रणम् ।
- च० 5/95 पूर्वार्द्ध

{घ} परिसंख्या निषिध्यैकमेकस्मिन् वस्तुयन्त्रणम् ।
- कु० 113 पूर्वार्द्ध

{ङ.} एकस्य वस्तुनः प्राप्तावनेकत्रैकदा यदि ।
एकत्र नियम सा हि परिसंख्या निगद्यते ।।
- प्र० रु०, पृ०- 550.

{च} प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद् वस्तुनो भवेत् ।
तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा ।।
- सा० द० 10/81

{छ} प्रश्नपूर्वकमाख्यानं तत्सामान्यव्यपोहनम् ।
तस्य तस्यापि च द्वैये व्यङ्ग्यत्वे स्याद्यथापरम् ।
अप्रश्नपूर्वकं वाच्यं परिसंख्या चतुर्विधा ।। - अ० कौ० 8/293

{ज} पृष्टमपृष्टं प्रोक्तं यद्व्यङ्ग्यं वापि वाच्यं वा ।
फलतीतद्व्यपोहं परिसंख्या सा तु संख्याता ।।-अ०मु० 37.

{ब}

{क} सा चैषा प्रश्नपूर्विका तदन्यथा चेति प्रथमं द्विधा ।
प्रत्येकं च वर्जनीयत्वस्य शाब्दत्वार्थत्वाभ्यां द्वैविध्य मिति
चतुःप्रभेदाः । - अ०स०, पृ०-577 वृत्तिभाग

{ख} सा प्रथमं द्विविधा प्रश्नपूर्विका तदन्यथा चेति। तयोर्द्वयोर्वर्जनीयस्य
शाब्दत्वार्थत्वाभ्यां द्वैविध्ये चातुर्विध्ये चातुर्विध्यम् ।-
- प्र०रु० 550 वृत्तिभाग

{ग} सा० द० 10/81

{घ} अ० कौ० 8/293

{ङ.} वचनं च प्रश्नपूर्वकं तदपूर्वकं च। व्यवच्छेदमपि व्यङ्ग्यं वाच्यं चेति
चत्वारो भेदाः। - अ० मु०, पृ०- 37 वृत्तिभाग ।

कारणमाला -

जैसा इस अलङ्•कार के नाम से ही ज्ञात होता है कि इसमें कारणों की एक पंक्ति {माला} रहती है अर्थात् जो जो पूर्व में होता है वह अपने अपने उत्तरवर्ती अर्थ का कारण बनता जाता है क्योंकि पूर्व अर्थ से उत्तर अर्थ उत्पन्न होता है, इसलिए इसे कारणमाला कहते हैं।[1] यथा-

विनयेन भवति गुणवान्गुणवति लोकोऽनुरज्यते सकलः ।
अभिगम्यतेऽनुरक्तः ससहायो युज्यते लक्ष्म्या ॥[2]

इस उदाहरण में विनय, गुणवत्ता, श्रद्धेय तथा ससहाय उत्तरवर्ती गुणवत्ता लोगों का श्रद्धापात्र, ससहाय तथा लक्ष्मीवान् होने के कारण हैं। इस प्रकार इसमें एक के पश्चात् एक कारणों की ऐसी योजना होती है कि उसकी माला सी बन जाती है।

1- कारणमाला सेयं यत्र यथापूर्वमेति कारणताम् ।
अर्थानां पूर्वार्थाद् भवतीदं सर्वमेवेति ॥
- का० 7/84

2- वही, 7/85.

सर्वप्रथम रुद्रट द्वारा काव्यशास्त्र में लक्षित किए गए इस अलङ्कार को प्रायः सभी परवर्तियों ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है।[1] अलङ्कार सर्वस्वकार ने कार्यकारण क्रम को ही इस अलङ्कार का चारुत्व- हेतु कहा है।[2]

इस प्रकार काव्यशास्त्र में इस अलङ्कार को प्रकाश में लाने का तथा उसे स्थिर करने का श्रेय रुद्रट को ही है। मम्मट तथा सर्वस्वकार ने तो उनके उदा-

---

1- {क} यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता । तदा कारणमाला स्यात्...।
- का० प्र० 10/ 120

{ख} पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला।- अ०स० सूत्र 54.

{ग} गुम्फः कारणमाला स्याद्यथा प्राक्प्रान्तकारणैः ।
- च० 5/87 पूर्वार्द्ध तथा कु० 104 पूर्वार्द्ध

{घ} परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता ।
तदा कारणमाला स्यात् .... ।।
- 10/ 76

{ङ.} यथोत्तरं पूर्वपूर्वहेतुकस्य तु हेतुता ।
तदा कारणमाला स्यात् ।। - अ०कौ० 8/294

{च} कारणमाला प्रोक्ता पूर्वं यथोत्तरं हेतौ ।
- अ० मु० 38 पूर्वार्द्ध

{छ} पूर्वपूर्वं प्रति यदा हेतुः स्यादुत्तरोत्तरम् ।
तदाकारणमालाख्यामलङ्कारमुच्यते ।।
- प्र० रु०, पृ०-570.

2- कार्यकारणक्रम एवात्र चारुत्व हेतुः ।
- अ० स० सूत्र 54 वृत्तिभाग

हरण को भी रूपान्तर के साथ उदाहरण रूप में उद्धृत किया है।[1] केवल पण्डित-राज ही ऐसे हैं, जिन्होंने उक्त अलङ्कार में कुछ और अंश जोड़ दिया है। इनके अनुसार कभी पूर्व- पूर्व अर्थ कारणरूप तथा उत्तर- उत्तर अर्थ कार्यरूप होता है तथा कभी पूर्व- पूर्व अर्थ कार्यरूप होता है, उत्तर- उत्तर अर्थ कारणरूप[2]। इस प्रकार कारणमाला के उन्होंने दो भेद किए हैं।

व्यतिरेक -

रुद्रट ने दो प्रकार के व्यतिरेक की विवेचना की है। उनके अनुसार जो उपमेय में गुण रूप हो तथा उपमान में दोष रूप हो, उसके न्यास में व्यतिरेक अलङ्कार होता है। यह तीन प्रकार का होता है-

केवल {उपमेय के} गुण रूप में न्यस्त होना
केवल {उपमान के} दोष रूप में न्यस्त होना
तथा दोनों {गुण-दोष} रूपों में न्यस्त होना।[3]

इसके अतिरिक्त उनकी दृष्टि में दूसरे प्रकार का व्यतिरेक अलङ्कार वह है जिसमें इसके विपरीत उपमान में जो गुण रूप होता है वही उपमेय के दोष रूप में न्यस्त होता है, ये दोष-गुण दोनों ही इसमें उक्त होते हैं।[4]

1- जितेन्द्रियत्वं विनयं कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ।।
- का० सू० 10/120 वृत्तिभाग
अ० स० सू० 56 वृत्तिभाग

2- तत्र पूर्वं पूर्वं कारणं परं परं कार्यमित्येका ।
पूर्वं पूर्वं कार्यं परं परं कारणमित्यपरा ।। - र०गं० 2/पृ०-539-40.

3- यो गुण उपमेये स्यात् तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने ।
व्यस्तसमस्तन्यस्तौ तौ व्यतिरेकं त्रिधा कुरुतः ।। - का० 7/86.

4- यो गुण उपमाने वा तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमेये ।
भवतो यत्र समस्तौ स व्यतिरेकोऽयमन्यस्तु ।। - वही, 7/89.

सकलड्•केन जडेन च साम्यं दोषाकरेण कीदृक्ते ।
अभुजड्•ग समनयना: कथमुपमेयो हरेणासि ।।- {क}

तरलं लोचनयुगलं कुवलयमचलं किमेतयो: साम्यम् ।
विमलं मलिनेन मुखं शशिना कथमेतदुपमेयम् ।।- {ख}

क्षीण: क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयो विवर्धते सत्यम् ।
विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्तियातं तु ।।- {ग}[1]

उपर्युक्त उदाहरणों में से प्रथम दो पद्य पूर्व व्यतिरेक के उदाहरण हैं तथा तृतीय व्यतिरेक के दूसरे प्रकार का । प्रथम उदाहरण के पूर्वार्द्ध में उपमान के दोष का कथन है तथा उत्तरार्द्ध में उपमेय के गुण का । इसमें क्रमश: उपमेय के गुण तथा उपमान के दोष गम्य हैं। द्वितीय उदाहरण में उपमेय की गुणवत्ता तथा उपमान का सदोषत्व- दोनों हो कथित हैं। इस प्रकार प्रथम व्यतिरेक का त्रैविध्य रुद्रट सिद्ध करते हैं। तृतीय पद्य में उपमान के {शशी} गुण तथा उपमेय {यौवन} के दोष वाच्य हैं, अत: यह दूसरे प्रकार का व्यतिरेक है।

व्यतिरेक के इस प्रसड्•ग में रुद्रट ने "जिस "गुण" शब्द का प्रयोग किया है, उससे हृदयावर्जक विशेष अर्थ का ग्रहण होता है। द्रव्य, गुण, क्रिया एवं जाति में प्रसिद्ध गुण का नहीं। दोष भी इस गुण का विरोधी अर्थात् हृदय में वैरस्य उत्पन्न करने वाला अर्थविशेष होता है।[2]

1- वही, {क} 7/87- {ख} 88, {ग} 90

2- गुणश्चात्र हृदयावर्जकार्थविशेषो गृह्यते, न तु द्रव्यगुणक्रियाजातिषु प्रसिद्ध:। दोषोऽपि चोक्तगुणविपक्ष एव । - का0 7/86 नमिसाधुकृत टीका

उपमेय तथा उपमान का प्रसङ्ग होने से उक्त अलङ्कार के औपम्यमूलक अलङ्कार होने की शङ्का होती है। इसका समाधान करते हुए नमिसाधु कहते हैं कि इस प्रसङ्ग के "उपमान तथा उपमेय में सादृश्य का अभाव रहने के कारण इसे औपम्यमूलक अलङ्कार बनाने की शङ्का नहीं करनी चाहिए। उपमान और उपमेय पदों का ग्रहण व्यतिरेक की सिद्धि के लिए किया गया है। नहीं तो व्यतिरेक इस संज्ञा से गुणी का दोषयुक्त के साथ औपम्य खण्डित न होता।[1]

रुद्रट के पूर्व तथा पश्चात् व्यतिरेक का क्या रूप काव्यशास्त्र में मान्य था और क्या मान्य हुआ, सम्प्रति इसकी समीक्षा की जा रही है।

भामह, दण्डी, वामन तथा उद्भट- सभी पूर्ववर्ती आचार्यों ने इसका विवेचन किया है। भामह तथा वामन ने स्पष्ट शब्दों में उपमान की अपेक्षा उपमेय के वैशिष्ट्य निदर्शन या गुणातिरेक के कथन को व्यतिरेक कहा है।[2] उद्भट इसमें कुछ और अंश जोड़ते हुए उपमान तथा उपमेय के बीच विशेष के उपादान को व्यतिरेक कहते हैं, इस वैशिष्ट्य का निमित्त कभी उक्त होता है, कभी अनुक्त, इस दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं।[3] इनमें भी कभी उपमानोपमेयभाव को सूचित करने के लिए

1- न चात्रौपम्यालङ्कारभेदत्वमाशङ्कनीयम् । सादृश्याभावात् ।
उपमानोपमेयपदोपादानं तु व्यतिरेकसिद्ध्यर्थम् । नह्यन्यथा सङ्घटते
गुणिनः सदोषेण सहौपम्यविघटनं व्यतिरेक इति कृत्वा । - वही

2- [क] उपमानवतोऽर्थस्य यद् विशेषनिदर्शनम् ।
व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद् यथा ।। - का0 2/75.
[ख] उपमेयस्य गुणातिरेकत्वं व्यतिरेकः ।। - का0सू0 वृ0 4/3/22.

3- विशेषापादानं यत्स्यादुपमानोपमेययोः ।
निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्यां व्यतिरेको द्विधा च सः ।।
- का0 सा0 सं0 2/6.

"इवादि" का प्रयोग होता है, कहीं नहीं, अतः यह चार प्रकार का होता है।[1] इन चारों भेदों के श्लिष्टोक्ति योग्य शब्द के प्रयोग से पुनः पूर्वोपक्रान्त रूप से अन्य चार भेद भी होते हैं।[2] इस प्रकार इन्होंने श्लेष को भी व्यतिरेक में स्थान दिया है।

रुद्रट ने उद्भट के इन भेदों का उल्लेख सम्भवतः इसलिए नहीं किया है, क्योंकि वे वास्तवमूलक अलङ्कारों का विवेचन कर रहे थे और इनकी {इवादि तथा श्लेष सम्बन्धी भेदों की} चर्चा से इनके वर्गीकरण में दोष आ जाता।

सभी परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने उद्भट तथा रुद्रट की भाँति उपमान से उपमेय के आधिक्य अथवा न्यूनता के प्रतिपादन को व्यतिरेक कहा है।[3]

1- एवमेते चत्वारो व्यतिरेका प्रतिपादिताः। निमित्तदर्शनादर्शनाभ्यां यौ व्यतिरेकौ तयोः प्रत्येकमुपमानोपमेयभावस्य इवाद्युपादानानुपादानाभ्यां द्विभेदत्वात्। - वही, पृ० 33। लघुवृत्ति टीका

2- एषामपि चतुर्णां व्यतिरेकाणां श्लिष्टोक्तियोग्यशब्दोपादाने सति पुनरपरे पूर्वोपक्रान्तेनैव रूपेण चत्वारो भेदा भवन्ति। - वही

3- {क} भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः।
- अ० स० सूत्र 29

{ख} केनचिद् यत्र धर्मेण द्वयोः संसिद्धसाम्ययोः।
भवत्येकतराधिक्यं व्यतिरेकः स उच्यते ॥- वा० 4/83

{ग} व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः। - च० 5/59 पूर्वार्द्ध

{घ} भेदप्रधानसाधर्म्यमुपमानोपमेययोः।
आधिक्याल्पत्वकथनाद् व्यतिरेक स उच्यते ॥
- प्र० रु०, पृ० 325.

{ङ} आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा।
व्यतिरेकः ....॥ -सा०द० 10/52.

{च} व्यतिरेको विलक्षणः। उपमानाद् द्व्युत्कर्षापकर्षाश्रिता:॥
- अ० कौ० 269.

केवल मम्मट, पण्डितराजजगन्नाथ तथा आचार्य विश्वेश्वर ने ही उपमान से उपमेय के केवल आधिक्य {अतिरेक} वर्णन को ही व्यतिरेक कहा है।[1] इनमें से मम्मट ने "क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम्" इत्यादि पद्य में रुद्रट के विपरीत उपमान से उपमेय का आधिक्य मानते हुए स्पष्ट रूप से रुद्रट का खण्डन किया है इस पद्य में उपमेय की अपेक्षा उपमान का आधिक्य वर्णित है, यह किसी ने कहा है, किन्तु वह कथन अयुक्त है क्योंकि यहाँ उपमेयरूप यौवन की अस्थिरता का आधिक्य ही विवक्षित है।[2] पण्डितराज ने भी इस स्थल पर उपमेय के वैशिष्ट्य को ही स्वीकार किया है।[3]

मम्मट ने रुद्रट के प्रथम व्यतिरेकगत तीनों भेदों के साथ ही दोनों {गुण तथा दोष} के अनुपादान को जोड़कर चार भेद किए हैं तथा उद्भट का अनुसरण करते हुए साधर्म्य {इवादि} के उक्त तथा अनुक्त इन दोनों भेदों के साथ साधर्म्य के आक्षेप लभ्य होने पर उपर्युक्त चारों में से प्रत्येक के तीन- तीन भेद किए हैं। इस प्रकार कुल बारह भेद बताए हैं। इनमें से प्रत्येक के श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट शब्द

1- {क} उपमानाद यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।

- का० प्र० 10/ 105 पूर्वार्द्ध

{ख} उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेकः ।।

- र० गं० 2/ पृ- 145.

{ग} उभयोः साम्यप्रोक्तौ विशेष उपमेयगे व्यतिरेकः ।

- अ० पृ० 24 पूर्वार्द्ध

2- क्षीणः क्षीणोऽपि ....।। इत्यादावुपमानस्योपमेयादाधिक्यमिति केनचिदुक्तं तदयुक्तमत्र यौवनगतास्थैर्याधिक्यं हि विवक्षितम् ।

- का० प्र०, पृ०-524 वृत्तिभाग

3- यौवनस्य चास्थिरत्वे प्रतिपाद्ये चन्द्रापेक्षयाधिकगुणत्वमेव विवक्षितम् ।

- र० गं० 2/पृ०-160 वृत्तिभाग

में भी होने से कुल चौबीस भेद बताए हैं।[1] कौस्तुभकार तथा विश्वेश्वरपण्डित ने भेदों के विषय में मम्मट का ही अनुसरण किया है।[2]

साहित्यदर्पणकार ने मम्मटकथित चौबीस भेदों के अतिरिक्त उपमान की अपेक्षा उपमेय के अपकर्ष रूप व्यतिरेक के चौबीस अन्य भेदों को मिलाकर कुल अड़तालीस भेद किए हैं।[3] पण्डितराज ने उक्त अलङ्कार के तीन विकल्प उपस्थित करके प्रत्येक के मम्मट कथित चौबीस- चौबीस भेद किए हैं।[4] इस प्रकार इन्होंने भेदों की संख्या में और अधिक वृद्धि की है। रुद्रट जहाँ इसमें औपम्य को स्वीकार ही नहीं करते वहाँ ये उद्भट की भाँति श्लेष के साथ ही साथ उपमा को भी इस अलङ्कार में समान स्थान देते हैं, ऐसा उनके विवेचन के पर्यवेक्षण से ज्ञात होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रायः अधिकांश आचार्यों ने उद्भट का अनुसरण किया है। रुद्रट ही केवल ऐसे काव्यशास्त्री हैं, जिन्होंने श्लेष तथा उपमा का उक्त अलङ्कार के अन्तर्गत् रञ्चमात्र भी स्पर्श नहीं किया है। एक तथ्य यह भी ध्यातव्य है कि रुद्रट के "क्षीणः क्षीणोऽपि" इत्यादि उदाहरण को लेकर आचार्यों

1- हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ।
शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत् त्रिरष्ट तत् ।
- का० प्र० 10/105-106 पूर्वार्द्ध,उत्तरार्द्ध

2- (क) हेत्वोरुक्तौ त्रयाणां वानुक्तौ शब्दार्थाभिव्यक्तः ।
आक्षिप्ते सति च श्लेषे च स्याद् बहुविधः पुनः ।। - अ०कौ० 269.

(ख) हानिप्रकर्षहेत्वोरुक्तौ त्रेधा च तदनुक्तौ ।
शब्दार्थाक्षिप्तोक्तौ साम्ये श्लेषे च दिग्युगमितः सः ।- अ० कु० 24.

3- .... प्रत्येकं स्यान्निमिलितत्वाऽष्टचत्वारिंशद्विधः
पुनः । - सा० द० 10/54.

4- र० गं० 2/ पृ०- 160.

में हुआ खण्डन- मण्डन हुआ है। सर्वप्रथम मम्मट ने रुद्रट कृत एक उदाहरण का खण्डन किया तो परवर्ती सर्वस्वकार ने रुद्रट के उक्त मत का अनुमोदन किया। सर्वस्वकार का खण्डन पण्डितराज ने किया तो विमर्शिनीकार तथा विश्वनाथ कविराज ने सर्वस्वकार का अनुमोदन किया। इस प्रकार इन विद्वानों ने मूलत: रुद्रट के मत का ही समर्थन किया ।

अन्योन्य -

जहाँ क्रिया के द्वारा दो पदार्थों में परस्पर एक कारकभाव होता है, तथा वह कारकभाव विशिष्ट धर्म का परिपोषक होता है, उसे अन्योन्य अलङ्कार कहते हैं।[1] रुद्रट ने उक्त अलङ्कार का यह रूप प्रतिपादित किया है। उदाहरण रूप-

रूपं यौवनलक्ष्म्या यौवनमपि रूपसम्पदस्तस्या: ।
अन्योन्यमलङ्करणं विभाति शरदिन्दुसुन्दर्या: ।।[2]

इस पद्य में "अलङ्करण" रूप क्रिया द्वारा रूप तथा यौवन - इन दोनों में परस्पर अलङ्कारकभाव निष्पन्न हुआ है। इस एक कारकभाव से यहाँ रूप के विशाल नयनत्वादि तथा यौवन के शरीरगत शोभा इत्यादि विशिष्ट धर्म का परिपोषण भी हुआ है।[3]

1- यत्र परस्परमेक: कारकभावोऽभिधेययो: क्रियया ।
संजायेत स्फारिततत्त्वविशेषस्तदन्योन्यम् ।।
- का० 7/91.

2- वही, 7/92.

3- वही, नमिसाधुकृत टीका

रूद्रट से पूर्व भामह इत्यादि ने इसका उल्लेख नहीं किया था। सर्वप्रथम रूद्रट ने ही इस अलङ्कार को सामने रखा। किन्तु परवर्ती काव्यशास्त्र में अधिकांश आचार्यों ने इसका उल्लेख किया है। आचार्य मम्मट, साहित्यदर्पणकार तथा कर्णपूरगोस्वामी एक क्रिया द्वारा दो वस्तुओं के परस्पर उत्पादन अथवा परस्पर एक दूसरे का कारण होने में अन्योन्य अलङ्कार मानते हैं।[1]

विद्यानाथ तथा सर्वस्वकार ने भी क्रिया के माध्यम से वस्तुओं के परस्पर उत्पाद्य- उत्पादकभाव {उत्पादकता} को ही अन्योन्य अलङ्कार कहा है।[2]

इन सभी आचार्यों के लक्षण अधिक स्पष्ट नहीं हैं। इन सभी के तत्सम्बन्धी उदाहरणों के पर्यवेक्षण से यही प्रतीत होता है कि जो लक्षण ये प्रस्तुत करना चाहते थे, उसे बहुत स्पष्ट नहीं कर सके हैं। मम्मट इत्यादि ने केवल रूद्रट का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। वे उनके लक्षण में स्पष्टता नहीं ला सके हैं, बल्कि रूद्रट का ही लक्षणगत एककारक भाव उचित है, क्योंकि उन्होंने "कारक" पद का प्रयोग करके उसका अर्थ सीमित अथवा स्पष्ट नहीं किया है जबकि इन आचार्यों ने जनन, कर्ता, उत्पादकता इत्यादि को लक्षण में रखकर इसके स्वरूप को कुछ अस्पष्ट सा कर दिया है।

1- {क} .... क्रियया तु परस्परम् । वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्.......।।
अर्थयोरेकक्रियामुखेन परस्परं कारणत्वे सति अन्योन्यनामालङ्कारः।
- का० प्र० 10/पृ०-571.
{ख} अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः कारणं मिथः ।
- सा० द० 10/72
{ग} क्रिययाऽन्योऽन्यकारणम् । वस्तुद्वयं यदाऽन्योन्यम् ।
- अ०कौ० 8/295.

2- {क} तदन्योन्यं मिथो यत्रोत्पाद्योत्पादकता भवेत् - प्र०रु०, पृ०-512.
{ख} परस्परं क्रियाजननेऽन्योन्यम् ।
क्रियाद्वारकं यत्र परस्परोत्पादकत्वं ......तत्रान्योन्याख्योऽलङ्कारः।
- अ० स० सूत्र- 50.

किन्तु भोजराज, अप्पयदीक्षित तथा जयदेव इत्यादि कुछ आचार्यों ने कुछ भिन्न रूप से इसका लक्षण किया है, जो उपर्युक्त लक्षणों की अपेक्षा स्पष्ट है।[1] ये आचार्य परस्पर दो वस्तुओं के उपकार को अन्योन्य कहते हैं। यद्यपि ये लक्षण भी अपने में पूर्ण नहीं हैं, किन्तु इनमें प्रयुक्त "उपकारक" अर्थ अधिक समीचीन है, उक्त अलङ्कार के स्वरूप को देखते हुए मुख्य अंश भी यही प्रतीत होता है। इस अलङ्कार के उदाहरण- पद्यों को देखने से पूर्व विवेचित उत्पाद्यउत्पादकभाव की अपेक्षा उपकार्य- उपकारक भाव इस अलङ्कार के लक्षण के लिए अधिक उचित प्रतीत होता है। वास्तव में देखा जाए तो उक्त अलङ्कार के स्थल पर दो अर्थ परस्पर उपकार ही करते है, उत्पादन नहीं।

इसी ओर अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है पण्डितराज जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पण्डित ने। पण्डितराज के अनुसार दो अर्थों में से परस्पर एक के द्वारा दूसरे के विशेष का आधान ही अन्योन्य है।[2] इन्होंने सम्भवत: रुद्रट के लक्षण के "स्फारित तत्त्वविशेष:" इस अंश से प्रभावित होते हुए यह लक्षण किया है। विश्वेश्वर पण्डित वस्तुओं के परस्पर उत्कर्ष का हेतु बनने को ही अन्योन्य कहते है।[3]

उपर्युक्त समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि रुद्रट के इस नवीन अलङ्कार को परवर्ती काव्यशास्त्र में आचार्यों ने अधिक स्पष्ट तथा पुष्ट करने का प्रयत्न किया है।

1- {क} अन्योन्यमुपकारो यत्तदन्योन्यम् ......। - स० कं० अ० 3/95.

{ख} अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकार: परस्परम् । -च० 5/94 पूर्वार्द्ध
कु० 98 पूर्वार्द्ध

2- द्वयोरन्योन्येनान्योन्यस्य विशेषाधानमन्योन्यम् । - र०गं० 2/पृ०-513.

3- अन्योन्यं वस्तुनां परस्परोत्कर्षहेतुत्वे । - अ०कु० 38 उत्तरार्द्ध

सार-

समुदाय के एक- एक देश को क्रमशः[1] चरमसीमा तक {परावधि} गुणवान् निर्धारित करना ही सारालड्•कार है- काव्यशास्त्र में उक्त अलड्•कार का यह लक्षण सर्वप्रथम रूद्रट ने निर्धारित किया है। भामह, दण्डी तथा उद्भट इत्यादि ने इसका उल्लेख नहीं किया है। किसी वस्तु का निर्धारण क्रिया, जाति तथा गुण से भी हो सकता है, किन्तु इस अलड्•कार में यह निर्धारण केवल गुण से ही होता है, जाति अथवा क्रिया से नहीं।[2] समुदाय के प्रत्येक देश को क्रम से न रखने पर सार अलड्•कार-रूप नहीं होता, अतः अलड्•कारत्व के लिए क्रम का होना अनिवार्य है, इसीलिए कारिकाकार ने लक्षण में "क्रमेण" पद की योजना की है। नमिसाधु ने उदाहरण द्वारा अक्रम को स्पष्ट भी किया है। अक्रम में अलड्•कार[3] का आभास मात्र होता है। वास्तव में वह अलड्•कार का स्थल नहीं होता। "निरतिशय" पद का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए नमिसाधु दो तर्क प्रस्तुत करते हैं - या तो उत्कृष्टता के होने के कारण अतिशय

1- यत्र यथासमुदायात्प्रत्येकदेशं क्रमेण गुणवदिति ।
   निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद्भवेत्सारम् ।।
   - का० 7/96.

2- निर्धारणं च गुणक्रियाजातिभिः सम्भवति । अत आह- गुणवदिति।
   गुणवत्त्वेन न तु क्रियाजातिभ्याम् । - वही, नमिसाधु की टीका

3- क्रमेणेति वाक्रमनिवृत्त्यर्थम् । तेनैव सारत्वं न भवति। यथा-
   नदीषु गङ्गा नगरीषु काञ्ची पुष्पेषु जाती रमणीषु रम्भा ।
   सदोत्तमत्वं पुरुषेषु विष्णुरैरावणो गच्छति वारणेषु ।। .....
   साराभास इत्युच्यते । - वही

अलङ्•कार की शङ्•का- निवारण के लिए अथवा आक्षिप्त गुणवत्ता की निवृत्ति के लिए "निरतिशय" पद का प्रयोग किया गया है।[1]

> राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुरं पुरे सौधम् ।
> सौधे तल्पं तल्पे वराङ्•गनानङ्•गसर्वस्वम् ।।[2]

उपर्युक्त पद्य में राज्य, वसुधा, पुर, सौध, शय्या तथा वराङ्•ना- इस समुदाय में क्रम से राज्य आदि एक एक भाग की गुणवत्ता का कथन है, अतः यह सार का स्थल है।

परवर्ती मम्मट ने भी चरमसीमापर्यन्त उत्तरोत्तर उत्कर्ष को सार कहा है,[3] किन्तु इन्होंने अलङ्•कार के एक- एक अंश को लेकर वैसा लक्षण नहीं किया है, जिस प्रकार रुद्रट ने समुदाय, क्रमिक न्यास, उनकी गुणवत्ता इत्यादि को पृथक्- पृथक् शब्दों से प्रतिपादित किया है। सम्भवतः उनकी दृष्टि में "उत्तरोत्तर उत्कर्ष"- इस पद में ही सभी विशेषतायें अन्तर्भूत हो जाती हैं, क्योंकि जहाँ उत्तरोत्तर उत्कर्ष होगा, वहाँ एक से अधिक होने के कारण समुदाय हो ही जाएगा, "उत्तरोत्तर" पद से यह भी स्पष्ट है कि एक एक की उत्कृष्टता उसके पूर्व पूर्व की वस्तु से होगी। इस प्रकार इसी एक पद में एक देश तथा क्रम पद भी अन्तर्भूत हो जाते हैं।

1- निरतिशयग्रहणमतिशयालङ्•कारत्वनिवृत्त्यर्थम् । अन्यरूपत्वात्तस्य । सारत्वमुत्कर्षस्तत्रवातिशयालङ्•काराशङ्•केति । अथवाप्यापेक्षिकगुणवत्त्वनिवृत्त्यर्थमिति । - वही

2- का० 7/ 97.

3- उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः ।
 - का० प्र० 10/123 उत्तरार्द्ध

उत्कर्ष तो गुणों से ही सूचित होता है अतः "गुणवत्" पद भी इसी में अन्तर्भूत हो जाता है। हाँ यह उत्कृष्टता किस सीमा तक हो इसके लिए मम्मट ने भी "परावधि" पद का लक्षण में ग्रहण किया है। इस प्रकार कुल मिलाकर इन्होंने रुद्रट-कृत लक्षण को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है, जो रुद्रट द्वारा बतायी गयी सभी विशेषताओं को अपने में समेटे हुए है। "परावधि" पद की व्याख्या इन्होंने इस प्रकार की है- "पर्यन्त भाग ही अवधि है जिसकी वही परावधि है क्योंकि इसमें उत्कर्ष की विश्रान्ति वाक्य के पर्यन्त [अन्तिम भाग] में ही होती है।[1]

सर्वस्वकार, साहित्यदर्पणकार इत्यादि ने मम्मट के इसी संक्षिप्त लक्षण को अपनाया है,[2] किन्तु इन्होंने "परावधि" पद को भी छोड़ दिया है। मम्मट, रुय्यक

1- परं पर्यन्तभागोऽवधिर्यस्य धाराधिरोहितया तत्रैवोत्कर्षस्य विश्रान्ते ।
- वही, वृत्तिभाग

2-- [क] उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः । - अ० स० सूत्र 50

[ख] सारो नाम पदोत्कर्षः सारताया यथोत्तरम् ।
- का० 5/90

[ग] उत्तरोत्तरमुत्कर्षः साराल‌ङ्कार उच्यते ।
- प्र०, पृ०-572.

[घ] उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते ।।
- सा० द० 10/78 उत्तरार्द्ध

[ङ] उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते ।
- कु० 108 पूर्वार्द्ध

[च] सारः सावधिकत्कर्षो यद् भवेदुत्तरोत्तरम् ।
- अ०कौ० 8/299

[छ] सारस्तु पूर्वपूर्वादुत्कर्षिण्युत्तरोत्तरे प्रोच्यते ।
- अ० मु० 41 पूर्वार्द्ध

तथा विश्वनाथ कविराज ने उदाहरण रूप में रूद्रट को ही पद्य को उद्धृत किया है।[1] पण्डितराज के अपने शब्दों में संसर्ग के कारण उत्कृष्ट तथा अपकृष्ट भाव रूप वाली शृङ्खला ही सार कहलाती है,[2] उत्कर्ष तथा अपकर्ष की दृष्टि से इन्होंने इसके दो भेद किए हैं।[3] साथ ही एकविषयक एवं अनेकविषयक- पुनः ये दो भेद भी इन्होंने किए हैं।[4] इस दृष्टि से रूद्रट द्वारा दिया गया उदाहरण अनेकविषयक सार का स्थल है। एकविषयक सार का उदाहरण इन्होंने इस प्रकार किया है-

> जम्बीरश्रियमतिलङ्घ्य लीलयैव
> व्यानम्रीकृतकमनीयहेमकुम्भौ ।
> नीलाम्भोरुहनयनेऽधुना कुचौ ते
> स्पर्धेते खलु कनकाचलेन सार्धम् ।।[5]

इस पद्य में स्तन रूप एक वस्तु के क्रमिक उत्कर्ष का वर्णन है।

उपर्युक्त समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि रूद्रट द्वारा नवनिर्मित सारलङ्कार के अस्तित्व को सभी ने स्वीकार किया है तथा काव्यशास्त्र में अन्य प्रसिद्ध अलङ्कारों के समान उसे भी स्थान दिया है।

1- {क} का० प्र० 10/123 उत्तरार्द्ध वृत्तिभाग
{ख} अ० स० सूत्र 50 वृत्तिभाग
{ग} सा० द० 10/ पृ०-836.

2- सैव संसर्गस्योत्कृष्टभावरूपत्वे सारः । - र० गं० 2/पृ०-552.

3- तत्रापि च पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरस्योत्कर्षापकर्षाभ्यां द्वैविध्यम् । - वही

4- इमं चालङ्कारमेकानेकविषयत्वेन पुनर्द्वैविध्यमामनन्ति ।
- वही, पृ०- 553.

5- वही, पृ०- 553.

सूक्ष्म -

"सूक्ष्म" का लक्षण रुद्रट ने इस प्रकार किया है - जहाँ प्रतिपाद्य अर्थ के प्रति असङ्गत {अयुक्तमदर्य} शब्द अपने अर्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ को उपपत्तियुक्त प्रतीति कराता है, उसे सूक्ष्म अलङ्कार कहते हैं।[1] यथा-

आदौ पश्यति बुद्धिर्व्यवसायोऽकालहीनमारभते ।
धैर्यं व्यूढमहाभरमुत्साहः साधयत्यर्थम् ।।[2]

इस उदाहरण में बुद्धि का देखना, व्यवसाय का आरम्भ करना इत्यादि सङ्गत नहीं है अर्थात् इनका कारणभाव सङ्गत है कर्तृत्वभाव नहीं, इस प्रकार बुद्धि, व्यवसाय, धैर्य तथा उत्साह अपने अपने अर्थ में सङ्गत नहीं है, किन्तु उपपत्तिपूर्वक ये तद् तद्वान् व्यक्ति रूप अर्थ की प्रतीति करते हैं, क्योंकि यह कहा जाता है कि जब बुद्धिमान् देखता है तब बुद्धि भी देखती है, इसी प्रकार अन्य शब्द भी विवक्षितार्थ के प्रति उपपन्न हो जाते हैं। स्पष्ट है कि शब्द अपना अर्थ न देकर उपपत्तिपूर्वक अन्य अर्थ की प्रतीति करा रहे हैं अतः यह सूक्ष्म का स्थल है।

पूर्ववर्तियों में दण्डी ने सूक्ष्म की व्याख्या की है। किन्तु संज्ञा एक होने पर भी इनका विवेचन रुद्रट के उपर्युक्त विवेचन से भिन्न है। इनके अनुसार सङ्केत तथा आकार से लक्षित होने वाले अर्थ के वर्णन में उसकी सूक्ष्मता के कारण सूक्ष्म अलङ्कार होता है।[3] यथा- "कदा नौ सङ्गमो" इत्यादि में लीलाकमल के निमीलन के संकेत

1- यत्रायुक्तिमदर्थो गमयति शब्दो निजार्थसम्बद्धम् ।
अर्थान्तरमुपपत्तिमदिति तत्सञ्जायते सूक्ष्मम् ।।
- का० 7/98.

2- वही, 7/99.

3- इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः।
- का० द० 2/260.

से रात्रिवेला में सङ्गम की सूचना दी गयी है।[1] इसी प्रकार "मदर्पितदृशस्तस्या"[2] इत्यादि में सुरतोत्सव की अभिलाषा शब्दतः कथित न होकर वदन- विकार से लक्षित होती है। इस प्रकार ये क्रमशः सङ्केतगत तथा आकारगत सूक्ष्म के स्थल हैं।

परवर्ती आचार्यों में से भोजराज, मम्मट, अलङ्कार सर्वस्वकार इत्यादि ने इसकी चर्चा की है, किन्तु इन सभी आचार्यों ने दण्डी की सरणि पर इसका [ग्रह]ण किया है।[3] किसी भी काव्यशास्त्री ने रुद्रटसम्मत स्वरूप को स्वीकार नहीं [क]िया है, अतः स्पष्ट है कि परवर्ती काव्यशास्त्र में रुद्रट के सूक्ष्म को स्थान नहीं [म]िला है।

1- कदा नौ सङ्गमो भावीत्याकीर्णे वक्तुमक्षमम् ।
अवेत्य कान्तमबला लीलापद्मं न्यमीलयत् ॥
- वही, 2/261.

2- मदर्पितदृशस्तस्या गीतगोष्ठ्यामवर्धत ।
उद्दामरागतरला छाया कापि मुखाम्बुजे ॥
- वही, 2/263.

3- {क} इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सूक्ष्मः सूक्ष्मगुणात्तु सः ।
सूक्ष्मात् प्रत्यक्षतः सूक्ष्मोऽप्रत्यक्ष इति [च] भिद्यते ॥
- स० कं० भ० 3/68

{ख} कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ।
धर्मेण केनचिद् यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते ॥ - का०प्र० 10/122-123.

{ग} निजक्षमामात्रज्ञेयस्यार्थस्य यत्राकारेङ्गिताभ्यां प्रकाशनं स सूक्ष्मालङ्कारः । - अ० स०, पृ०- 566.

{घ} संलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम्।- अ० सू०, सूत्र-76.

{ङ} संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा ।
क्यापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते ॥
- सा० द० 10/91.

लेश -

रूद्रट के अनुसार जिस अलङ्कार में गुण के दोषीभाव अथवा दोष के गुणीभाव का कथन होता है, वहाँ गुण के दोष तथा दोष के गुण हो जाने का निमित्त लेश होता है।[1] यथा-

> अन्यैव यौवनश्रीस्तस्याः सा कापि दैवदत्तिकायाः ।
> मथ्नाति यया यूनां मनांसि दूरं समाकृष्य ।।[2]

इस पद्य में गुण का दोष रूप में कथन है तथा -

> हृदयं सदैव येषामनभिज्ञं गुणवियोगदुःखस्य ।
> धन्यास्ते गुणहीना विदग्धगोष्ठीरसापेताः ।।[3]

यहाँ दोष का गुण रूप में कथन किया गया है।

पूर्ववर्तियों में दण्डी ने किसी प्रकट हुई बात को व्याज से छिपाने को ही लेशालङ्कार कहा है।[4] अन्य आचार्यों के मत के रूप में वह यह भी कहते हैं कि कुछ आचार्य व्याजपूर्वक की गयी निन्दा अथवा प्रशंसा को लेश कहते हैं।[5] इस प्रकार दण्डी के अपने लेश- लक्षण से रूद्रट के लेश- लक्षण में साम्य तो नहीं प्रतीत होता

1- दोषीभावो यस्मिन्गुणस्य दोषस्य वा गुणीभावः ।
अभिधीयते तथाविधकर्मनिमित्तः स लेशः स्यात् ।।
- का0 7/100

2- का0 7/101
3- का0 7/102
4- लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ।
- का0द0 2/265 पूर्वार्द्ध
5- लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम् ।
- वही, 2/268 उत्तरार्द्ध

किन्तु अन्य के मत के रूप में कहे गए उनके उक्त कथन से रूद्रटकृत लक्षण कुछ साम्य अवश्य रखता है। अन्तर यह है कि दण्डी इस अलङ्कार में निगूहन को प्रधानता देते हैं, जबकि रूद्रट दोषीभाव तथा गुणीभाव को। भामह इत्यादि ने इसका विवेचन नहीं किया है।

परवर्ती आचार्यों में से पण्डितराज जगन्नाथ, अप्पयदीक्षित तथा विश्वेश्वर पण्डित ने रूद्रटसम्मत लेश का विवेचन किया है तथा उन्होंने भी इसका वही लक्षण किया है, जो रूद्रट ने।[1]

वक्रोक्ति की प्रधानता को स्वीकार करने वाले भामह तथा कुन्तक ने हेतु-सूक्ष्म के साथ इस अलङ्कार के अलङ्कारत्व का खण्डन किया है,[2] सम्भवत: इसीलिए अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

अवसर -

वास्तवमूलक अलङ्कारों के मध्य एक और अलङ्कार का रूद्रट ने विवेचन किया है और वह है अवसर। इस अलङ्कार के स्थल पर उत्कृष्टत्व आदि के कथन के प्रसङ्ग से किसी अर्थ को अन्य अर्थ से उत्कृष्ट एवं सरस बनाने के लिए जो उप-

---

1- [क] गुणस्यानिष्टसाधनतया दोषत्वेन दोषस्येष्टसाधनतया गुणत्वेन च वर्णनं लेश: । - र० गं० 2/पृ- 738.

[ख] लेश: स्याद् दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम् ।
- कु० 138 पूर्वार्द्ध

[ग] लेश: स्याद् दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम् ।
- अ० कौ०, पृ- 58.

2- हेतुश्च सूक्ष्म लेशोऽथ नालङ्कारतया मत: ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानत: ॥
- का० 2/86.
तथा व० जी० 3/178.

लक्षण किया जाता है[1] अर्थात् जहाँ एक अर्थ अन्य अर्थ की अपेक्षा न्यून होता है और इस न्यून अर्थ को उदात्त एवं श्रृङ्गार आदि से युक्त अन्य अर्थ का उपलक्षक बनाया जाता है, वहाँ अवसर नामक अलङ्कार होता है।[2] यथा-

तदिदमरण्यं यस्मिन्दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।
निवसन्बाहुसहायश्चकार रक्षः क्षयं रामः ॥[3]

इस पद्य में वन रूप अर्थ राम के निवास तथा राक्षस-वध इस उदात्त अर्थ की अपेक्षा न्यून है, किन्तु इसे अपेक्षाकृत उत्कृष्ट प्रतिपादित करने के लिए उदात्त अर्थ को इसके उपलक्षण रूप में वर्णित किया गया है, अतः यह अवसर का स्थल है। इसी प्रकार अर्थ की सरसता प्रतिपादन के लिए उद्धृत -

सा सिप्रा नाम नदी यस्यां मङ्गुमियो विशीर्यन्ते ।
मज्जन्मालवललनाकुचकुम्भास्फालनव्यसनात् ॥[4]

इस पद्य में सरसता के प्रतिपादन के लिये श्रृङ्गारयुक्त मालवललना रूप अर्थ "सिप्रा" - इससे न्यून अर्थ का उपलक्षण बना दिया गया है, अतः यह भी अवसर का स्थल है।

किन्तु इस अलङ्कार को परवर्ती काव्यशास्त्र में मान्यता नहीं प्राप्त हुई है।

1- अर्थान्तरमुत्कृष्टं सरसं यदि वोपलक्षणं क्रियते ।
अर्थस्य तदभिधानप्रसङ्गतो यत्र सोऽवसरः ॥
- का० 7/103

2- तत्रार्थस्य न्यूनस्य यद् उत्कृष्टमुदात्तं श्रृङ्गारादिकं वार्थान्तरमुपलक्षणं क्रियते सोऽवसरालङ्कारः । - वही, नमिसाधुकृत टीका

3- वही, 7/104

4- वही, 7/105

मीलित -

सर्वप्रथम रुद्रट ने ही काव्यशास्त्र में जिन अलङ्कारों की उद्भावना की है, उनमें से मीलित भी एक है। उन्होंने इसका लक्षण इस प्रकार किया है -

जिस अलङ्कार में हर्ष, क्रोधादि भाव अपने समान चिह्न वाले अन्य स्वाभाविक अथवा कृत्रिम वस्तु के द्वारा तिरस्कृत किए जाते हैं अर्थात् छिपाए जाते हैं {मीलन}, उसे मीलित अलङ्कार कहते हैं।[1] यथा नेत्रों की तिर्यक् दृष्टि, चञ्चलता तथा स्निग्धता - ये सब विशेषतायें स्वाभाविक भी होती हैं तथा प्रेमवश भी इनकी वैसी ही स्थिति हो जाती है। अतः अपने समान चिह्न वाली स्वाभाविक विशेषताओं के द्वारा प्रेम का निगूहन हो जाता है अर्थात् उसे कोई जान नहीं पाता। इसीलिए "तिर्यक्प्रेक्षणतरले"[2] इत्यादि में मीलित अलङ्कार है तथा "मदिरामदभरपाटलकपोलतललोचनेषु"[3] इत्यादि में भी यही अलङ्कार है। क्योंकि मदिरापान इत्यादि तो कृत्रिम {औपाधिक} होता है, स्वाभाविक नहीं, किन्तु इसके कारण भी कपोलों तथा नेत्रों में रक्तिमा आ जाती है, उसके कारण मुख पर आये हुए क्रोध के भाव को कोई नहीं जान पाता। क्योंकि क्रोधवश भी मुख रक्ताभ हो जाता है । अतः स्वाभाविक तथा औपाधिक दोनों ही कारणों से हर्षादि भावों का निमीलन होने से इसे मीलित अलङ्कार कहते हैं।

1- तन्मीलितमिति यस्मिन्समानचिह्नेन हर्षकोपादि ।
अपरेण तिरस्क्रियते नित्येनागन्तुकेनापि ।। - का० 7/106

2- तिर्यक्प्रेक्षणतरले सुस्निग्धे च स्वभावतस्तस्याः। अनुरागो नयनयुगे सन्नपि केनोपलक्ष्यते ।। - वही, 7/107.

3- मदिरामदभरपाटलकपोलतललोचनेषु वदनेषु ।
कोपो मनस्विनीनां न लक्ष्यते कामिभिः प्रभवन् ।।
- वही, 7/108.

मम्मट, सर्वस्वकार, विश्वनाथ कविराज, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित इत्यादि ने इसके स्वरूप को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने कुछ विस्तार तथा भिन्न प्रकार से उक्त अलङ्कार के इसी स्वरूप को मान्यता दी है। उनके अनुसार अत्यन्त समानता के कारण स्पष्ट ही उपलब्ध हो रही किसी वस्तु के लिङ्गों से भिन्न रूप में प्रतीत न होने वाली अन्य वस्तु के लिङ्गों द्वारा अपने कारण उस उपलभ्यमान वस्तु का अनुमान न कराया जाना ही मीलित अलङ्कार है,[2] इन्होंने दोनों के उदाहरण देते हुए[3] उनका अन्तर

1- {क} समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगुह्यते ।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ।।
- का० प्र० 10/130.

{ख} सहजेनागन्तुकेन वा लक्ष्मणा यद् वस्त्वन्तरेण वस्त्वन्तरं निगुह्यते तदन्वर्थाभिधानं मीलितम् । - अ० स० सूत्र-71.

{ग} मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्ष्मणा ।
अत्र समानलक्ष्मा वस्तु स्वाभाविकमागन्तुकम् ।।
- सा० द० 10/89 पूर्वार्द्ध तथा वृत्ति

{घ} मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम् ।

{ङ} मीलितं यदि सादृश्याद्भेद एव न लक्ष्यते ।- कु० 146 पूर्वार्द्ध

{च} तुल्येन लक्ष्मणा स्तोकेनान्यद्यदि निगूह्यते ।
सहजेनेतरेणापि तन्मीलितमपि द्विधा ।।- अ० कौ० 8/306.

{छ} सहजनिमित्तजधर्मात्सादृश्येन वस्तुना वस्तु ।
अभिभूयते यदेतन्मीलितमाहुर्विशेषज्ञाः ।। - अ० मु० 46.

2- स्फुटमुपलभ्यमानस्य कस्यचिद् वस्तुनो लिङ्गैरतिसाम्याद् भिन्नत्वेनाननुभूयमानानां वस्त्वन्तरलिङ्गानां स्वकारणाननुमापकत्वं मीलितम् ।।
- र० गं० 2/ पृ० 748.

3- {क} जलकुम्भमुम्भितरसं सपदि सरस्याः समानयन्त्यास्ते ।
तटकुञ्जगूढसुरतं भगवानेको मनोभवो वेद ।।

{ख} सरसिजलोदरसुरभावधरितबिम्बाधरे मृगाक्षि तव ।
वद वदने मणिरदने ताम्बूलं केन लक्षयेम वयम् ।।
- वही, पृ० 749-50.

अन्तर स्पष्ट किया है- पूर्व उदाहरण में प्रत्यक्ष वस्तु के लिङ्ग आगन्तुक हैं तथा यहाँ {दूसरे उदाहरण में} स्वाभाविक हैं। इससे स्पष्ट है कि वे भी दोनों प्रकारों को स्वीकार करते हैं।[1]

इस प्रकार रुद्रट की इस नवीन उद्भावना {मीलित अलङ्कार} को परवर्ती काव्यशास्त्र में पूर्ण मान्यता प्राप्त हुई है।

<u>एकावली -</u>

यह अलङ्कार भी रुद्रट की ही देन है। उन्होंने इसका लक्षण इस प्रकार निर्धारित किया है - जहाँ उत्तर उत्तर विशेषणों से युक्त अर्थ की परिपाटी का विधि अथवा निषेध रूप से न्यास होता है उसे एकावली कहते हैं।[2] इस प्रकार एकावली के दो रूप होते हैं। यथा-

> सलिलं विकासिकमलं कमलानि सुगन्धिमधुसमृद्धानि ।
> मधु लीनालिकुलाकुलमलिकुलमपि मधुररणितमिह ।।[3]

यह पद्य विधिरूप एकावली का स्थल है, क्योंकि यहाँ जल, कमल, पराग तथा भ्रमर अर्थ क्रमशः कमल, पराग, भ्रमर तथा गुञ्जार-इन विशेषणों से विधि रूप से युक्त निर्दिष्ट किये गये हैं।

1- पूर्वोदाहरणे प्रत्यक्षवस्तुलिङ्गान्यागन्तुकानि ,अत्र तु साहजिकानीति विशेषः। - वही, पृ० 751।

2- एकावलीति सैषा यत्रार्थपरम्परा यथालाभम् ।
आधीयते यथोत्तरविशेषणा स्थित्यपोहाभ्याम् ।।
- का० 7/109.

3- वही, 7/110.

माऽनुगतस्तरस्मिन्नुद्याने नाममूनि कुसुमानि ।
नालीनानिकुलं मधु नामधुरस्वाणमलिकुलम् ।।

यह निषेधरूप एकावली का स्थल है, क्योंकि इस पद्य में वृक्ष, पुष्प, पराग तथा भ्रमर- ये अर्थ निषेध रूप से क्रमशः पुष्प, पराग, भ्रमर तथा गुन्जार- इन विशेषणों से युक्त कहे गये हैं।[1]

आचार्य मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ कविराज तथा कर्णपूरगोस्वामी ने रुद्रट के उपर्युक्त विवेचन को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है।[2]

किन्तु अन्य आचार्यों ने एकावली के उक्त लक्षण तथा भेद को कुछ घटा-बढ़ा कर प्रस्तुत किया है। विद्यानाथ तथा वाग्भट ने लक्षण तो वही किया है किन्तु विधि-निषेध द्वारा किये गये भेद का उल्लेख नहीं किया है।[3] अप्पयदीक्षित पूर्व पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर की विशेषणता के साथ-साथ उसके वैपरीत्य को भी यानि उत्तर- उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व को विशेषणता को भी एकावली के अन्तर्गत मानते हैं तथा रुद्रट की स्थिति अपोह {विधि-निषेध} को गुबोत तथा मुक्त रीति की संज्ञा देते हैं।[4]

1- वही, 7/111

2- {क} स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया यत्र सैकावली द्विधा ।। - का०प्र० 10/131.

{ख} यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोहने एकावली। - अ०स० सूत्र-55

{ग} पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम् ।
स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदेकावली द्विधा। - सा०द० 10/77-78.

{घ} स्थाप्यते क्षप्यते वापि पूर्वं पूर्वं परेण यत् ।
विशेषणतया वस्तु सा द्विधैकावली भवेत् ।। - अ० कौ० 8/54.

3- {क} यत्रोत्तरोत्तरेषां स्यात् पूर्वं पूर्वं प्रति क्रमात् ।
विशेषणत्वकथनमसावेकावली मताः ।। - प्र० रु०, पृ०-571.

{ख} पूर्वपूर्वार्थवैशिष्ट्यनिष्ठानामुत्तरोत्तरम् ।
अर्थानां या विरचना बुधैरेकावली मता।।- वा० 4/135.

4- उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणभावः पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरविशेषणभावे वा गुबीतमुक्तरीतिः। - कु० 105-106 वृत्तिभाग ।

पण्डितराज जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पण्डित ने अप्पयदीक्षित की भाँति पूर्व तथा उत्तर पदों में एक दूसरे के प्रति विशेष्यता तथा विशेषणता के भेद से दो प्रकार की एकावली को मान्यता दी है किन्तु स्थापकत्व तथा अपोहकत्व की दृष्टि से इन दोनों के दो-दो भेद न करके रुद्रट का अनुसरण करते हुए केवल पूर्व-पूर्व की उत्तर-उत्तर के प्रति विशेष्यता के ही दो भेद किए हैं।

इस प्रकार उक्त अलङ्कार के उद्भावक रुद्रट के मत को पूर्ण मान्यता देते हुए काव्यशास्त्रियों ने इस अलङ्कार को काव्यशास्त्र में स्थान दिया है।

=======

1- {क} सा च पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति विशेष्यत्वे विशेषणत्वे चेति द्विधा, तत्राद्य: उत्तरोत्तरविशेषणस्य स्थापकत्वापोहकत्वाभ्यां द्वैविध्यम्।
- र० गं० 2/ पृ०- 548.

{ख} पूर्वं पूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति विशेष्यत्वं विशेषणत्वं वा यत्र सा एकावली। यत्र च पूर्वं किञ्चिदभावप्रतियोगित्वेनोक्तस्य वस्तुन: किञ्चिदभावाधिकरणत्वमुच्यते सा एकावली। - अ० कौ० 47 का वृत्तिभाग।

पञ्चम अध्याय

औपम्यमूलक अर्थालङ्कारों का विवेचन

पञ्चम अध्याय

औपम्यमूलक अर्थालङ्कार-

औपम्य का स्वरूप तो पिछले अध्याय में ही स्पष्ट किया जा चुका है। सम्प्रति उसके अन्तर्गत आने वाले उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि इक्कीस अलङ्कारों[1] की समीक्षा की जाएगी।

उपमा -

इनमें से सबसे पहले उपमा की चर्चा रुद्रट ने की है। रुद्रट से पूर्व भरतमुनि भामह, दण्डी, उद्भट तथा वामन- सभी ने उपमा का विवेचन किया है। सर्वप्रथम भरतमुनि ने इसका स्वरूप निर्धारण किया है। उनके अनुसार गुण तथा आकृति के आधार पर जब किसी पदार्थ को सादृश्यवश उपमित किया जाता है, उसे उपमा कहते हैं, यह उपमा एक वस्तु की एक अथवा अनेक वस्तुओं से, अनेक की एक से तथा अनेक की अनेक से हो सकती है।[2] दण्डी ने भी सादृश्य को ही उपमा कहा है।[3] भामह के मत में देश, काल, क्रियादि की दृष्टि से भिन्न उपमान से उपमेय के गुणसाम्य के आधार पर होने वाले सादृश्य को उपमा कहते हैं।[4]

1- उपमेयोत्प्रेक्षारूपकमपह्नुतिः श्लेषः समासोक्तिः ।
मतमुत्तरमन्योक्तिः प्रतीपमर्थान्तरन्यासः ।। - का०
उभयन्यासभ्रान्तिमदाक्षेपप्रत्यनीकदृष्टान्ताः ।
पूर्वं सहोक्तिसमुच्चयसाम्यस्मरणानि तद्भेदाः ।।- का० 8/23.

2- यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते । उपमानाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ।। एकस्यैकेन कार्या ह्यनेकेनाथवा पुनः ।
अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिस्तथा ।। - ना० शा० 17/44-45.

3- यथाकथञ्चित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते । उपमा नाम सा......।।
- का० 2/14

4- विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः ।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा ।। - का० 2/30

वामन ने भामह का अनुसरण करते हुए गुण के माध्यम से होने वाली समता (साम्य) को उपमा कहा है।[1] उद्भट ने भी भामह के समान उपमान उपमेय की देशकालादि की दृष्टि से भिन्नता तो स्वीकार की है, किन्तु उन्होंने उपमा को साधर्म्य रूप में प्रतिपादित किया है, साम्य रूप में नहीं।[2]

पूर्ववर्तियों की भांति परवर्ती आचार्यों ने भी साम्य अथवा साधर्म्य को उपमा कहा है।[3]

1- उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्युपमा । - का० सू०वृ० 4/2/1.

2- यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः ।
मिथोविभिन्नकालादि शब्दयोरुपमा तु तत् ।।
- का० सा० सं० 1/15.

3- {क} विवक्षितपरिस्पन्दमनोहारित्वसिद्धये ।
वस्तुनः केनचित् साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा ।।
- व० जी० 3/28

{ख} साधर्म्यमुपमाभेदे । - का० प्र० 10/ पृ०- 466

{ग} उपमानोपमेययो साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा । - अ०स० सूत्र-12.

{घ} उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा ।... उपमा मता ।।
-वा० 4/50

{ङ} उपमा यत्र सादृश्यमुपमेयस्यतक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः ।- च०5/1।पूर्वार्द्ध

{च} स्वतः सिद्धेन भिन्नेन सम्मते न च धर्मतः ।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा ।। - प्र० रु०, पृ०-414.

{छ} साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ।- सा०द०10/14 उत्तरार्द्ध

{ज} सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारमुपमालङ्कृतिः ।
- र० गं० 2/ पृ०-211

{झ} तत्रैकवाक्यवाच्यं सादृश्यं भिन्नयोरुपमा । - अ०कु० । पूर्वार्द्ध

{ट} भेदे सति साधर्म्यमुपमा । - अ० कौ०, पृ०- 29

{ठ} यथाकिञ्चित् साधर्म्यमुपमा । - अ० कौ० 8/216.

किन्तु रुद्रट ने सादृश्य, साम्य अथवा साधर्म्य को शब्दतः न कहकर इन आचार्यों से भिन्न रूप में उपमा के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार उपमान तथा उपमेय में से एक [उपमान] में समान तथा एक गुण आदि की सिद्धि हो तथा दूसरे [उपमेय] में भी उसी प्रकार वे विद्यमान बताए जाएं, वही उपमा है।[1] नमिसाधु ने इनके लक्षण में आए हुए समान तथा एक का "साधारण" तथा "अद्वितीय" अर्थ किया है।[2]

भोजराज ने भी रुद्रट की भाँति भिन्न शैली अपनाते हुए दो अर्थों के सामान्य अवयवों के योग को उपमा कहा है।[3]

लक्षण के अनन्तर रुद्रट ने उपमा के वाक्योपमा, समासोपमा तथा प्रत्ययोपमा- ये तीन भेद बताए हैं।[4] इनमें से वाक्योपमा छः प्रकार की होती है।[5] प्रथम प्रकार की वाक्योपमा में उपमा के चारों तत्व [उपमेय, उपमान, साधारण धर्म एवं वाचक पद] रहते हैं।[6] यथा-

कमलमिव चारुवदनं मृणालमिव कोमलं भुजायुगलम् ।
अलिमालेव सुनीला तवैव मदिरेक्षण कबरी ॥[7]

1- उभयोः समानमेकं गुणादि सिद्धं भवेद् यथैकत्र ।
अर्थेऽन्यत्र तथा तत्साध्यत इति सोपमा ॥- का० 8/4

2- समानं साधारणमेकमद्वितीयम् । - वही, टीका

3- तत्र प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः ।
भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता ॥- स० कं० भ० 4/5

4- .... सोपमा त्रेधा ॥ - का० 8/4

5- वाक्योपमात्र षोढा ....। - वही, 8/5 पूर्वार्द्ध

6- ......तत्र तथैवं प्रयुज्यते यत्र ।
उपमानमिवादीनामेकं सामान्यमुपमेयम् ॥- वही, 8/5

7- वही, 8/6.

आनन्दसुन्दरमिदं त्वमिव त्वं सरसि नागनालोक[1] ।
इयमियमिव तव च तनुः स्फारस्फुरदुरुरुचिप्रसरा ।।

कल्पितोपमा में उपमेय जितने और जिस प्रकार के विशेषणों से युक्त होता है उपमान भी उतने ही और उस प्रकार के विशेषणों से युक्त होता है।[2] यथा-

मुखमापूर्णकपोलं मृगमदलिखितार्धपत्त्रलेखं ते ।
भाति लसत्सकलकलं स्फुटलाञ्छनमिन्दुबिम्बमिव[3] ।।

इस पद्य में "आपूर्णकपोल" तथा "मृगमदलिखितार्धपत्त्रलेखं"- ये उपमेय के विशेषण हैं तथा "सकलकलं" एवं "स्फुटलाञ्छनम्" - ये उपमान के विशेषण हैं ।

वाक्योपमा के छठें भेद उत्पाद्योपमा में "यह वस्तु उपमारहित है"- इस प्रकार की वस्तु के अविद्यमान उपमान तथा उसके विशेषण को "यद्यर्थक" पद जोड़कर सम्भव प्रतिपादित किया जाता है।[4] यथा-

कुमुददलदीधितीनां त्वक् सम्भूय व्यवेत यदि ताभ्यः[5] ।
इदमुपमीयेत तया सुतनोरस्याः स्तनावरणम् ।।

इस पद्य में "कुमुददलदीधिती" उपमान है तथा "त्वक्" "व्यवेत" उसके विशेषण हैं। इन्हें 'यदि' पद के प्रयोग से कवि ने सम्भव बनाया है।

1- वही, 8/12

2- सा कल्पितोपमाख्या येऽपमेयं विशेषणैर्युक्तम् ।
तावद्भिस्तादृग्भिः स्यादुपमानं तथा यत्र ।।
- वही, 8/13.

3- वही, 8/14.

4- अनुपमभेतद्वस्त्वित्युपमानं तद् विशेषणं वाक्य ।
सम्भाव्य यद्यर्थं या क्रियते सोपमोत्पाद्या ।।
- वही, 8/15

5- वही, 8/16

वाक्योपमाओं के पश्चात् रूद्रट ने तीन प्रकार की समासोपमाएँ विवेचित की हैं - प्रथम प्रकार की समासोपमा[1] में साधारण धर्म के साथ उपमान पद समस्त होता है। यथा- "मुखमिन्दुसुन्दरमिदम्"[2] इत्यादि में "इन्दु" तथा "सुन्दर" पदों में समास है।

सम्पूर्ण[3] समासोपमा में साधारणधर्म, उपमान तथा उपमेय बहुव्रीहि में समस्त होते हैं। यथा- "शरदिन्दुसुन्दरमुखी"[4] इत्यादि में तीनों समस्त हैं, इसीलिए इसे सम्पूर्ण समासोपमा कहते हैं।

तीसरी[5] समासोपमा में उपमेय तथा उपमान समस्त रूप में अन्य पदार्थ के लिए कहे जाते हैं। यथा-

"नवविकसितकमलकरे कुवलयदललोचने सिताशुमुखी ।
दहसि मनो यद् तत्किं रम्भागभोरू युक्तं ते ॥"[6]

1- सामान्यपदेन समं यत्र समस्येत तूपमानपदम् ।
अन्तर्भूतेवार्थं सात्र समासोपमा प्रथमा ॥ - वही, 8/17.

2- मुखमिन्दुसुन्दरमिदं बिसकिसलयकोमले भुजालतिके ।
जघनस्थली च सुन्दरि तव शैलशिलाविशालेयम् ॥- वही, 8/18

3- पदमिदमन्यपदार्थे समस्यतेऽथोपमेयवचनेन ।
यस्यां तु सा द्वितीया सर्वसमासेति सम्पूर्णा॥ - वही, 8/19

4- शरदिन्दुसुन्दरमुखी कुवलयदलदीर्घलोचना सा मे ।
दहति मनः कथमनिशं रम्भागर्भाभिरामोरुः ॥ - वही, 8/20

5- उपमानपदेन समं यत्र समस्येत चोपमेयपदम् ।
अन्यपदार्थे सोदितसामान्येवाभिधेयान्या ॥ - वही, 8/21

6- वही, 8/22.

यहाँ कमल, कुवलयदल, सितांशु तथा रम्भागर्भ - इन उपमानों का कर, लोचन, मुख तथा उरु इन उपमेयों के साथ समास है तथा ये समस्त होकर "ते" पद के अर्थ रूप नायिका के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

प्रत्ययोपमा उसे कहते हैं, जिसमें उपमान में प्रत्यय इस प्रकार संयोजित किया जाता है कि उसी से साधारण धर्म भी उत्पाद्य हो जाता है[1] यथा- "पद्मायते मुखं ते"[2] इत्यादि में किया गया है।

इन उपमा भेदों के अतिरिक्त रुद्रट ने मालोपमा, रशनोपमा, समस्तविषया एवं एकदेशिनी - इन भेदों का भी विवेचन किया है। मालोपमा में एक उपमेय के लिए अनेक उपमानों की योजना होती है, इसमें उपमेय अनेक साधारण धर्मों वाला होता है तथा उपमान एक-एक साधारण धर्म वाले होते हैं।[3] यथा-

श्यामालतेव तन्वी चन्द्रकलेवातिनिर्मला सा मे ।
हंसीव कलालापा चैतन्यं हरति निद्रेव ॥[4]

उपर्युक्त पद्य में नायिका उपमेय है तथा श्यामलता, चन्द्रकला हंसी तथा निद्रा उपमान हैं। इस दृष्टि से उपमेय के तन्वीत्व इत्यादि अनेक साधारण धर्म हैं तथा उपमानों के क्रमशः तन्वीत्व, निर्मलता, कलालापता एवं चैतन्य एक- एक साधारण धर्म हैं। रशनोपमा में अनेक उपमेय तथा उपमानों की संयोजना इस प्रकार की होती है

1- उपमानात्सामान्ये प्रत्ययमुत्पाद्य या प्रयुज्येत ।
सा प्रत्ययोपमा स्यादन्तर्भूतेवशब्दार्था ॥ - वही, 8/23

2- पद्मायते मुखं ते नयनयुगं कुवलयायते यदिदम् ।
कुमुदायते तथा स्मितमेवं शरदेव सुतनु त्वम् ॥- वही, 8/24

3- मालोपमेति सेयं यत्रैकं वस्त्वनेकसामान्यम् ।
उपमीयेतानेकैरुपमानैरेकसामान्यैः ॥ - वही, 8/25

4- वही, 8/26.

कि पूर्व पूर्व पद उत्तर उत्तर पद के लिए उपमान हो जाता है।[1]

नभ इव विमलं सलिलं सलिलमिवानन्दकारि शशिबिम्बम् ।
शशिबिम्बमिव लसद् युति तरुणीवदनं शरत्कृते ।।[2]

जहाँ उपमेय- उपमान {अवयवी} तथा उसके अवयवों की अथवा केवल अवयवों की उपमा दी जाती है उसे क्रमशः समस्तविषया तथा एकदेशिनी उपमा कहते हैं।[3] यथा-

अलिवलयैरलकैरिव कुसुमस्तबकैः स्तनैरिव वसन्ते ।
भान्ति लता ललना इव पाणिभिरिव किसलयैः सपदि ।।[4]

यह समस्तविषया उपमा का स्थल है क्योंकि यहाँ सबकी उपमा दी गयी है।

कमलदलैरधरैरिव दशनैरिव केसरैर्विराजन्ते ।
अलिवलयैरलकैरिव कमलैर्वदनैरिव नलिन्यः।।[5]

यहाँ नलिनी उपमेय के विभिन्न अवयवों {कमलदल इत्यादि} की उपमा दी गयी है, अवयवी नलिनी की नहीं, इसलिए यह एकदेशिनी उपमा का स्थल है। इस प्रकार रुद्रट ने कुल चौदह प्रकार की उपमाओं का विवेचन किया है।

1- अर्थानामौपम्ये यत्र बहूनां भवेद् यथापूर्वम् ।
उपमानमुत्तरेषां सेयं रशनोपमेत्यन्या ।। - वही, 8/27

2- वही, 8/28

3- क्रियतेऽर्थयोस्तथा या तदवयवानां तथैकदेशानाम् ।
परमन्या ते भवतः समस्तविषयैकदेशिन्यौ ।। - वही, 8/29

4- वही, 8/30

5- वही, 8/31।

पूर्ववर्तियों में भरतमुनि ने इस अलङ्‌कार के पाँच भेद किए हैं - प्रशंसोपमा, निन्दोपमा, कल्पितोपमा, सदृशी उपमा तथा किञ्चित् सदृशी उपमा।[1] भामह ने समासाभिहिता तथा तद्धितोपमा- ये दो भेद, दण्डी ने विभिन्न बाईस भेद, वामन ने कल्पितादि छः भेद तथा उद्भट ने पूर्णलुप्ता इत्यादि सत्रह भेद किए हैं।[2] स्पष्ट है कि रुद्रट से पूर्व उपमा भेदों पर पर्याप्त विचार किया जा चुका था।

पूर्ववर्तियों की पूर्णोपमा अथवा धर्मोपमा तथा लुप्तोपमा[3] का ही रूप रुद्रट को प्रथम दो वाक्योपमाओं में देखने को मिलता है। दण्डी की अन्योन्योपमा[4] को ही रुद्रट ने उभयोपमा की संज्ञा दी है। वामन ने भी कल्पितोपमा को चर्चा की है, किन्तु उनकी यह उपमा रुद्रट को कल्पितोपमा से पर्याप्त भिन्न है क्योंकि वामन

1- प्रशंसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा ।
   या किञ्चित्सदृशी ज्ञेया सोपमा पञ्चधा बुधैः ।।
   - ना०शा० 16/46

2- {क} यथेवशब्दौ सादृश्यमाहतुर्व्यतिरेकिणोः ।
   विना यथेव शब्दाभ्यां समासाभिहिता परा ।।
   - का० 2/31-32.

   {ख} का०द० 2/15-50
   {ग} का० सू० वृ० 4/2/2-7
   {घ} का० सा० सं० 1/पृ०-283-306

3- {क} इति धर्मोपमा साक्षात्तुल्यधर्मप्रदर्शनात् ।
   इयं प्रतीयमानैकधर्मा वस्तूपमैव सा ।।- का०द० 2/15-16
   {ख} पूर्णा यत्र चतुष्टयमुपादीयते...... या तु लुप्तैकदेशत्वाल्लुप्तोपमा सा संक्षिप्तोपमा । - का० सा० सं०, पृ०- 283-9।
   {ग} गुणद्योतकोपमानोपमेयशब्दानां सामग्र्ये पूर्णा ।
   लोपे लुप्ता ।। - का० सू० वृ० 4/2/5-6

4- तवाननमिवाम्भोजमम्भोजमिव ते मुखम् ।
   इत्यन्योन्योपमा सेयमन्योन्योत्कर्षशंसिनी ।।
   - का० द० 2/18

ने लोकप्रसिद्धि के अभाव में तथा कवि- कल्पना प्रसूत उपमा को कल्पितोपमा कहा है।[1] इसी प्रकार भामह तथा उद्भट की समासाभिहिता अथवा समासावसेया उपमा से रुद्रट की प्रथम दो समासोपमाओं में पर्याप्त अन्तर है, क्योंकि इनके द्वारा निर्धारित इसके स्वरूप से स्पष्ट है कि संक्षिप्त रूप में कही गयी उपमा से इनका तात्पर्य है।[2]

उद्भट ने अपनी सम्पूर्ण उपमागत समासोपमा में उपमान तथा वाचक पद में समास का उदाहरण दिया है, स्पष्ट है कि इसमें वाचक पद "प्रतिम" का लोप नहीं है।[3] साथ ही संक्षिप्तोपमागत समासावसेया में एक, दो अथवा तीन अवयवों के लोप के कारण उसे तीन प्रकार का माना है,जो पूर्णरूप से लुप्तोपमा का ही एक भेद है।[4]

रुद्रट की प्रत्ययोपमा पर उद्भट का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।[5] हाँ उद्भट की भाँति उन्होंने क्यच्, क्यङ्, तथा क्यप् प्रत्ययों के आधार पर इसके तीन भेद नहीं किए हैं।

1- गुणाद्वुल्यतत्त्व कल्पिता । - का० सू० वृ० 4/2/2.

2- [क] का० 2/32
 [ख] समासावसेया पुनः संक्षिप्तोपमा त्रिविधा ।
 - का० सा० सं० उपमा प्रकरण

3- प्रबोधाद्भुतं रात्रौ किञ्जल्ककालीनषट्पदम् ।
 पूर्णेन्दुबिम्बप्रतिममासीत्कुमुदकाननम् ।। - का० सा० सं०, पृ०-285

4- समासावसेया पुनः संक्षिप्तोपमा त्रिविधा ।
 एक द्वित्रिलोपेभावात् । - वही, पृ०- 291.

5- स दुःखीयन् कृतार्थोऽपि निर्वैश्वर्यतमदा ।
 निकामकमनीयेऽपि नरकीयति कानने ।।
 - वही, पृ०- 295.

सम्भवतः दण्डी की बहूपमा को ही रुद्रट ने मालोपमा की संज्ञा दी है, क्योंकि दण्डी भी बहूपमा में एक उपमेय के लिए अनेक उपमानों की संयोजना का समर्थन करते हैं।[1] किन्तु उनके उदाहरण में उपमेय न तो अनेक साधारण धर्मों वाला है और न ही उपमान एक एक साधारण धर्म वाले हैं।

इस प्रकार जहाँ रुद्रट ने पूर्ववर्तियों द्वारा बताए गए कुछ भेदों के अनन्वयोपमा, कल्पितोपमा, उत्पाद्योपमा, समस्तविषया, एकदेशिनी उपमा इत्यादि कुछ नवीन भेदों की उद्भावना की है वहीं उद्भट द्वारा विवेचित श्रौती, आर्थी, तद्धितावसेया इत्यादि भेदों का उन्होंने उल्लेख नहीं किया है।

परवर्ती आचार्यों में भोजराज ने पदगत तथा वाक्यगत - उपमा के दो भेद करते हुए[2] पुनः पदगत उपमा के समासोपमा तथा प्रत्ययोपमा - ये दो उपभेद किए हैं, उन्होंने इन दोनों के चार- चार प्रकार बताए हैं।[3] समासोपमा के ये चार प्रकार निम्न हैं - {क} इवादि के अन्तर्भूत होने पर

{ख} सामान्य के अन्तर्भूत होने पर

{ग} दोनों के अन्तर्भूत होने पर, तथा

{घ} सभी के समस्त होने पर।[4]

1- चन्दनोदकचन्द्रांशुचन्द्रकान्तादिशीतलः ।
स्पर्शस्तवेत्यतिशयं बोधयन्ती बहूपमा ॥ - का० द० 2/40

2- {क} पदवाक्यप्रपञ्चाख्यैर्विभेदैः स्पदते । - स० कं० भ० 4/7 पूर्वार्द्ध

{ख} समासात् प्रत्ययाच्चैव द्विविधा स्यात्पदोपमा । - वही, 4/8पूर्वार्द्ध

3- {क} या समासोपमा तत्र चतुर्धा साभिपद्यते । - वही, 4/8उत्तरार्द्ध

{ख} या प्रत्ययोपमेत्युक्ता काव्यविद्भिः पदोपमा ।
चतुर्धा भिद्यते सापि प्रत्ययार्थप्रभेदतः ॥ - वही, 4/14

4- इवार्थान्तर्गतिरेका सामान्यान्तर्गतिः परा ।
अन्तर्भूतोभयार्थान्या सान्या सर्वसमासभाक् ॥ - वही, 4/9.

का स्वरूप रुद्रट की प्रथम दो वाक्योपमाओं से बहुत साम्य रखता है। उन्होंने पूर्णा का उदाहरण भी रुद्रट से ही लिया है तथा कुछ अन्तर के साथ लुप्तापूर्णा का उदाहरण भी रुद्रट की लुप्ता से ही लिया है।[2]

इसके अतिरिक्त रुद्रट के समस्तविषया, एकदेशोपमा, मालोपमा, रशनोपमा, अन्योपमा, उत्पाद्योपमा तथा अनन्वयोपमा का उन्होंने भी उल्लेख किया है।[3] समस्तोपमा तथा एकदेशोपमा के उदाहरण भी उन्होंने रुद्रट से ही लिए हैं।[4] इस प्रकार रुद्रटकथित प्रायः सभी उपमाभेदों को भोज ने शब्दशः ग्रहण किया है।

मम्मट ने उपमालक्षण के समान ही उपमा-भेदों के विषय में भी उद्भट का ही अनुसरण किया है। उन्होंने भी पूर्णा- लुप्ता इन दो प्रमुख भेदों में से पूर्णा के श्रौती तथा आर्थी तथा उनके भी वाक्यगा, समासगा तथा तद्धितगा इत्यादि भेद किए हैं।[5]

1- {क} पूर्णा सामान्यधर्मस्य प्रयोगे द्योतकस्य च ।
उपमानस्य च भवेदुपमेयस्य चैव हि ॥ - वही, 4/23

{ख} लोपे सामान्यधर्मस्य लुप्तपूर्णेति गद्यते । - वही, 4/27 पूर्वार्द्ध

2- {क} कमलमिव चारु वदनं मृणालमिव कोमलं भुजायुगलम् ।
अलिमालेव सुनीला तवैव मदिरेक्षणे कबरी ॥ - वही, 4/24

{ख} राजीवमिव ते वक्त्रं नेत्रे नीलोत्पले इव ।
रम्भास्तम्भाविवोरू च करिकुम्भाविव स्तनौ ॥- वही, 4/28

3- स्यात्समस्तोपमा तद्वदेकदेशोपमा परा ।
मालोपमा तृतीया स्याच्चतुर्थी रशनोपमा ॥
विपर्यासोपमा तासु प्रथमायोन्योपमा ।
अथोत्पाद्योपमा नाम तुरीयाऽनन्वयोपमा ॥ - वही, 4/37,43

4- {क} समस्तोपमा यथा-
अलिवलयैरलकैरिव कुसुमस्तबकैः स्तनैरिव वसन्ते ।
भान्ति लता ललना इव पाणिभिरिव किसलयैरधिकम् ॥

{ख} एकदेशोपमा यथा -
कमलदलैरधरैरिव दशनैरिव केसरैर्विराजन्ते ।
अलिवलयैरलकैरिव कमलैर्वदनैरिव नलिन्यः ॥- वही, 4/38,39

5- पूर्णा लुप्ता च । साऽग्रिमा
श्रौत्यार्थी च भवेद् वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥- का०प्र० 10/87.

उनके उपमा प्रकरण से स्पष्ट है कि उन्होंने भी प्रत्ययोपमाओं को लुप्तोपमा का ही एक प्रकार माना है।[1] कुल मिलाकर उन्होंने पच्चीस भेद किए हैं।[2] इन्होंने भी मालोपमा की चर्चा की है। उनके द्वारा उपन्यस्त इस उपमा के दो उदाहरणों में एक उपमेय तथा अनेक उपमान तो हैं, किन्तु प्रथम में[3] सबका एक ही साधारण धर्म है तथा द्वितीय में[4] उपमानों के साधारण धर्म भिन्न- भिन्न हैं। इस प्रकार द्वितीय उदाहरण रुद्रट की मालोपमा का ही रूप है किन्तु प्रथम उदाहरण भिन्न रूप का है। इसी अभिन्नधर्म तथा भिन्नधर्म के आधार पर उन्होंने रशनोपमा के भी दो - दो उदाहरण दिए हैं, जिनमें से द्वितीय उदाहरण[5] रुद्रट की रशनोपमा ही है। मम्मट ने यह कहते हुए इनका लक्षण नहीं किया है कि- इस प्रकार की लाखों विचित्रतायें सम्भव हैं और ये उक्त पच्चीस भेदों से भिन्न नहीं हैं।[6] उन्होंने अनन्वय तथा उपमेयोपमा [उभयोपमा] का निरूपण स्वतन्त्र अलङ्-कारों के रूप में किया है।[7]

राजानक रुय्यक ने यह कहते हुए कि प्राचीन विद्वानों के द्वारा इसके पूर्णा तथा लुप्ता के आधार पर अनेक भेद किए गए हैं,[8] इसके भेद-प्रभेदों पर विचार नहीं किया है।

1- वही, पृ0- 475- 482.
2- एवमेकोनविंशतिर्लुप्ताः पूर्णाभिः सह पञ्चविंशतिः । -वही, पृ0-483
3- अनयैव राज्यश्रीर्दैन्यैरेव मनस्विता ।
मम्लौ साऽथ विषादेन पद्मिनीव हिमाम्भसा।। - वही, 10/410.
4- ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुरेव मदकारणम् ।
प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी ।। - वही, 411.
5- मतिरिव मूर्तिर्मधुरा मूर्तिरिव सभा प्रभावचिता ।
तस्य सभेव जयश्रीः शक्या जेतुं नृपस्य न परेषाम् ।।-वही, पृ0-484.
6- .... रशनोपमा च न लक्षिता एवंविधवैचित्र्यसहस्रसम्भवात्
उक्तभेदानतिक्रमाच्च । - वही
7- वही, पृ0- 485 तथा 486.
8- अस्याश्च पूर्णालुप्तात्वभेदाश्चिरन्तनैर्बहुविधत्वमुक्तम् ।
- अ0 स0 सूत्र 12 वृत्तिभाग ।

विद्यानाथ, विश्वनाथकविराज, कर्णपूरगोस्वामी[1] तथा विश्वेश्वरपण्डित ने मम्मट के समान ही भेद- प्रभेद किए हैं। विद्यानाथ ने रुद्रट की समस्तवस्तुविषया तथा एकदेशविषया[2] तथा विश्वनाथ कविराज ने एकदेशीय एवं रशनोपमा का उल्लेख किया है।[3] इन दोनों आचार्यों ने मालोपमा का भी उल्लेख किया है।[4]

अप्पयदीक्षित ने पूर्णोपमा के साथ लुप्तोपमा के वाचकलुप्ता इत्यादि आठ भेद बताए हैं।[5]

प्रायः अधिकांश आचार्यों ने अनन्वयोपमा तथा उपमेयोपमा को स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त किया है।

उपर्युक्त समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि सभी आचार्यों ने भिन्न- भिन्न रूप से उपमा के भेद-प्रभेद किए हैं। अधिकांश ने उद्भट का अनुसरण किया है। भेदों की संख्या की दृष्टि से न्यूनाधिक्य अवश्य है। रुद्रट की मान्य भेद-प्रपञ्च पूर्णरूप से परवर्तियों ने तो नहीं अपनाया है किन्तु अधिकांश भेदों को स्वीकार किया है।

1- [क] प्र० रु० अर्थालङ्कार प्रकरण, पृ०- 414- 440
   [ख] सा० द० 10/ पृ०- 692-710.
   [ग] अ० कौ० पृ०- 279- 288
   [घ] अ० मु० 1-7 कारिका

2- प्र० रु०, पृ०- 438-39

3- सा० द० 10/ 24-25.

4- प्र० रु०, पृ०- 439
   सा० द० 10/ 26 पूर्वार्द्ध

5- इयं च पूर्णोपमेत्युच्यते ...... लुप्तोपमाष्टधा ।।
   - कु०, पृ०- 2-4

रूपक-

रूद्रट ने औपम्यमूलक अलङ्कारों में उपमा एवं उत्प्रेक्षा के पश्चात् रूपक का विवेचन किया है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार का "एक से अधिक वर्गों में आने वाले अलङ्कार" नामक अध्याय में विवेचन किया जाएगा अतः उपमा के अनन्तर यहाँ रूपक की समीक्षा की जा रही है। उनके अनुसार उपमान तथा उपमेय के गुणों में साम्य होने पर उन दोनों की जहाँ अभेद रूप में कल्पना की जाती है उसे रूपक अलङ्कार कहते हैं, साधारण धर्म का प्रयोग न होने के कारण उपमान तथा उपमेय[1] में यह अभेद होता है, क्योंकि सामान्य {साधारण धर्म} ही भेद को स्पष्ट[2] प्रतीति कराता है। यह रूपक का प्रथम प्रकार अर्थात् वाक्यरूपक नामक भेद है। यथा-

> साक्षादेव भवान् विष्णुर्भार्या लक्ष्मीरियं च ते।
> नान्यदद्भुतमुग्रा दृष्टं लोके मिथुनमीदृशम् ॥[3]

यहाँ उपमेय राजन् एवं रानी तथा उपमान रूप विष्णु एवं लक्ष्मी में अभेद स्थापित किया गया है। उपमेय तथा उपमान पृथक् पृथक् {विभिन्न रूप में} प्रयुक्त हुए हैं अतः यह वाक्यरूपक का स्थल है, किन्तु जहाँ उपमेय एवं उपमान समस्त रूप में उपन्यस्त होते हैं, उसे समासोक्त रूपक कहते हैं, इस समास में उपमेय पूर्व में न्यस्त होता है तथा उपमान पश्चात् में, क्योंकि समासोक्त रूपक में उपमेय गौण रूप में रहता है[4]। यथा - "दुर्जन एवं पन्नगो दुर्जनपन्नगः।"[5] लक्षण में

1- यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदा ।
   अविवक्षितसामान्या कल्प्यत इति रूपकं प्रथमम् ॥- का०8/38

2- इह प्रथमशब्देन वाक्यरूपकं विवक्षितम् । - वही नमिसाधुकृत टीका

3- वही, 8/39

4- उपसर्जनोपमेयं कृत्वा तु समासमेतयोरुभयोः ।
   यत्तु प्रयुज्यते तद्रूपकमन्यत्समासोक्तम् ॥ - वही, 8/40

5- वही, नमिसाधुकृत टीका ।

तु पद समुच्चय अर्थ के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा उभय पद "केवल उपमेय तथा उपमान - इन दो में ही समास होता है तीसरे {साधारण धर्म} में नहीं" इस नियम के लिए।[1]

ये दोनों वाक्य एवं समासोक्त रूपक सावयव, निरवयव तथा सङ्कीर्ण के भेद से तीन प्रकार के होते हैं तथा समस्त विषय एवं एक देश के भेद से दो प्रकार के होते हैं।[2] यह शङ्का हो सकती है कि सावयवादि तीनों प्रभेदों के समस्त-विषय तथा एक देश- ये दो भेद न करके अथवा वाक्यरूपक एवं समासोक्तरूपक के समस्तविषय एवं एकदेश- ये दो भेद तथा पुनः उनके सावयवादि तीन भेद न करके आचार्य ने पुनः वाक्यरूपक तथा समासोक्त रूपक के ही दो भेद क्यों किए हैं? उत्तर यह है कि सावयवादि के समस्तविषय तथा एकदेश- ये भेद इसलिए नहीं किए जा सकते क्योंकि निरवयवादि भेदों में समस्तविषयादि भेद नहीं हो सकते। इसलिए सावयवादि भेदों का इन दो भेदों में यथा सम्भव अन्तर्भाव होता है।[3]

1- तु शब्दः समुच्चये । उभयग्रहणं नियमार्थम् । उभयोरेव समासे, न तृतीयस्यापि सामान्यपदस्येत्यर्थः । - वही, 8/40.

2- सावयवं निरवयवं सङ्कीर्णं चेति भिद्यते भूयः ।
द्वयमपि पुनर्द्विधैतत्समस्तविषयैकदेशितया ॥- वही, 8/41

3- पुनश्च द्वयमपि वाक्यसमासरूपकभेदद्वयं समस्तविषयतयैकदेशितया च द्विधा भिद्यते । न तु सावयवादिभेदभिन्नं सत् । निरवयवादिषु सर्वत्रासम्भवात् । तेनात्र भेदद्वये सावयवादिभेदानुप्रवेशो यथासम्भवमेव भवतीति । - वही, टीका

तृतीय पद में उपमेय वापी तथा विलासिनी उपमान में समास है साथ ही उपमेय वापी के कुछ अवयव- भ्रमर समूह, तरंगें तथा हंस- पुष्पित [illegible] है अर्थात् आहार्य हैं तथा कमल सहजावयव है, अतः यह उभयावयव समस्तविषय समासोक्त रूपक का स्थल है।

इस प्रकार सावयवरूपक सभी भेदों में से कुछ वाक्यरूपकगत तथा कुछ समासोक्त रूपकगत उदाहरण आचार्य ने दिए हैं, सभी नहीं ।

सावयव वाक्य तथा समास रूपक के अनन्तर रुद्रट ने निरवयव रूपकों का विवेचन किया है। नाम से ही स्पष्ट है कि इनमें अवयवों की विवक्षा नहीं होती। यह भी शुद्ध, माला, रशना तथा परम्परित के भेद से चार प्रकार का होता है।[1]

अवयवरहित आरोप शुद्ध निरवयव होता है। माला निरवयव रूपक में मालोपमा की भाँति अनेक साधारण धर्म वाले उपमेय में एक- एक साधारण धर्म वाले उपमानों का आरोप होता है।[2] किन्तु रशना रूपक मालोपमा से विपरीत होता है, क्योंकि जहाँ मालोपमा में पूर्व- पूर्व पद उत्तरोत्तर उपमान होता जाता है वहीं रशना रूपक में पूर्व पूर्व पद उत्तरोत्तर उपमेय होता जाता है।[3] परम्परित रूपक में

1- मुक्त्वावयवविवक्षां विधीयते यत्तु तत्तु निरवयवम् ।
भवति चतुर्धा शुद्धं माला रशना परम्परितम् ।। - वही, 8/46.

2- यत्रैकं वस्त्वनेकसामान्यम् । उपमीयेतानेकैरुपमानैरेकसामान्यैः
इत्येतदुपमालक्षणं यत्र रूपके तदित्यर्थः । - वही, 8/47 टीका

3- रशनाया वैपरीत्यमिति । यो यः पूर्वोऽर्थः स स उत्तरेषामुपमानमित्युपमा-
लक्षणवैपरीत्यम् । रूपकरशनायां हि यो यः पूर्वोऽर्थः स स उत्तरेषामुपमेय इति ।
- वही, 8/47 टीका

दो उपमानों के साथ एक उपमेय अन्योन्यार्थ के अर्थ में समस्त होता है।[1] इन चारों निरवयव रूपकों के क्रमशः निम्नलिखित उदाहरण हैं -

> यः पूरयेदशेषान्कामानुपशमितानन्तान् ।
> अर्थिजनार्थिनां यदि त्वं न स्याः कल्पद्रुमो राजन् ॥
> कुसुमायुधपरमास्त्रं लावण्यमहोदधिर्गुणनिधानम् ।
> आनन्दनन्दिरमणो हृदि दयिता स्खलति मे शल्यम् ॥
> किसलयकरैर्लतानां करकमलैः कामिनां जगज्जयति ।
> नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः ॥
> स्मरशबरचापयष्टिर्जयति जनानन्दजलधिशशिलेखा ।
> लावण्यसलिलसिन्धुः कालकलाकलापलोचनम् ॥[2]

प्रथम उदाहरण शुद्ध निरवयव वाक्यरूपक है क्योंकि इसमें राजन् उपमेय पर कल्पद्रुम उपमान की शाखा इत्यादि अवयवों का आरोप है।

मालारूपक के उदाहरण में अनेक साधारण धर्मों वाली दयिता उपमेय में एक एक साधारण धर्म वाले अस्त्रादि अनेक उपमानों का आरोप है।

तृतीय पद्य में पूर्व पूर्व में उपमान रूप करादि के उत्तरोत्तर उपमेय हो जाने से यह रशनारूपक का रूपक है।

परम्परित रूपक के उदाहरण में स्मर रूप एक उपमेय अन्य तरुणी रूप उपमेय के अर्थ में शबर तथा चाप यष्टि इन दो उपमानों के साथ समस्त रूप में प्रयुक्त हुआ है, शबर काम (स्मर) का उपमान है तथा चापयष्टि तरुणी का। इसी प्रकार जनानन्द

1- यस्मिन्नुपमानाभ्यां समस्यमुपमेयमन्यार्थे ॥
- वही, 8/47 उत्तरार्द्ध

2- वही, 8/48, 49, 50, 51.

लावण्य तथा कला- इन एक एक उपमेयों का जलधि इत्यादि दो दो उपमानों के साथ समास हुआ है।

इस प्रकार सावयव में उपमेय- उपमान तथा दोनों के अवयव रहते हैं तथा इसके विपरीत निरवयव दोनों अवयवहीन होते हैं किन्तु सङ्कीर्ण में उपमेय तथा उसके अवयवों में निरवयव उपमानों का आरोप रहता है अर्थात् इसमें एक (उपमेय) अवयव-युक्त होता है तथा उपमान अवयवहीन होता है।[1] जैसा लिखा जा चुका है-अवयव तीन प्रकार के होते हैं - सहज, आहार्य तथा औपाधिक- अतः इन तीनों की दृष्टि से सङ्कीर्ण भी तीन प्रकार का होता है,[2] जिनके उदाहरण निम्नलिखित हैं-

> अधरोऽस्त्वं सुधाबिन्दुर्यस्ते नीलोत्पले दृशौ कन्ये ।
> केशाः केकिकलापो दशना अपि कुन्दकलिकास्ते ।।
> सुतनु सरो गगनमिदं कैरवो मदनचापनिर्घोषः ।
> कुमुदवनं हरहसितं कुवलयजालं तमः गुरुशाम् ।।
> इन्द्रस्तं तव बाहू जयलक्ष्मीद्वारतोरणस्तम्भौ ।
> खड्गः कृतान्तरसना जिह्वा च सरस्वती राजन् ।।[3]

इन तीनों में क्रमशः नायिका, सरोवर तथा राजा उपमेय हैं तथा मुखादि, हंसध्वनि इत्यादि तथा बाहु इत्यादि क्रमशः उनके अवयव हैं। इनके उपमान निर-वयव हैं ।

1- उपमेयस्य क्रियते तदवयवानां च साकमुपमानैः ।
   अन्येषां निरवयवैर्विधिर्यत् तदिति सङ्कीर्णः ।।
   - वही, 8/52

2- एवं च सहजाद्यवयवभेदत्वात्त्रिधा भवति । - वही, टीका

3- वही, 8/53-54-55.

उपर्युक्त ये सभी समस्तविषय रूपक के स्थल हैं क्योंकि इनमें सभी उपमेयों के उपमान हैं किन्तु एकदेशिरूपक में कुछ उपमेयों पर उपमान का आरोपण होता है सबका नहीं। यथा-"कमलाननैर्नलिन्यः केसरदशनैः स्मितं चक्रुः।"[1] इसमें नलिनी पर अङ्गना का आरोप नहीं है, शेष उसके कमल तथा केसर अवयवों पर आनन तथा दशन- इन उपमानों का आरोप है।

पूर्ववर्ती भरतमुनि, भामह, दण्डी- सभी ने रूपक का निरूपण किया है। भरत मुनि के अनुसार रूपक नाना प्रकार के द्रव्यों के सम्पर्क से औपम्ययुक्त तथा आरोप के वर्णन से युक्त होता है।[2] यह तुल्यावयव लक्षण तथा किञ्चित्सादृश्यसम्पन्न के भेद से दो प्रकार का होता है।[3] सम्भवतः इन दोनों से समस्तविषय रूपक तथा एकदेशी रूपक में भरत का तात्पर्य है।

भामह तथा वामन ने गुणों के साम्य के आधार पर उपमान के साथ उपमेय के आरोपण को रूपक कहा है।[4] भामह ने इसके समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ती रूपक- ये दो भेद किए हैं।[5] दण्डी ने ऐसी उपमा को रूपक कहा है, जिसमें उपमेय तथा

1- उक्तं समस्तविषयं लक्षणमन्यास्त्वेकदेशीदम् । कमलाननैः ...... ।।
- वही, 8/56

2- नानाद्रव्यानुषङ्गाद्यैरौपम्यं गुणाश्रयम् ।
रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम् ।। - ना० शा० 17/57

3- स्वविकल्पेन रचितं तुल्यावयवलक्षणं ।
किञ्चित्सादृश्यसम्पन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत् ।। - वही, 17/58

4- [क] उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ।।- का० 2/21
[ख] उपमानेनोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम् ।- का०सू०वृ०4/3/6

5- समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ।
द्विधा रूपकमुद्दिष्टमेतत्तच्चोच्यते ।।- का० 2/22.

उपमान का भेद तिरोहित हो जाता है।[1] उन्होंने इसके विभिन्न भेद-प्रभेद किए हैं,[2] जिनमें से कुछ भामहोक्त दो भेदों में आ जाते हैं और कुछ हेतु रूपक इत्यादि ऐसे हैं जिनको परवर्तियों ने स्वीकार नहीं किया है।

उद्भट ने रूपक के लक्षण में परिवर्तन कर दिया है। उपमेय में उपमान के आरोप अथवा अभेद सभी पूर्ववर्तियों द्वारा किए गए इस लक्षण को तिलाञ्जलि देकर इस रूपक का सम्बन्ध लक्षणा वृत्ति से जोड़ दिया है। उनके अनुसार जहाँ अभिधा शक्ति से प्राप्त वाच्यार्थों से सम्बन्ध न बन सकने के कारण लक्षणा का प्रधान पद से योग हो, उसे रूपक कहते हैं।[3] जहाँ तक भेदों का प्रश्न है उन्होंने भी समस्त वस्तु, विषय तथा एकदेशविवर्ती का उल्लेख किया है, साथ ही यह भी कहा है कि समस्तवस्तु-विषय को ही मालारूपक भी कहते हैं।[4]

पूर्ववर्तियों के इस विवेचन को देखने से स्पष्ट है कि रुद्रट के रूपक- विवेचन में पर्याप्त विविधता, सरलता एवं विस्तार है। सर्वप्रथम उन्होंने ही रूपक का इतना वैज्ञानिक विभाजन करते हुए अनेक नवीन भेदों का उल्लेख किया है।

सम्प्रति परवर्ती काव्यशास्त्र में इसका क्या रूप स्थिर हुआ तथा कौन-कौन से भेदों का उल्लेख किया गया, यह द्रष्टव्य है।

1- उपमेय तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते । - का० द० 2/66 पूर्वार्द्ध

2- वही, 2/66- 97.

3- श्रुत्या सम्बन्धविरहाद् यत्पदेन पदान्तरम् ।
गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत् ॥- 1/1॥

4- समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ।
समस्तवस्तुविषयं मालारूपकमुच्यते ॥
- का० सा० सं० 1/12-13.

अग्निपुराणकार ने भामह तथा दण्डी दोनों के लक्षण उद्धृत किये हैं।[1] प्रायः सभी आचार्यों ने रूपक का यही लक्षण किया है अर्थात् उपमेय तथा उपमान का अभेद।[2]

जहाँ तक भेदोपभेदों का प्रश्न है- कुन्तक ने इसके भामहकथित समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ती - ये दो भेद किए हैं।[3]

मम्मट ने प्रथमतः साड्.ग, निरड्.ग तथा परम्परित - ये तीन भेद किए हैं। उनमें से साड्.ग रूपक के दो भेद हैं - समस्तवस्तु विषय तथा एकदेशविवर्त्ती। निरड्.ग के भी दो भेद हैं - शुद्ध तथा माला। परम्परित के श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट-

---

1- अ0 का0 का0 भाग 8/22-23.

2- [क] उपचारैकसर्वस्वं यत्र तद् साम्यमुद्वहद्।
यदर्पयति रूपं स्वं वस्तु तद्रूपकं विदुः ।। - व0 जी0 3/19.

[ख] तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः । - का0 प्र0 10/9 पूर्वार्द्ध

[ग] अभेदप्राधान्ये आरोपे आरोपविषयापह्नवे रूपकम्।
- अ0 स0 सूत्र- 16

[घ] रूपकं यत्र साधर्म्यादर्थयोरभिदा भवेत्। - वा0 4/64 पूर्वार्द्ध

[ङ] रूपकं रूपितारोपद्विषये निरपह्नवे । - सा0 द0 10/28

[च] अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोरुपमानोपमेययोरभेदारोपो रूपकम्।
- अ0 शे0, पृ0- 32.

[छ] विषय्यभेदताद्रूप्यरञ्जनं विषयस्य यद्। रूपकम् ....।
- कु0 17

[ज] उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेण शब्दान्निश्चीयमानमुपमानतादात्म्यं रूपकम्।
- र0 गं0 2/ पृ0- 483.

[झ] रूपकन्तु तद्। यत्तादात्म्यं द्वयोः ...। - अ0कौ0 8/239

3- समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च। - व0 जी0 3/पृ0- 351.

इन दो भेदों के शुद्ध एवं माला रूप होने से यह परम्परित चार प्रकार का होता है। इस प्रकार कुल मिलाकर इन्होंने रूपक के आठ भेद किए हैं।[1] इनके इस भेद सम्बन्धी विवेचन से स्पष्ट है कि इनका साङ्ग ही रुद्रट का सावयव है, निरङ्ग में निरवयव की छाया है, जहाँ रुद्रट ने निरवयव के चार भेद किए हैं वहीं इनमें से मम्मट ने शुद्ध तथा माला- ये दो निरङ्ग के भेद किए हैं तथा परम्परित को स्वतन्त्र भेद के रूप में उन्होंने रखा है। रशना माला के लिए उनका कहना है कि रशना-रूपक विशेष चमत्कारी नहीं है। स्पष्ट है कि इन्होंने पूर्णरूप से रुद्रट के भेद-विभाजन को स्वीकार नहीं किया है किन्तु बहुत अंशों तक उनसे प्रभावित हैं।

अलङ्कार सर्वस्वकार ने मम्मट के ही भेद-विभाजन का अक्षरशः अनुसरण किया है। किन्तु साङ्ग तथा निरङ्ग को रुद्रट के समान ही सावयव तथा निरवयव कहा है, साथ ही रुद्रट द्वारा कहे गए वाक्यरूपक तथा समासोक्तरूपक को भी नकारा नहीं है।[2] वाग्भट ने समस्त, असमस्त, खण्ड तथा अखण्ड ये भेद किए हैं।[3] विद्यानाथ तथा विश्वनाथ कविराज ने भी रुय्यक की ही भाँति मम्मट के ही भेद विभाजन को स्वीकार किया है।[4] पं० केशव मिश्र ने रूपक के विरुद्ध, समस्त, व्यस्त,

---

1- का० प्र० 10/9-95 तथा वृत्तिभाग

2- इदं तु निरवयवं सावयवं परम्परितमिति त्रिविधम् । आद्यं केवलं मालारूपकञ्चेति द्विधा । द्वितीयं समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति चेति द्विधैव। तृतीयं श्लिष्टशब्दनिबन्धनत्वेन द्विविधं तत्प्रत्येकं केवलमालारूपकत्वा च्चतुर्विधम् । तदेवमष्टौ रूपकभेदाः । अन्ये तु प्रत्येकं वाक्योक्तसमासोक्तादिभेदाः सम्भवन्ति तेऽन्यतो द्रष्टव्याः । - अ० स०, पृ- 121.

3- वा० 4/64

4- प्र० रु० पृ- 444 [क] एवमष्टविधो रूपकालङ्कारः ।
[ख] तेनाष्टौ रूपके भिदाः । - सा०द०, पृ-721.

रूपकरूपक तथा श्लिष्टरूपक - ये पाँच भेद किए हैं।[1] इनके समस्त तथा व्यस्त रुद्रट के समासोक्त तथा वाक्यरूपक ही हैं तथा रूपकरूपक सावयवरूपक है।[2] आचार्य विश्वेश्वर तथा कर्णपूरगोस्वामी ने भी मम्मट का ही अनुसरण किया है।[3]

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि अधिकांश परवर्तियों ने मम्मट का ही अनुसरण किया है तथापि इन सभी आचार्यों के उक्त रूपक सम्बन्धी भेद-विभाजन पर रुद्रट का स्पष्ट प्रभाव है। इस प्रकार के वैज्ञानिक विभाजन को सर्वप्रथम रुद्रट ने ही प्रस्तुत किया, जिसकी परवर्तियों पर स्पष्ट छाया पड़ी है।

अपह्नुति -

अपह्नुति का अर्थ है - छिपाना। स्पष्ट है इस अलङ्कार में किसी अर्थ का अपह्नव होता है। रुद्रट के अनुसार यहाँ अत्यधिक साम्य के कारण विद्यमान होते हुए भी उपमेय का निषेध करके उपमान की सत्ता की ही स्थापना की जाती है उसे अपह्नुति कहते हैं।[4] यथा-

> नवबिसकिसलयकोमलसकलावयवा विलासिनी नेयम्।
> आनन्दयति जनानां नयनानि शिशांशुलेखेव ।।[5]

इस पद्य में उपमेय विलासिनी की सत्ता का निषेध [नेयम्] हुआ है। अर्थात् उपमेय अपह्नुत हुआ है तथा उपमान चन्द्रलेखा की सत्ता स्थापित की गयी है।

1- क्लिष्टं च समस्तं च व्यस्तं च रूपकरूपकम् ।
श्लिष्टं च रूपं तस्मात्त्रिधा त्वपरं बुधा स्मृतः ।। - अ०का० 12/1

2- वही, पृ०- 33, पृ०- 14-16.

3- [क] अ० कु०, अ० कौ० पृ०- 291-295.

4- अतिसाम्यादुपमेयं यस्यामसदेव कथ्यते सदपि ।
उपमानमेव सदिति च विज्ञेयापह्नुतिः सेयम् ।। - का० 8/57

5- वही, 8/58

काव्यालङ्कार ग्रन्थ में "नैषा" के स्थान पर सैषा तथा "सितांशुलेखेव" के स्थान पर "सितांशुलेखैव" छपा है। इस विषय में अलङ्कारसर्वस्व के हिन्दी व्याख्याकार डॉ0 रेवाप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि "निर्णयसागरीय" संस्करण में "नैषा" का "सैषा" तथा "लेखेव" का "लेखैव" छप गया है।[1] इसी कथन को दृष्टि में रखकर यहाँ उदाहरण में भी "नैषा" तथा "लेखेव" पद ही रखे गये हैं। यदि पद्य में सैषा तथा लेखैव पद हों तो अपह्नुति का कोई रूप ही नहीं रह जाएगा वरन् ये उपमा का स्थल हो जाएगा। चूँकि आचार्य द्वारा बताया गया अपह्नुति का स्वरूप स्पष्ट एवं समीचीन है इसीलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनको भी यही पद स्वीकार रहे होंगे अथवा उन्होंने भी इन्हीं दो (नैषा, लेखेव) का ही प्रयोग किया होगा ।

प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों ने उक्त अलङ्कार का उल्लेख किया है। भामह के अनुसार अपह्नुति में उपमा कुछ- कुछ अपह्नुत होती है, प्रकृत अर्थ को छिपाने के कारण ही इसे अपह्नुति कहते हैं।[2] स्पष्ट है कि भामह का पूर्ण प्रभाव रुद्रट पर पड़ा है। उद्भट ने भी भामह के ही मत का पूर्णरूप से समर्थन किया है।[3] दण्डी तथा दण्डी का अनुसरण करने वाले अग्निपुराणकार ने किसी अर्थ को छिपाकर अन्य अर्थ के प्रदर्शन को ही अपह्नुति कहा है।[4] इस प्रकार इन लोगों ने इसमें औपम्य को स्वीकार

1- अ0 स0 पृ0- 181।
2- अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिद् अन्तर्गतोपमा ।
भूतार्थापह्नवादस्याः क्रियते चाभिधा ....."। - का0 3/21।
3- का0 सा0 सं0 5/3
4- (क) अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम् ।
- का0 द0 2/304 पूर्वार्द्ध
(ख) अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम् ।
- अ0पु0 का का0 भाग 9/18 पूर्वार्द्ध

नहीं किया है, यही इनके उदाहरण से भी प्रतीत होता है।[1] साथ ही इन्होंने अपह्नुति के अनेक भेद बताए हैं।[2] इन भेदों में उपमापह्नुति का भी निर्देश है। जिसके लिए वे यह कहते हैं कि उपमा- प्रपञ्च में ही इसका निर्वचन किया जा चुका है।[3] इस दृष्टि से उक्त अलङ्कार में औपम्य को स्वीकार करने वाले भामहादि द्वारा बतायी गयी अपह्नुति का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रह जाएगा। वामन ने समान वस्तु द्वारा अन्य के निषेध को अपह्नुति कहा है।[4] इस प्रकार इन्होंने भी इसमें औपम्य को स्वीकार किया है।

परवर्ती कुन्तक, मम्मट, रुय्यक इत्यादि प्रायः सभी आचार्यों ने भामहादि का अनुसरण करते हुए इस अलङ्कार का स्वतन्त्र रूप में विवेचन किया है तथा उसी रूप को स्वीकार किया है।[5] कुछ आचार्यों ने इसके भेद- प्रभेद भी किए हैं।[6]

1- न पङ्केजः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणामिति । - का०द० 2/304 उत्तरार्द्ध

2- का० द० 2/ पृ०- 243-245.

3- उपमापह्नुति पूर्वमुपमास्वेव दर्शिता । - वही, 2/309 पूर्वार्द्ध

4- समेन वस्तुनाऽन्यापलापोऽपह्नुतिः । - का० सू० वृ० 4/3/5

5- {क} अन्यदर्पयितुं रूपं वर्णनीयस्य वस्तुनः।
स्वरूपापह्नवो यस्यामसावपह्नुतिर्मता।।-व० जी० 3/42.

{ख} प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः। - का०प्र० 10/96पूर्वार्द्ध

{ग} विषयस्यापह्नवेऽपह्नुतिः । - अ० स० सूत्र 21.

{घ} अतथ्यमारोपयितुं तथ्यापाह्नुतिरपह्नुतिः । - च० 5/24 पूर्वार्द्ध

{ङ.} निषिध्य विषयं साम्याद् अन्यारोपे ह्यपह्नुतिः- प्र०रु०, पृ०-457.

{च} नैतदेतदिदं ह्येतदित्यपह्नवपूर्वकम् ।
उच्यते यत्र सादृश्याद् अपह्नुतिरियं मता। - वा० 4/85

{छ} प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः।- सा०द० 10/38 पूर्वार्द्ध

{ज} उपमेय तावल्लोक निषेध सामानाधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमानतादात्म्य-मपह्नुति । - र० गं० 2/पृ०- 670

6- {क} अ०स० सूत्र 21 वृत्तिभाग {ख} प्र० रु० , पृ०- 457.

{ग} च० 5/25-29 {घ} कु० 26-31.

{ङ.} सा० द० 10/38-39.

स्पष्ट है कि दण्डी को छोड़कर प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में इसका मूल रूप एक ही रहा है अर्थात् प्रस्तुत के निषेधपूर्वक अप्रस्तुत की स्थापना।

संशय -

रुद्रट के अनुसार श्रोता को एक वस्तु में सादृश्य के कारण जो अनेक वस्तु-विषयक सन्देह होता है उसे संशय अलङ्कार कहते हैं, यह सन्देह अनिश्चयात्मक होता है अर्थात् यह अथवा यह है, इस प्रकार किसी एक वस्तु में निश्चय नहीं हो पाता।[1] लक्षण में आए हुए "एक वस्तु" पद से उपमेय में तात्पर्य है।[2] इस प्रकार इस अलङ्कार में प्रयुक्त उपमेय तथा उपमान में इतना अधिक साम्य रहता है कि किसी एक का निश्चित ज्ञान नहीं हो पाता। यथा-

> किमिदं लोलालिकुलं कमलं किं वा मुखं कुन्तलवत् ।
> इति संशेते लोकस्त्वयि कृतनु सरोवतीर्णायाम् ।।[3]

इस पद्य में मुख {उपमेय} तथा कमल {उपमान} का क्रमशः कृष्णवर्णीय केश-कलापों से आच्छादित होना तथा कृष्णवर्णीय भ्रमरों से युक्त होना ही सादृश्य हेतु हैं, इन्हीं के कारण दोनों में सन्देहात्मक प्रतीति हो रही है। रुद्रट ने इसके चार प्रकार बताए हैं, जो निम्नलिखित है -

कहीं- कहीं उपमेय में असम्भव वस्तु को सत् अथवा सम्भव वस्तु को असत् कहा जाता है तथा उपमान में भी उसी प्रकार सम्भव को असत् एवं असम्भव को सत कहा जाता है, इसमें भी इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होने के कारण तथा उपमान-उपमेय

1- वस्तुनि यत्रैकस्मिन्ननेकविषयस्तु भवति सन्देहः ।
प्रतिपत्तुः सादृश्यादनिश्चयः संशयः स इति ।।- का० 8/59.

2- यत्रैकस्मिन्वस्तुन्युपमेये .... ।- वही, टीका

3- वही, 8/60

में सादृश्य के कारण संशय बना रहता है, संशय की दूसरी स्थिति वहाँ होती है, जहाँ अन्त में निश्चित कथन [निश्चय] वर्णित होता है, ये दोनों क्रमशः निश्चयगर्भ सन्देह तथा निश्चयान्त सन्देह कहलाते हैं।[1] नाम से ही स्पष्ट है कि निश्चयगर्भ में बोद्धा निश्चय तो करता है, किन्तु उसमें अन्त तक सन्देह बना रहता है, जबकि निश्चयान्त में सन्देह करता हुआ अन्त में बोद्धा निश्चित परिणाम तक पहुँच जाता है। यथा-

> एतन्मिथः शशिबिम्बं न तदस्ति कथं कलङ्कमङ्केऽस्य ।
> किं वा वदनमिदं तत्कथमियमियती प्रभास्य स्यात् ।।
> किं पुनरिदं भवेदिति सोत्कलाकपलकलदेवाया: ।
> वदनमिदं ते वरतनु विलोक्य क्षीदते पथिका: ।।[2]

इस उदाहरण में उपमान चन्द्र में रहने वाले कलङ्क [सम्भव] के अभाव का तथा उपमेय मुख में असम्भव प्रभा के विद्यमान होने [भाव रूप] का कथन है। इसमें यह चन्द्र है? तो इसमें कलङ्क कैसे नहीं है। क्या यह मुख है? तो इसमें इतनी प्रभा क्यों है? इस प्रकार निश्चय न कर पाते हुए बोद्धा अन्त तक सन्देह में रह जाते हैं, अतः यह निश्चयगर्भ का स्थल है। इसके विपरीत-

> किमयं हरिः कथं तद्गौरः किं वा हरः क्व सोऽस्य वृषः ।
> इति संशय्य भवन्तं नाम्ना निश्चिन्वते लोकाः ।।[3]

इस पद्य में "कथं तद्गौरः" "क्व सोऽस्य वृषः" इस प्रकार संशय करते हुए अन्त में "नाम्ना" वे शिव हैं, यह निश्चय हो जाता है। अतः यह निश्चयान्त सन्देह का स्थल है।

1- उपमेये सदसम्भवि विपरीतं वा तथोपमानेऽपि ।
यत्र स निश्चयगर्भस्ततोऽपरो निश्चयान्तोऽन्यः ।।- वही, 8/61

2- वही, 8/62-63

3- वही, 8/64

इनके अतिरिक्त दो प्रकार के संशय और होते हैं, एक तो वह,जहाँ अनेक अर्थों में कर्तादि कारक का सन्देह होता हो,[1] यथा-

"गम्यमधीतं हंसैस्त्वत्तः सुभगे त्वया नु हंसैन्यः ।"[2]

इस पंक्ति में "अधीतम्" क्रिया का कर्ता हंस है या नायिका है, इस प्रकार का सन्देह उक्त है।

दूसरे प्रकार के संशय में उपमान तथा उपमेय में ऐक्य होने पर एक की तात्त्विकता {यथार्थता} तथा दूसरे की अतात्त्विकता अर्थात् दोनों में से एक के विषय में सन्देह होता है,[3] यथा- किं शशिनः प्रतिबिम्बं वदनं ते किं मुखस्य शशी।।[4] इसमें तुम्हारा मुख चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब है अथवा चन्द्रमा तुम्हारे मुख का प्रतिबिम्ब है, इस प्रकार का संशय हो रहा है।

रूद्रट से पूर्व भामहादि ने इस अलङ्कार की "सन्देह" संज्ञा से विवेचना की है। भामह तथा उद्भट के अनुसार उपमान के साथ उपमेय का अभेद प्रतिपादित करके उपमेय को प्रशंसा के लिए भेद- प्रतिपादन जिन सन्देहपूर्ण वचनों से

1- यत्रानेकार्थैः सन्देहस्त्वेककारकत्वगतः । - का० 8/65 पूर्वार्द्ध

2- वही, 8/66 पूर्वार्द्ध

3- {क} स्यादेकत्वमतो वा सादृश्याद् संशयः सोऽन्यः ।
-वही 65 उत्तरार्द्ध

{ख} यत्रोपमानोपमेययोरैक्ये सम्भाव्यमाने एकस्य तात्त्विकमन्यस्याता-त्त्विकमिति सन्देहः सोऽन्यः । - वही, टीका

4- वही, 8/66 उत्तरार्द्ध

किया जाता है, उसे सन्देह अलङ्कार कहते हैं।[1] वामन ने उपमान तथा उपमेय के संशय को सन्देह अलङ्कार कहा है।[2] किन्तु इन आचार्यों ने उक्त अलङ्कार के भेद प्रभेद नहीं किए हैं, सर्वप्रथम रुद्रट ने ही इस ओर ध्यान दिया है।

इस अलङ्कार का निरूपण करते हुए अधिकांश आचार्यों ने "सन्देह" संज्ञा का प्रयोग किया है।[3] वाग्भटाचार्य ने रुद्रटसम्मत "संशय" संज्ञा को स्वीकार किया है।[4] इन आचार्यों ने शुद्ध, निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त - इन तीन प्रकार के सन्देह

1- {क} उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः ।
   ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा ।।
   - का० 3/43

{ख} उपमानेन......। ससन्देहं........।।
   - का० सा० सं० 6/2

2- उपमानोपमेयसंशयः सन्देहः । - का० सू० वृ० 4/3/11.

3- {क} यस्मिन्नुत्प्रेक्षितं रूपं सन्देहमिति वस्तुनः ।
   उत्प्रेक्षान्तरसद्भावाद् विशिष्टत्वे ......।।- का० जी० 3/41

{ख} ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः । - का०प्र० 10/92 उत्तरार्द्ध

{ग} विषयस्य सन्दिह्यमानत्वे सन्देहः। - अ० स० सूत्र 18

{घ} विषयो विषयी यत्र सादृश्यात् कविसम्मतात् ।
   सन्देह गोचरौ स्यातां सन्देहालङ्कृतिश्च सा ।।- प्र० रु०, पृ०-454.

{ङ} सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ।
   - सा० द० 10/35 उत्तरार्द्ध

{च} प्रकृते तदन्यविषया सादृश्यज्ञानजन्या या ।
   बुद्धिर्निश्चयभिन्ना तामाचख्युः ससन्देहम् ।।- अ०कु० ।।

4- इदमेतदिदं वेति साम्याद् बुद्धिर्हि संशयः । - वा० 4/7 पूर्वार्द्ध

अथवा संशय का उल्लेख किया है,[1] जो रुद्रट के प्रथम तीनसन्देह-भेद के समान है किन्तु अन्तिम दो भेदों का इन आचार्यों ने उल्लेख नहीं किया है। सम्भवतः उक्त तीन भेदों में ही इन्होंने इन दोनों को अन्तर्भूत कर लिया है। मम्मट इत्यादि आचार्यों ने उपमान तथा उपमेय के भेद के कहे जाने अथवा न कहे जाने के आधार पर इसके भेदोक्त तथा अनुक्त भेद- ये दो प्रकार कहे हैं।[2] इन आचार्यों ने भेदोक्त के निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त ये दो भेद किए हैं।[3]

स्पष्ट है कि रुद्रट के भेद- विवेचन से प्रभावित होते हुए इन सभी परवर्ती आचार्यों ने सन्देह [संशय] अलङ्कार के भेद प्रपञ्च का निरूपण किया है तथा साथ ही अपने दृष्टिकोण का भी परिचय दिया है।

समासोक्ति -

इस संज्ञा से स्पष्ट है कि इस अलङ्कार में किन्हीं दो का समस्त रूप में कथन होता है। इसमें सभी समान विशेषणों से युक्त उपमान तथा उपमेय में से एक उपमेय का उपन्यास किया जाता है तथा उपन्यस्त हुआ वह उपमेय अन्य उपमेय की प्रतीति कराता है।[4] यथा-

---

1- [क] स च त्रिविधः। शुद्धो निश्चयगर्भो निश्चयान्तश्च ।- अ०स०। वृत्तिभाग

[ख] सा त्रिविधा । शुद्धा, निश्चयगर्भा निश्चयान्ता चेति।

- प्र० रु०, पृ- 454

[ग] शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा। - सा०द०10/36पूर्वार्द्ध

2- [क] का०प्र० 10/92 उत्तरार्द्ध

[ख] उक्ते विशेषणे प्रकृतस्य भेदेऽनुक्ते च । - च०प्र० 12 पूर्वार्द्ध

3- [क] भेदोक्तिविकल्पेन न केवलमयं निश्चयगर्भो यावन्निश्चयान्तोऽपि सन्देहः स्वीकृतः । - का० प्र० 10/ पृ- 409

[ख] विशेषणोक्तावपि निश्चयान्तनिश्चयगर्भताभिदा द्वैविध्यम् ।

- च० प्र०, पृ-13 वृत्तिभाग

4- तत्परसमानविशेषणमेकं यत्राभिधीयमानं सत् ।

उपमानमेव गमयेदुपमेयं सा समासोक्तिः ॥- का० 8/67.

फलमविकलमलकीयाँ लघुपरिणति जायतेऽलं सुखादु ।
प्रोणितसकलप्रमयिप्रागलस्य लघुन्नतेः सुलटोः ।।[1]

यहाँ समान विशेषणों वाले तरु द्वारा सज्जन {अप्रस्तुत} अर्थ गम्य है।

भामह इत्यादि पूर्ववर्तियों ने भी उक्त के माध्यम से अनुक्त की प्रतीति को समासोक्ति कहा है, साथ ही इसमें अत्यधिक अर्थ को संक्षेप में कहा जाता है, इसीलिए इसे समासोक्ति कहते हैं - यह कहते हुए उक्त संज्ञा की अन्वर्थता भी स्पष्ट की है।[2]

प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने भी इस अलङ्कार का लक्षण इसी रूप में किया है।[3] इन सभी आचार्यों के लक्षणों से स्पष्ट है कि प्रायः इनमें से सभी ने इस अलङ्कार से सम्बन्धित अर्थों के लिए "प्रस्तुत" तथा "अप्रस्तुत" पदों का प्रयोग किया है। वामन

1- वही, 3/68
2- {क} यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः ।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा ।। - का० 2/79
{ख} वस्तु किञ्चिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः ।
उक्तिः संक्षिप्तरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते ।।- का०द० 2/205.
{ग} अनुक्तौ समासोक्तिः ।।
उपमेयस्य अनुक्तौ समानवस्तुन्यासः समासोक्तिः ।
संक्षिप्तवचनात् समासोक्तिरित्याख्या ।। - का०सू०, वृ०-4/3/3
{घ} प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः ।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता ।। - का० सा० सं० 2/11.
3- {क} परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः । - का०प्र० 10/97
{ख} विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः।- अ०स० सूत्र 32.
{ग} समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेद् । - च०5/62पूर्वार्द्ध
{घ} विशेषणानां साम्येन यत्र प्रस्तुतवर्तिनाम् ।
अप्रस्तुतस्य गम्यत्वं सा समासोक्तिरिष्यते।।- प्र० र०, पृ०- 486.

तथा रुद्रट दो रहे हैं, जिन्होंने इनके लिए "उपमान" तथा "उपमेय" पदों को चुना है।

साहित्यदर्पणकार ने विशेषण के साथ लिङ्ग तथा कार्य को भी अभिव्यक्त करते हुए कार्य, लिङ्ग तथा विशेषणों के द्वारा प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार के आरोप को समासोक्ति कहा है।[1] पण्डितराज ने समासोक्ति के लक्षण को कुछ शब्दान्तर के साथ प्रस्तुत किया है।[2]

स्पष्ट है कि सभी की दृष्टि में उक्त अलङ्कार का एक या दो रूप है। परवर्तियों ने इसके अनेक भेद-प्रभेद भी किए हैं, जिनका विवेचन यहाँ अप्रासङ्गिक होगा ।

__मत-__

जो अलङ्कार रुद्रट के ही ग्रन्थ में मिलते हैं, पूर्ववर्ती तथा परवर्ती ग्रन्थों में नहीं, उनमें से मत भी एक अलङ्कार है। स्पष्ट है कि रुद्रट ने ही सर्वप्रथम इस नाम से किसी अलङ्कार का उल्लेख किया। उनके अनुसार उक्त अलङ्कार के स्थल में वक्ता अन्य के मत में सिद्ध उपमेय का कथन करके अपने मतानुसार उस उपमेय के धर्मों से युक्त उपमान का कथन करता है।[3] "मत" का प्राधान्य होने के कारण ही सम्भवतः इस अलङ्कार का नाम रुद्रट ने मत रखा। उदाहरण रूप -

---

1- समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ।
   व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥
                                   - सा० द० 10/56

2- यत्र प्रस्तुतधर्मिको व्यवहारः साधारणविशेषणमात्रोपस्थापिता-
   प्रस्तुतधर्मिक व्यवहाराभेदेन भासते सा समासोक्तिः ॥ -र० गं० 2/पृ०-215.

3- तन्मतमिति यत्रोक्त्वा वक्तान्यमतेन सिद्धमुपमेयम् ।
   ब्रूयादथोपमानं तथा विशिष्टं स्वमतसिद्धम् ॥ - का० 8/69.

मदिरामदभरपाटलमलिकुलनीलालकालिधम्मिल्लम् ।
तन्व्या मुखमिति यदिदं कथयति लोकः समस्तोऽयम् ॥
मन्येऽवगणिन्दुरेष स्फुटमुदयेऽरुणरुचिः स्थितः पश्चात् ।
उदयगिरौ छद्मपरैर्निशातमोभिर्गृहीत इव ॥[1]

इस पद्य में लोकमत के अनुसार उपमेय रूप में मुख का वर्णन करके स्वमत में चन्द्रमा उपमान का कथन किया गया है। इसमें उपमान उपमेय मुख के विशेषणों से ही युक्त बताया गया है अर्थात् दोनों के विशेषण समान हैं ।

अन्योक्ति -

रुद्रट की अन्योक्ति में उक्त उपमान से उसके समान इतिवृत्त वाला उपमेय गम्य होता है किन्तु इसके विशेषण उक्त उपमान से असमान होते हैं।[2] इनके इस लक्षण में "इतिवृत्त" पद कुछ अस्पष्ट है। नमिसाधु ने इसका अर्थ- "समान अर्थशरीर" किया है।[3] लक्षण में आए हुए "अपि" पद से सम्भवतः यह सूचित होता है कि उपमेय का उपमान से कुछ विशेषणों से साम्य होने पर भी कहीं- कहीं अन्योक्ति होता है।[4]

1- तन्मतमिति यत्रोक्त्वा वक्तान्यमतेन सिद्धमुपमेयम् ।
ब्रूयादथोपमानं तथा विशिष्टं स्वमतसिद्धम् ॥- का० 8/69

2- वही, 8/70-71.

2- असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम् ।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साऽन्योक्तिः ॥- का० 8/74

3- समानं सदृशम् इतिवृत्तम् अर्थशरीरं यस्य तत्तथोक्तम् ।
-- वही, टीका ।

4- अपिशब्दात् क्वचित् समानविशेषणत्वेऽपि क्वापि भवतीति
सूच्यत इति । - वही, टीका

अन्योक्ति के इस उदाहरण में "हंस" उपमान के द्वारा सज्जन उपमेय रूप अर्थ गम्य है। "सबी उर्वरा" विशेषण उपमान- उपमेय में समान है। हंस का सरोवर छोड़कर पल्वल की कामना करना तथा सज्जनों का उत्तम आश्रय को छोड़कर दुष्टों के आश्रय की इच्छा करना समान व्यवहार है। इस उदाहरण से यह प्रतीत होता है कि इतिवृत्त में आचार्य का व्यवहारादि में तात्पर्य है।

रुद्रट की इस अन्योक्ति का स्वरूप परवर्ती आचार्यों के सादृश्य (सारूप्य)- मूलक अप्रस्तुत प्रशंसा में स्पष्ट लक्षित होता है। काव्यप्रकाशकार के अनुसार जो अप्रस्तुत वस्तु का वर्णन प्रस्तुत वस्तु की प्रतीति का निमित्त होता है, वही अप्रस्तुत- प्रशंसा अलङ्कार है।[1] यह अप्रस्तुतप्रशंसा पाँच प्रकार की होती है। इनमें से "तुल्य वस्तु के प्रस्तुत रहने पर उसके समान अप्रस्तुत का कथन" - यह अप्रस्तुतप्रशंसा का पाँचवा भेद है। इसके भी श्लेषमूलक, समासोक्तिमूलक तथा सादृश्यमूलक ये तीन प्रकार होते हैं।[2] इनमें से सादृश्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण मम्मट ने इस प्रकार दिया है -

आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किन्तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन ।
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च
पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च ।।[3]

1- अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ।
- का०प्र० 10/98 उत्तरार्द्ध

2- कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ।।
तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः। श्लेषः, समासोक्तिः, सादृश्यमात्रं वा तुल्यात्तुल्यस्य हि आक्षेपे हेतुः । - वही, 10/99एवं वृत्तिभाग

3- वही, 10/99 एवं वृत्तिभाग ।

यहाँ दुष्ट व्यक्ति प्रस्तुत है तथा तत्तुल्य अर्थात् उसके समान सागर अप्रस्तुत है जो रुद्रट के समान इतिवृत्त से पूर्ण साम्य रखता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि अप्रस्तुतप्रशंसा का यह प्रकार रुद्रट की उक्त अन्योक्ति का ही नामान्तर मात्र है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने भी सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा का प्रतिपादन किया है।[1]

पूर्ववर्तियों में भामह, वामन तथा उद्भट ने अन्योक्ति नाम से किसी अलङ्कार का विवेचन नहीं किया है किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा का विवेचन किया है। इसका स्वरूप इस प्रकार है - अप्रासङ्गिक अर्थ की ऐसी स्तुति, जो प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध रखती हो, अप्रस्तुतप्रशंसा कहलाता है।[2] रुद्रट की अन्योक्ति पूर्ववर्तियों के इस अलङ्कार से प्रभावित तो अवश्य हुई है तथापि यह सर्वथा मौलिक स्वरूप रखती है। जिससे परवर्तियों के सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार का स्वरूप निर्धारित हुआ।

प्रतीप -

यह भी रुद्रट की मौलिक उद्भावना है। उक्त अलङ्कार में उपमान की तुलना में उपमेय की अत्यधिक प्रशंसा करने के बद विकृत उपमेय या तो उपकृत होता है या निन्दित होता है। उपमेय की या उपकृति अथवा निन्दा इसलिए कही जाती है क्योंकि इसमें इसके विकार [विकृति, दुरवस्था] का कथन होता

1- अप्रस्तुतात् .... सारू प्ये च प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसा ।
- अ० स० सूत्र- 35

2- [क] का० 3/29
[ख] का०द० 2/ 340
[ग] का०सू०वृ० 4/3/4
[घ] का०सा०सं०, पृ०- 380.

है।[1] प्रतीप का अर्थ है प्रतिकूल। इस अर्थ को देखते हुए सम्भवतः आचार्य ने इसको उक्त संज्ञा इसलिए दी है क्योंकि उपमेय वस्तुतः उपमान की अपेक्षा उत्कृष्ट अथवा सम्पन्न होता है, किन्तु इस अलङ्कार में इसके विपरीत उपमेय निन्दित अथवा उपकृत रूप में वर्णित होता है। यथा-

> वदनमिदं समभिन्दो सुन्दरमपि ते कथं चिरं न भवेत् ।[2]
> मलिनयति यत्कपोलौ लोचनसलिलं हि कज्जलवत् ॥

अर्थात् कज्जलमिश्रित नेत्रवारि जो तुम्हारे दोनों कपोलों को मलिन बना रहे हैं, भला इससे वह तुम्हारा मुख सुन्दर होने पर भी उदित चन्द्रमा के समान क्यों नहीं होगा ।

उपर्युक्त उदाहरण में कज्जलपूर्ण अश्रु से मलिन कपोल-यह मुख का विकार है, इस प्रकार के मुख को चन्द्र की अपेक्षा उसकी अतिशयता (उत्कर्ष) प्रदर्शित करने के लिए उपकृत किया गया है। इसी प्रकार -

> गर्वभरमन्थराक्षिमिदं लोचनयुगलेन वहसि किं भद्रे ।[3]
> सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि ॥

अर्थात् भद्रे ! इस प्रकार अभिमान को अपने दोनों नेत्रों में क्यों ढो रही हो, इस प्रकार के तो तालाबों में प्रत्येक दिशा में नीलकमल है।

इस उदाहरण में लोचन का गर्वयुक्त होना- विकार है, इन विकार युक्त नेत्रों का नीलकमलों की तुलना में उत्कर्ष प्रदर्शित करने के लिए की गयी है। सूक्ष्म रूप से यदि देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों उदाहरणों में

1- यत्रानुकम्पयते सम्यगुपमाने निन्द्यते वापि ।
उपमेयमतिस्तोतुं दुरवस्थमिति प्रतीपं स्यात् ॥
- का० 8/76.

2- वही, 8/77

3- वही, 8/78

से प्रथम में उपमेय की अपेक्षा उपमान की निन्दा (तिरस्कार) की प्रतिपादित है तथा द्वितीय में प्रसिद्ध उपमेय को उपमान रूप में उपन्यस्त किया गया है।

मम्मट, रुय्यक इत्यादि परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने उपमान की निन्दा अथवा निषेध तथा उपमान की उपमेयरूपता में ही प्रतीप अलङ्कार स्वीकार किया है।[1] इस प्रकार रुद्रटसम्मत लक्षण का ही प्रकारान्तर से तथा अपेक्षाकृत सरल भाषा में अतएव अधिक स्पष्ट रूप में प्रतिपादन किया गया है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने इसके द्वितीय उदाहरण को भी उपन्यस्त किया है।[2]

पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में प्रतीप न स्वीकार करते हुए उपमा-प्रभेदों में ही इसके अन्तर्भाव का प्रतिपादन किया है।[3]

स्पष्ट है कि पण्डितराज को छोड़कर प्रायः सभी आचार्यों ने इस अलङ्कार को मान्यता प्रदान की है।

1- (क) आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥
- का० प्र० 10/133

(ख) उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पनं वा प्रतीपम् ।
- अ० स० सूत्र 70

(ग) आक्षेप उपमानस्य कैमर्थ्येन कथ्यते ।
यद्वोपमेयभावः स्यात् तत्प्रतीपमुदाहृतम् ॥
- प्र० रु०, पृ० 542.

(घ) प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥
- सा० द० 10/87

(ङ) उपमानानर्थक्यं प्रतीपमस्योपमेयत्वम् । - अ०सू० 49 पूर्वार्द्ध

(च) उपमानस्य धिक्कार उपमेयस्तुतौ यदि ।
प्रतीपमुपमानस्य तिरस्कृत्यै चोपमेयता ॥- अ०कौ० 8/310.

2- अ० स०, पृ० 616.

3- र० गं० 2/ पृ० 676- 686

अर्थान्तरन्यास -

"अर्थान्तरन्यास" इस संज्ञा से ही स्पष्ट है कि इसमें अन्य अर्थ का उपन्यास किया जाता है।

इसमें सामान्य अथवा विशेष अर्थ वाले धर्मों को उपन्यस्त करके उसकी सिद्धि के लिए अन्य समान धर्म वाले सामान्य अथवा विशेष अर्थ का कथन किया जाता है।[1] यथा-

तुङ्गानामपि मेघाः शैलानामुपरि विदधते छायाम् ।
उपकर्तुं हि समर्था भवन्ति महतां महीयांसः ।।
सकलमिदं सुखदुःखं भवति यथावासनं तथाहीह ।
रम्यन्तितरां तरुणीनैकवतादीनि रतिकलहे ।।[2]

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में दोनों दोनों अर्थ समान अर्थ वाले हैं, इनमें से प्रथम पद्य में विशेष अर्थ का सामान्य अर्थ से समर्थन किया गया है तथा द्वितीय में उसके विपरीत अर्थात् सामान्य का विशेष से। इस प्रकार ये साधर्म्य से होने वाले अर्थान्तरन्यास के स्थल हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य ने दो अन्य उदाहरण भी दिए हैं जिनमें वैधर्म्य द्वारा सामान्य अथवा विशेष का उपन्यास किया गया है। जो निम्नलिखित हैं -

---

1- धर्मिणमर्थविशेषं सामान्यं वाभिधाय तत्सिद्ध्यै ।
यत्र सधर्मिकमितरं न्यस्येत्सोऽर्थान्तरन्यासः ।। - 79
पूर्ववदभिधायैकं विशेषसामान्ययोर्द्वितीयं तु ।
तत्सिद्ध्येऽभिदध्याद् विपरीतं यत्र सोऽन्योऽयम् ।।
- का० 8/82

2- वही, 8/80-81।

अभिसारिकाभिरभिहतनिबिडतमा निन्द्यते सितांशुरपि ।
अनुकूलतया हि नृणां सकलं स्फुटमभिमतीभवति ।।
दुव्येन निर्वृतानां भवति नृणां सर्वमेव निर्वृतये ।
इन्दुरपि तथाहि मनः खेदयतितरां प्रिया विरहे ।।[1]

इनमें से क्रमशः प्रथम में विशेष का सामान्य से तथा द्वितीय में सामान्य का विशेष से समर्थन किया गया है। प्रथम उदाहरण में "निन्दा की जाती है" इस अर्थ का "अभीष्ट होना" इस वैधर्म्य से समर्थन किया गया है। तथा द्वितीय में "सुखद होना" इस अर्थ का "खेद होना" इस वैधर्म्य से समर्थन किया गया है। इन्होंने साधर्म्य, वैधर्म्य तथा सामान्य- विशेष - इनको दृष्टि में रखते हुए अर्थान्तरन्यास के चार भेद किए हैं।

यह तो था रुद्रटकृत विवेचन । इनसे पूर्व भामह, वामन तथा उद्भट इस अलङ्कार का विवेचन कर चुके थे ।

सर्वप्रथम भामह ने इसका लक्षण किया है। उनके अनुसार किसी एक अर्थ के कथन के पश्चात् उसी के समान अन्य अर्थ का उपन्यास अर्थान्तरन्यास कहलाता है।[2] दण्डी ने "किसी वस्तु को प्रस्तुत करके उसके उपपादन में समर्थ अन्य वस्तु के न्यास को अर्थान्तरन्यास कहा है।[3] वामन के अनुसार कथित अर्थ की सिद्धि के लिए अर्थान्तर के न्यास को अर्थान्तरन्यास कहते हैं।[4] उद्भट ने इसी तथ्य को कुछ

1- वही, 8/83- 84

2- उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते ।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ।।
- का0 2/71.

3- ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन ।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः ।।
- का0 द0 2/169

4- उक्तसिद्धयै वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसनम् अर्थान्तरन्यासः ।
- का0 सू0,वृ0 4/3/21.

भिन्न रूप में प्रतिपादित किया है,[1] जो इस प्रकार है - समर्थक वाक्य का पूर्व में कथन हो तथा अन्य अर्थात् समर्थनीय {जिसका समर्थन किया जाए} का कथन पश्चात् में हो अथवा इसके विपरीत समर्थनीय का पूर्व में तथा समर्थक का पश्चात् में हो उसे अर्थान्तरन्यास कहते हैं।

पूर्ववर्तियों द्वारा बताए गए इन लक्षणों से अर्थान्तरन्यास का दृष्टान्त से भेद नहीं हो पाता क्योंकि इन दोनों ही अलङ्कारों में दो वाक्य होते हैं, जिनमें से एक समर्थनीय होता है तथा एक उसका समर्थक होता है। अतः एक प्रकार से विचार किया जाए तो अर्थान्तरन्यास के उपर्युक्त लक्षणों में अतिव्याप्ति दोष है।

इन दोनों अलङ्कारों में मूल रूप से अन्तर यही है कि अर्थान्तरन्यास में सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाता है जबकि दृष्टान्त में सामान्य का सामान्य से अथवा विशेष का विशेष से ही समर्थन किया जाता है। {सामान्य से सामान्य के समर्थन को रुद्रट ने "उभयन्यास" संज्ञा देकर दृष्टान्त से पृथक् रूप में विवेचित किया है} इस प्रकार स्पष्ट है कि सर्वप्रथम रुद्रट ने ही अर्थान्तरन्यास तथा दृष्टान्त एवं उभयन्यास के पार्थक्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया तथा अर्थान्तरन्यास के अन्तर्गत साधर्म्य- वैधर्म्य तथा सामान्य-विशेष इन तत्वों का समावेश किया।

1- समर्थकस्य पूर्वं यद् वचोऽन्यस्य च पृष्ठतः।
विपर्ययेण वा यत्स्याद् हि शब्दोक्त्याऽन्यथाऽपि वा ।।
- का० सा० सं० 4/27.

अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने भी रुद्रट का अनुसरण करते हुए अर्थान्तरन्यास को इस साधर्म्य तथा वैधर्म्य एवं सामान्य - विशेष के साथ ही उपन्यस्त किया है।[1]

रुय्यक तथा विश्वनाथ कविराज ने सामान्य तथा विशेष के साथ कार्य के कारण से समर्थन तथा कारण से कार्य के समर्थन को भी उक्त अलङ्कार में स्थान दिया है।[2] इस प्रकार जहाँ अन्य आचार्यों ने रुद्रट का अनुसरण करते हुए इसके केवल चार प्रकार स्वीकार किए हैं, वहीं ये दोनों आचार्य आठ प्रकार के अर्थान्तरन्यास को प्रतिपादित करते हैं।[3]

1- [क] सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ।।
- का० प्र० 10/109

[ख] उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात् सामान्य विशेषयोः ।
- कु० 122 पूर्वार्द्ध

[ग] सामान्येन विशेषस्य विशेषेण सामान्यस्य वा यत्समर्थनं तदर्थान्तरन्यासः।
तच्च तावत्साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्विविधम् । - र०गं० 2/पृ०- 576-77

[घ] यदि सामान्यविशेषौ समर्थ्येते विशेष सामान्ये ।
साधर्म्याद् वैधर्म्यादपि वा सोऽर्थान्तरन्यासः ।।
- अ० मु० 28

[ङ] यस्मिन् विशेषः सामान्यं समर्थ्यते परेण यत् ।
साधर्म्याद्य वैधर्म्याद् न्यासोऽर्थान्तरस्य हि।।
- अ० कौ० 274

2-[क] सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः ।
- अ० स० सूत्र 36

[ख] सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ।।- सा० द० 10/61

3- [क] तत्र भेदचतुष्टये प्रत्येकं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां भेदद्वयेऽष्टौ भेदाः ।
- अ० स० सूत्र 36 वृत्तिभाग

[ख] साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ।
- सा० द० 10/62 पूर्वार्द्ध

उभयन्यास -

रुद्रट के अनुसार उपमा के स्वरूप से भिन्न, जहाँ दो सामान्य अर्थ निर्दिष्ट हों,[1] वहाँ उभयन्यास अलङ्कार होता है। यथा-

> सकलजगत्साधारणविभवा भुवि साधवोऽधुना विरलाः ।
> सन्ति कियन्तस्तरवः सुस्वादुसुगन्धिचारुफलाः ॥[2]

इस उदाहरण में सज्जन तथा वृक्ष- इन दो सामान्य अर्थों का कथन है, साधारण धर्मादि का कथन न होने से उपमा से भिन्न भी है, अतः यह उभयन्यास का स्थल है। स्पष्ट है कि इसमें सामान्य का सामान्य से समर्थन किया गया है।

इस अलङ्कार का अन्य किसी आचार्य ने विवेचन नहीं किया है। भोजराज ने इसे अर्थान्तरन्यास ही कहा है।[3] किन्तु यह धारणा उचित नहीं है।

वास्तव में रुद्रट के इस उभयन्यास का परवर्तियों के दृष्टान्त में ही अन्तर्भाव हो जाता है, जिसकी "दृष्टान्त" में समीक्षा की जायेगी ।

1- सामान्यावपरौ स्फुटमुपमायाः स्वरूपतोऽपेतौ ।
निर्दिश्येते यस्मिन्नुभयन्यासः स विज्ञेयः ॥

- का० 8/ 85

2- वही, 8/86

3- प्रोक्तो यस्तूभयन्यासो अर्थान्तरन्यास एव सः ।

- स० कं० भ० 4/69

भ्रान्तिमान -

भ्रान्तिमान भी औपम्यमूलक है अतः इसमें भी उपमानोपमेयभाव रहता है। जहाँ बोद्धा के उपमेय रूप अर्थविशेष को देखकर उसके समान अन्य अर्थ को [उपमान] की शङ्कारहित [निश्चित] प्रतीति होती है उसे भ्रान्तिमान कहते हैं।[1] यथा-

> पालयति त्वयि वसुधां विविधाध्वरधूममालिनी ककुभः ।
> पश्यन्तो दूयन्ते घनलक्ष्याशङ्कया हंसाः ।।[2]

इस पद्य में हंस रूप बोद्धा धूमयुक्त दिशाओं [उपमेय] को देखकर तत्सदृश वर्षाकाल [उपमान] का शङ्कारहित ज्ञान करके पीड़ित हो रहे हैं। स्पष्ट है कि इस अलङ्कार के स्थल में बोद्धा की शङ्कारहित प्रतीति के कारण उसी के अनुसार क्रिया का भी वर्णन रहता है।

रुद्रट से पूर्व किसी आचार्य ने इसका उल्लेख नहीं किया था। हाँ दण्डी की मोहोपमा इस रूप की है।[3] किन्तु परवर्तियों में अधिकांश ने इसे निरूपित किया है।[4] स्पष्ट है कि इस अलङ्कार का रुद्रट ने ही सर्वप्रथम विवेचन किया है।

1- अर्थविशेषं पश्यन्नवगच्छेदन्यमेव तत्सदृशम् ।
निःसन्देहं यस्मिन्प्रतिपत्ता भ्रान्तिमान् स इति ।।
- का० 8/87

2- वही, 8/88

3- शशी त्वदुत्प्रेक्ष्य तन्वङ्गि त्वन्मुखं त्वन्मुखाशया ।
इन्दुमप्यनुधावामीत्येषा मोहोपमा स्मृता ।। - का०द०2/25

4- [क] भ्रान्तिमानन्यसंवित् तत् तुल्यदर्शने । - का०प्र० 10/135 उत्तरार्द्ध

[ख] सादृश्याद् वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान्। - अ० स० सूत्र 19

[ग] कविसम्मतसादृश्याद् विषये पिहितात्मनि ।
आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान् मतः ।।
- प्र० रु०, पृ- 456

[घ] साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः ।।
- सा० द० 10/36 उत्तरार्द्ध

आक्षेप -

रुद्रट के अनुसार "वस्तु प्रसिद्ध है" अथवा "वस्तु विरुद्ध है"- इस कारण से उसके वचन को रोककर [आक्षिप्य] उसकी प्रसिद्धि अथवा विरुद्धता की सिद्धि के लिए अन्य किसी पदार्थ का कथन आक्षेप है।[1] यथा-

> जनयति सन्तापमसौ चन्द्रकला कोमलापि मे चित्रम् ।
> अथवा किमत्र चित्रं दहति हिमानी हि भूमिरुहः ।।[2]

उपर्युक्त उदाहरण में विरह में चन्द्रकला का शीतल होते हुए भी सन्ताप देना प्रसिद्ध है, अतः उसके कथन का आक्षेप करके उसकी प्रसिद्धि सिद्ध करने के लिए अन्य वाक्यार्थ "अथवा इसमें आश्चर्य क्या है, पाला पेड़ों को जला देता है" का कथन किया गया है। इसी प्रकार विरुद्ध वस्तु के उदाहरण रूप-

> तव गणयामि गुणानहमलमथवालमप्रलापिनीं धिङ्माम् ।
> कः खलु कुम्भैर्मातुमलं जलनिधेरखिलम् ।।[3]

इस पद्य में गुणों की गणना विरुद्ध है, इसी विरुद्धता को सिद्ध करने के लिए गुणों की गणना रूप वाक्य का आक्षेप करके "कौन भला सागर के समस्त जल को घड़ों से नाप सकता है" इस वाक्य का उपादान किया गया है।

इनसे पूर्व भामह, दण्डी, वामन तथा उद्भट- सभी आचार्यों ने इस अलङ्कार का निरूपण किया था। भामह तथा उद्भट ने कुछ विशेष कहने की इच्छा से

1- वस्तु प्रसिद्धमिति यद्विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य ।
   अन्यत्तथात्व सिद्ध्यै यत्र ब्रूयात् स आक्षेपः ।। - का0 8/89

2- वही, 8/90

3- वही, 8/91।

विवक्षित वक्तव्य के निषेध जैसे कथन को आक्षेप कहा है।[1] [वस्तुतः उसका निषेध होता नहीं केवल प्रतीति मात्र होती है]। भामह ने वक्ष्यमाण विषय तथा उक्त विषय की दृष्टि से उसके दो भेद किए हैं।[2] प्रतीहारेन्दुराज ने वक्ष्यमाण विषय तथा उक्त विषय को इस प्रकार स्पष्ट किया है -

"उक्तविषय आक्षेप" में विवक्षितार्थ शब्द होता है तथा वक्ष्यमाण में विवक्षितार्थ आर्थ होता है; क्योंकि उसमें विवक्षितार्थ की प्रतीति अन्य शब्द के व्यापार की सहायता से निषेध द्वारा होती है।[3] किन्तु रुद्रट ने इस प्रकार का भेद विभाजन नहीं किया है।

दण्डी ने प्रतिषेध [निषेध] रूप उक्ति को आक्षेप कहा है[4] तथा वामन ने उपमान के प्रतिषेध [आक्षेप] को आक्षेप कहा है।[5]

1- प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति ....।।-
- का० 2/68 तथा का० सा० सं० 2/2

2- वक्ष्यमाणोक्तविषयस्तत्राक्षेपो द्विधा मतः ।
- का० 2/67 पूर्वार्द्ध

3- शब्देन स्पृश्यते वस्तुमिष्टं उक्तविषये आक्षेपे। वक्ष्यमाणविषये तु विवक्षितस्यार्थता, शब्दान्तरव्यापारसहायनिषेधमुखेन तस्योपस्थाप्यमानत्वात् ।
- का० सा० सं० पृ०-318 लघुवृत्ति टीका

4- प्रतिषेधोक्तिराक्षेपः ....। - का० द० 2/120 पूर्वार्द्ध

5- उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः । - का० सू० वृ० 4/3/27

परवर्तियों में मम्मट, रुय्यक, विद्यानाथ, विश्वनाथ कविराज इत्यादि प्रमुख आचार्यों ने भामह का[1] पूर्णरूपेण अनुसरण करते हुए आक्षेप का वैसा ही लक्षण तथा वही दो भेद किए हैं।

स्पष्ट है कि अधिकांश आचार्यों ने केवल निषेधाभास को ही आक्षेप रूप में स्वीकार किया है किन्तु रुद्रट के मत में निषेधाभास के साथ ही उसकी पुष्टि के लिए उसके समान अन्य पदार्थ का उपन्यास भी होना चाहिए। अतः इनका विवेचन भामहादि पूर्ववर्तियों की विशेषता लिए हुए भी मौलिक है।

<u>प्रत्यनीक -</u>

जहाँ उपमेय को उत्तम बताने के लिए (उपमान द्वारा) उस उपमेय को जीतने की इच्छा के कारण उस उपमान का उसके (उपमेय के) विरोधी रूप में न्यास किया जाय, उसे प्रत्यनीक कहते हैं।[2] इस अलङ्कार का विवेचन रुद्रट ने औपम्यवर्ग के अन्तर्गत किया है। यह शङ्का हो सकती है कि दो विरुद्ध अर्थों में औपम्य कैसे हो सकता है, इसका समाधान करते हुए नमिसाधु कहते हैं कि यह विरोध वचनमात्र से होता है, तत्त्वतः नहीं।[3]

1- (क) निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥ - का०प्र० 10/106-107

(ख) वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये ।
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तयोर्द्विधा ॥ - सा०द० 10/64-65

(ग) उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः ।
- अ० स० सूत्र 39

(घ) विशेषबोधायोक्तस्य वक्ष्यमाणस्य वा भवेत् ।
निषेधाभासकथनमाक्षेपः स उदाहृतः ॥ - प्र० रु० पृ०-532.

2- वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं जिगीषया यत्र ।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्प्येत प्रत्यनीकं तत् - का० 8/92.

3- ननु विरुद्धयोः कथमौपम्यमित्याह - उक्त्या वचनमात्रेण विरोधः न तत्त्वतः । - वही, टीका

यदि तव तया जिगीषोस्तद्वदनमहारि कान्तिसर्वस्वम् ।
मम तत्र किमापतितं तपसि सितांशो यदेवं माम् ।।[1]

हे चन्द्र! विजय चाहने वाले तुम्हारे कान्ति के सर्वस्वरूप मुख को उसने चुरा लिया है तो इसमें मैंने क्या बिगाड़ा है जो मुझे इस प्रकार सन्ताप दे रहे हो।

इस पद्य में चन्द्र उपमान है तथा मुख उपमेय है। मुख को उत्तम प्रतिपादित करने के लिए प्रति विजयेच्छु चन्द्र को उसका विरोधी प्रतिपादित किया गया है, अतः प्रत्यनीक अलङ्कार है। मुख तथा चन्द्र में शब्दतः विरोध का प्रतिपादन किया गया है किन्तु तत्त्वतः दोनों में साम्य है।

सर्वप्रथम रुद्रट ने ही इस अलङ्कार का विवेचन किया। परवर्ती काव्यशास्त्र में मम्मट, रुय्यक, विद्याधर, कविराज, पण्डितराज जैसे मूर्धन्य आचार्यों ने इसका विवेचन किया है। इन सभी आचार्यों के लक्षणों[2] को देखने से स्पष्ट है कि इन्होंने रुद्रट की मान्यता को प्रकारान्तर से स्वीकार किया है।

1- वही, 8/93

2- {क} प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया ।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते।।
- का० प्र० 10/129

{ख} प्रतिपक्षतिरस्काराशक्तौ तदीयस्य तिरस्कारः प्रत्यनीकम् ।
- अ० स० - 61

{ग} बलिनः प्रतिपक्षस्य प्रतीकारे सुदुष्करे ।
यस्तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीकं तदुच्यते।।- प्र० रु० पृ०-563

{घ} प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि ।
तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः ।। - सा०द० 10/86

{ङ} प्रतिपक्षसम्बन्धिनः तिरस्कृतिः प्रत्यनीकम् ।
- र० गं० 2/पृ०- 670

दृष्टान्त-

रुद्रट ने दृष्टान्त का लक्षण इस प्रकार किया है- विवक्षित अथवा अविवक्षित अर्थों में से पहले एक अर्थविशेष का जिस प्रकार न्यास हो उसी प्रकार दूसरे अर्थ के न्यास को दृष्टान्त कहते हैं।[1] "यादृङ्न्यास" से आचार्य का तात्पर्य यह है कि जिस साधारण धर्म से युक्त एक अर्थ हो दूसरा भी उसी से युक्त हो।[2] अर्थ के साथ "विशेष" पद का इसलिए प्रयोग किया गया है क्योंकि इस अलङ्कार में दोनों ही विशेष रूप होते हैं, अर्थान्तरन्यास के समान एक सामान्य एक विशेष नहीं है।[3] किसी अर्थविशेष के पूर्वकथन से स्पष्ट है कि कभी विवक्षितार्थ का पूर्वकथन होता है तथा कभी अविवक्षितार्थ का। यथा-

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम् ।
आलोके हि शीतांशोर्विकसति कुमुदं कुमुद्वत्याः ॥[4]

1- अर्थविशेषः पूर्वं यादृङ्न्यस्तो विवक्षितेतरयोः ।
तादृशमन्यं न्यस्येद् यत्र पुनः सोऽत्र दृष्टान्तः ॥- का० 7/94

2- विवक्षितेतरयोः प्रस्तुताप्रस्तुतयोरर्थविशेषयोर्मध्याद् यादृशो येन धर्मेण युक्तोऽर्थविशेषः पूर्वमादौ न्यस्तो भवेद् तादृशं तद्धर्मयुक्तमेव पुनस्तमर्थविशेषमन्यं यत्र वक्ता न्यस्येत्स दृष्टान्तो नामालङ्कारः ।
– वही, नमिसाधुकृत टीका

3- विशेषग्रहणमर्थान्तरन्यासादस्य भेदख्यापनार्थं । तत्र हि सामान्यविशेषयोर्मध्यादेकमुपमानमन्यदुपमेयम् । इह तु द्वयमपि विशेषरूपमिति । – वही

4- वही, 8/95

इस पद्य में नायिका सम्बन्धी विवक्षितार्थ का पूर्वकथन है। इन दोनों अर्थों में नायिका तथा कुमुद्वती, मन तथा पुष्प, नायकदर्शन तथा चन्द्रप्रकाश एवं कान्ति तथा विकास में पूर्ण साम्य है अर्थात् जिस प्रकार प्रथम अर्थ का न्यास है उसी प्रकार द्वितीय अर्थ का भी। अतः यह दृष्टान्त का उदाहरण है। इसी प्रकार-

> लोध्रं लोलितलतालयविकम्पवातोऽपि शङ्‌कु मोक्ष्यति ।
>
> तापयतितरां तस्या हृदयं त्वद् गमनवार्ताऽपि ।।[1]

इस पद्य में विकम्पवायु तथा नायक गमन रूप अर्थों का एक समान कथन है, इसमें अविवक्षितार्थ का पहले कथन है तथा विवक्षितार्थ का पश्चात् में।

रुद्रट से पूर्व उद्भट ने इस अलङ्कार का विवेचन किया था उन्होंने इष्ट अर्थ के बिम्ब रूप अर्थात् ठीक उसी जैसे अर्थ के निदर्शन को दृष्टान्त कहा है, इसमें यथा, इवादि का प्रयोग नहीं होता।[2] स्पष्ट है कि रुद्रट ने उद्भट से प्रभावित होकर इस अलङ्कार का विवेचन किया है, किन्तु विवक्षित तथा अविवक्षितार्थ का पूर्व अथवा पश्चात् में उपन्यास रुद्रट की अपनी विचारधारा है। इनके अर्थान्तरन्यास तथा दृष्टान्त में यही अन्तर है कि अर्थान्तरन्यास में सामान्य का सामान्य से समर्थन किया जाता है जबकि दृष्टान्त में विशेष का विशेष से।

इनके अर्थान्तरन्यास का परवर्ती आचार्यों के दृष्टान्त में ही अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि इन आचार्यों के अनुसार जहाँ दो अर्थों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रहता है, उसे दृष्टान्त कहते हैं अर्थात् सामान्य से सामान्य के अथवा विशेष से विशेष के

1- वही, 8/96

2- इष्टस्यार्थस्य विस्पष्टप्रतिबिम्बनिदर्शनम् ।
   यथेवादिपदैः शून्यं बुधैर्दृष्टान्त उच्यते ॥
   - का० सा० सं० 6/3

समर्थन में दृष्टान्त होता है।[1]

साम्य -

रुद्रटप्रणीत नवीन अलङ्कारों में साम्य भी एक अलङ्कार है। उन्होंने इस अलङ्कार के दो प्रकार बताए हैं। प्रथम प्रकार का साम्य वहाँ होता है जहाँ उपमान तथा उपमेय में सामान्य रूप से मिलने वाले गुणादि के कारणभूत अर्थव्यापार द्वारा उपमेय तथा उपमान में साम्य प्रतिपादन किया जाता है[2]। यथा-

अभिसरदर्भा किमिमां दिशमैन्द्रीमाकुलं विलोकयन्ति ।
शशिन: करोति कार्यं सकलं मुखमेव ते मुग्धे ।।[3]

उक्त पद्य में मुख उपमेय तथा चन्द्र उपमान है। इनका गुण है कान्तिमत्त्व तथा "प्रकाशित करना" क्रिया इस गुण का कारण है, जो [प्रकाशन] मुख तथा चन्द्रमा में साम्य का प्रतिपादन कर रहा है।

1- [क] यदन्यस्य वर्ण्यमानवस्तुनाद् व्यातिरिक्तवृत्तेः पदार्थान्तरस्य प्रवर्तनमुपनिबन्धनं स दृष्टान्तनामालङ्कारोऽभिधीयते । - व0जी03/पृ0-397.
[ख] दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् । - का0द0 10/10 उत्तरार्द्ध
[ग] तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्तः ।
- अ0 स0 सू0 27
[घ] चेद् बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलङ्कृतिः । - च0 5-56
[ङ.] यत्र वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतयोच्यते ।
सामान्यधर्मो वाक्यज्ञैः स दृष्टान्तो निगद्यते।। - प्र0र0, पृ0-521.
[च] दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् । -सा0द0 10/50 उत्तरार्द्ध
[छ] प्रकृतवाक्यार्थघटकानामुपमादीनां साधारणधर्मस्य च बिम्बप्रतिबिम्बभावे दृष्टान्तः । - र0 गं0 2/ पृ0- 109
2- अर्थक्रियया यस्मिन्नुपमानस्यैति साम्यमुपमेयम् ।
तत्सामान्यगुणादिकारणया तद्भवेत्साम्यम् ।।- का0 8/105
3- वही, 8/ 106

द्वितीय साम्य में उपमेय तथा उपमान का साम्य प्रदर्शित करने के लिए उपमेय के किसी ऐसे गुण का उपन्यास किया जाता है जो अपेक्षाकृत उत्कर्षाधायक होता है।[1] यथा-

मुखं मृगाङ्कः सदृशं कलङ्कं बिभर्ति तस्यास्तु मुखं कदाचित् ।
आहार्यमेव मृगनाभिपत्त्रमित्यानयैष तयोर्विशेषः ।।[2]

उक्त पद में "चन्द्र" उपमान तथा मुख उपमेय में "नेत्राह्लादक" होना इत्यादि गुण द्वारा साम्य सुप्रसिद्ध है, उसमें उपमान के कलङ्क धारण करने की अपेक्षा उपमेय का "मृगनाभिपत्र" नामक अलङ्कार को धारण करना उत्कर्षाधायक है, अतः सर्वात्मना साम्य के साथ ही उपमेय के उत्कर्ष-प्रतिपादन के कारण द्वितीय प्रकार का साम्य है।

परवर्ती भोजराज ने साम्य के दोनों प्रकारों के लक्षणों को मिलाकर इस अलङ्कार का एक अन्य लक्षण किया है, जिसके अनुसार जहाँ उक्ति-तात्पर्य से उपमान-उपमेय दोनों की तुल्यता ज्ञात होती है, किन्तु वह उपमा तथा रूपक से भिन्न होती है, उसे साम्य कहते हैं।[3] इन्होंने इसके अनेक प्रकार बताए हैं।[4]

1- सर्वाकारं यस्मिन्नुभयोरभिधातुमन्यथा साम्यम् ।
उपमेयोत्कर्षकरं कुर्वीत विशेषमन्यत्तत् ।।
- वही, 8/107

2- वही, 8/108

3- द्वयोर्यत्रोक्तितात्पर्यादौपम्यार्थोऽवगम्यते ।
उपमारूपकाभ्यां तत् साम्यमित्याभणन्ति ।।- स०कं० 4/34

4- वही, 4/35-38

स्मरण-

औपम्यमूलक अलङ्कारों के अन्त में रुद्रट ने स्मरण अलङ्कार का विवेचन किया है। उनके अनुसार उस स्मृति को अलङ्कार कहा जाता है, जिसमें किसी वस्तु विशेष को देखकर बोद्धा उसके सदृश भूतकाल में अनुभव की गयी किसी अन्य वस्तु का स्मरण करता है।[1] यथा-

> तव भवने पश्यन्तः स्थूलस्थूलेन्द्रनीलमणिमालाः।
> भुजगेन्द्रनाथ मयूराः स्मरयन्त्यसौ कृष्णसर्पाणाम्॥[2]

इस पद्य में इन्द्रनील मणि की पंक्ति को देखकर बोद्धा (मयूर) पूर्व में देखे गए कृष्ण सर्पों का स्मरण करता है।

काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम रुद्रट द्वारा विवेचित इस अलङ्कार को प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने इसी रूप में मान्यता प्रदान करते हुए इसका निरूपण किया है।[3] अतः इस अलङ्कार को काव्यशास्त्र में स्थान दिलाने का श्रेय रुद्रट को ही है।

1- वस्तु विशेषं दृष्ट्वा प्रतिपत्ता स्मरति यत्र तत्सदृशम्।
कालान्तरानुभूतं वस्त्वन्तरमित्यदः स्मरणम्॥ - का० 8/109

2- वही, 8/110

3- (क) यथाऽनुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः। स्मरणम्॥
- का०प्र० 10/132 पूर्वार्द्ध

(ख) सादृश्यानुभवाद् वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्। - अ०स० सूत्र-15

(ग) सदृशानुभवादन्यस्मृतिः स्मरणमुच्यते। - प्र० रु०, पृ०-441.

(घ) सदृशानुभवाद् वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते। - सा०द० 10/27 उत्तरार्द्ध

(ङ) सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालंकारः।
- र०गं० 2/पृ०-455

(च) सदृशज्ञानोद्बोधितसंस्कारजन्यस्मृतिः स्मरणम्।
- अ० मु० 485 पूर्वार्द्ध

(छ) पूर्वानुभूतस्मरणं तत्समाने विलोकिते। स्मरणम्॥...
- अ० कौ० 8/308.

षष्ठम अध्याय

अतिशयमूलक अर्थालङ्कारों का विवेचन

षष्ठम अध्याय

अतिशयमूलक अलङ्कार- विवेचन -

काव्यालङ्कार के नवें अध्याय में रुद्रट ने अतिशय नामक सामान्य तत्व की चर्चा की है, जिसके अन्तर्गत पूर्वादि बारह अलङ्कार आते हैं।[1] इस तत्व सामान्य का लक्षण यद्यपि बताया जा चुका है तथापि प्रसङ्गवश पुनः उसका कथन किया जा रहा है। कभी कहीं अर्थ तथा धर्म का नियम प्रसिद्धि की बाधा के कारण विपरीत हो जाता है, नियम का यह विपर्यय लोकातिक्रान्त होता है और लोक के अतिक्रमण के कारण यह विपर्यय उस नियम का अतिशय होता है।[2]

इनसे पूर्व भामह, दण्डी तथा उद्भट ने अतिशयोक्ति नामक अलङ्कार का विवेचन किया था तथा इसका स्वरूप-निर्धारण करते हुए "किसी प्रयोजनवश लोकोत्तर वचन को अतिशयोक्ति कहा।"[3] स्पष्ट है कि इस अतिशयोक्ति तथा रुद्रट के अतिशय सामान्य में मूल रूप से कोई अन्तर न होते हुए भी यह अन्तर है कि जहाँ पूर्ववर्तियों ने इसको एक स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में चर्चा की वहाँ रुद्रट ने इसे पूर्वादि अनेक अलङ्कारों में प्राप्त होने वाले एक सामान्य तत्व के रूप में प्रस्तुत किया है।

1- पूर्वविशेषोत्प्रेक्षाविभावनातद्गुणाधिकविरोधाः ।
विषमासङ्गतिपिहितव्याघाताहेतवो भेदाः ॥- का० 9/2

2- यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद् विपर्ययं याति ।
कश्चिद् क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य॥
- वही, 9/1

3-[क] निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिः तामलङ्कारतया.... ॥- का० 2/81
तथा का० सा० सं० 2/11

[ख] विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी ।
असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमा ॥
- का० द० 2/214

सम्प्रति उक्त वर्ग में आने वाले पूर्वादि अलङ्कारों की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है। इनमें से पूर्व, उत्प्रेक्षा, विरोध तथा विषम की एक से अधिक वर्गों में आने वाले अलङ्कारों के अन्तर्गत चर्चा की जाएगी। अतः यहाँ "पूर्व" के पश्चात् आने वाले "विशेषालङ्कार" की समीक्षा प्रसङ्गप्राप्त है।

विशेष-

रुद्रट ने इस अलङ्कार के तीन प्रकार विवेचित किये हैं; प्रथम प्रकार के विशेष में किसी ऐसी वस्तु को निराधार कहा जाता है, जो अवश्य ही साधार होती है।[1] साधार को निराधार कहना दोष न हो इसीलिए कारिका में आचार्य ने "तादृगुपल-भ्यमानम्" पद का प्रयोग किया है अर्थात् "ऐसी साधार वस्तु जो संसार में उस रूप में [निराधार] भी उपलब्ध हो"[2] यथा-

> दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषां ।
> रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः ।।[3]

इस उदाहरण में प्राणी पर आश्रित वाणी का निराधार रूप में अर्थात् शरीर के अभाव में भी कथन है। संसार में कवियों की वाणी आधार [कवि-शरीर] के अभाव में भी [निराधार होकर भी] संसार को आनन्दित करती है। इस प्रकार की निराधार वाणी संसार में उपलब्ध है। अतः यह विशेषा-लङ्कार का स्थल है।

1- किञ्चिदवश्याधेयं यस्मिन्नभिधीयते निराधारम् ।
तादृगुपल-भ्यमानं विज्ञेयोऽसौ विशेष इति ।। - का० 9/5

2- वही, नमिसाधुकृत टीका

3- वही, 9/6

दूसरे प्रकार के विशेषालङ्कार[1] में एक वस्तु एक साथ अनेक आधारों में विद्यमान बतायी जाती है। यथा-

> हृदये चक्षुषि वाचि च तव सैवाभिनवयौवना वसन्ति ।
> त्वयमत्र निरवकाशा विरम कृतं पादपतनेन ॥[2]

इस पद्य में एक ही तरुणी एक साथ हृदय, नेत्र तथा वाणी- इन अनेक आधारों में समकाल में ही विद्यमान वर्णित की गयी है।

तृतीय प्रकार के विशेषालङ्कार में एक कार्य को करता हुआ कर्ता करने में अशक्य अन्य कार्य को भी करता हुआ अर्थात् दोनों को एक साथ करता हुआ वर्णित किया जाता है।[3] यथा- अपने कपोल पर तिल की रचना करते हुए साथ ही साथ नायक के चित्त में अपने शरीर लेखन की अशक्य क्रिया को भी करती हुई नायिका के वर्णन में इस प्रकार का विशेष है अतः "लिखितं बालमृगाक्ष्याः"[4] इत्यादि में यही विशेष है।

इस अलङ्कार का विवेचन सर्वप्रथम रुद्रट ने किया है। अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने उक्त अलङ्कार को लगभग उसी रूप में तथा उन्हीं भेदों के साथ

1- यत्रैकमनेकस्मिन्नाधारे वस्तु विद्यमानतया ।
युगपदभिधीयतेऽसावत्रान्यः स्याद्विशेष इति ॥
- वही, 9/7

2- वही, 9/8

3- यत्रान्यत्कुर्वाणो युगपत्कार्यान्तरं च कुर्वीत ।
कर्तुमशक्यं कर्ता विज्ञेयोऽसौ विशेषोऽन्यः ॥
- वही, 9/9

4- लिखितं बालमृगाक्ष्या मम मनसि तया शरीरमात्मीयम् ।
स्फुटमात्मनो लिखन्त्या तिलकं विमले कपोलतले ॥
वही, 9/10

स्वीकार किया है।[1] इनमें से कुछ आचार्यों ने उदाहरण भी रुद्रट के ही उद्धृत किए हैं।[2] उनके "हृदये वससि" इत्यादि पद्य के समानार्थी प्राकृत पद्य को मम्मट ने उदाहरण रूप में उद्धृत किया है।[3]

स्पष्ट ही काव्यशास्त्र में इस अलङ्कार को प्रस्तुत करने का श्रेय रुद्रट को है।

1- [क] विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः ।
एकात्मा युगपद् वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥
अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः ।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥
- का0प्र0 10/ 135-36

[ख] अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषः ।
- अ0 स0 51

[ग] आधाररहिताधेयमेकं चानेकगोचरम् ।
अशक्यस्यान्यवस्तुकरणं विशेषालङ्कृतिस्त्रिधा ॥
- प्र0 रु0 पृ0- 506

[घ] यदाधेयमनाधारमेकं चानेकगोचरम् ।
किञ्चित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा ॥
कार्यस्य करणं दैवाद् विशेषस्त्रिविधस्ततः ॥
- सा0द0 10/73-74

[ङ] विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्याधेयवर्णनम् ।
विशेषः सोऽपि यद्येकं वस्त्वनेकत्र वर्ण्यते ॥
किञ्चिदारम्भतोऽशक्यवस्त्वन्तरकृतिश्च सः ॥- कु0 99-101

[च] प्रसिद्धमाधारं विना आधेयं वर्ण्यमानमेको विशेषप्रकारः। यच्चैकमाधेयं परिमितं क्वचिदाधारगतमपि युगपदनेकाधार-गततया वर्ण्यते सोऽपरो विशेष प्रकारः। यच्च किञ्चित् कार्यमारभ-माणस्याशक्यस्यापि वस्त्वन्तरं निर्वर्तितं स तृतीयो विशेष प्रकारः।
- र0 गं0 2/पृ0- 521।

2- [क] का0प्र0 10/पृ0-596 वृत्तिभाग [ख] अ0स0 पृ0-208 वृत्तिभाग
[ग] सा0 द0, पृ0-330, [illegible] [घ] का0 प्र0 10/पृ0-597 वृत्तिभाग

3- का0 प्र0 10/ पृ0- 597 वृत्तिभाग

विभावना -

रुद्रट के अनुसार लोक में कोई भी कार्य [पदार्थ] जिस कारण से होता है, उस कारण के अभाव में भी उस कार्य के कथन को विभावना अलङ्कार कहते हैं।[1] कारिकागत "उपल-यमान्" पद अनावश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि इस अलङ्‌-कार का मूल अतिशय है और अतिशय में अर्थ का लोकातिक्रान्त होना तथा उप-ल-यमान् होना- ये दो अनिवार्य तत्त्व हैं जैसाकि पूर्व- विवेचन से ही स्पष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस तथ्य को और भी अधिक महत्त्व देने के लिए रुद्रट ने कारिका में इस [उपल-यमान्] पद का प्रयोग किया है।

उदाहरणस्वरूप "निहितातुलतिमिरभर:"[2] इत्यादि पद्य में "अतैलपूरो जगद्दीप:" अतिशयमूला विभावना का स्थल है, क्योंकि लोक में तैल से ही दीप है, यह नियम है, और तैल के अभाव में भी दीप का होना लोकातिक्रान्त है इसमें यही अतिशय है तथा कारण [तैल] के अभाव में कार्य [दीप] का कथन है, इसलिए विभावना का स्थल है, सूर्य का तैल के अभाव में भी संसार के लिए दीप रूप होना लोक में दिखायी भी पड़ता है।

इस विभावना के आचार्य ने दो अन्य भेद किए हैं, एक तो वह, जिसमें वस्तु विशेष में अपने कारण के अभाव में भी विकार की उत्पत्ति दिखायी जाती है,[3] यथा:

1- सेयं विभावनाख्या यस्यामुपल-यमानमभिधेयम् ।
अभिधीयते यतः स्यात्तत्कारणमन्तरेणैव ।। - का० 9/16

2- निहितातुलतिमिरभरः स्फारस्फुरदुरुतरप्रभाप्रसरः ।
स वो दिनकृदपायादतैलपूरो जगद्दीपः ।। - वही, 9/17

3- यस्यां तथा विकारस्तत्कारणमन्तरेण सुव्यक्तः ।
भवति वस्तुविशेषे विभावना सेयमन्या तु ।। -वही, 9/18

"जाता ते सखि"[1] इत्यादि में गति तथा दृष्टि अभिधेय है, तथा मन्थरत्व तथा अलसत्व उनके विकार हैं और इन विकारों की उनके हेतुभूत परिश्रम तथा मदिरा के अभाव में भी उत्पत्ति कही गयी है। पूर्व विभावना तथा विभावना के इस भेद में अन्तर यह है कि उसमें अभिधेय कथित होता है तथा इसमें उसका विकार।[2] दूसरे प्रकार की विभावना वहाँ होती है जहाँ लोक में किसी अर्थ का जो रूप प्रसिद्ध होता है, अन्य वस्तु का भी उसी रूप में कथन किया जाता है।[3] उदाहरण रूप-

स्फुटमपरं निद्रायाः सरसमचैतन्यकारणं पुंसाम् ।
अपटलमान्ध्यनिमित्तं मदहेतुरनासवो लक्ष्मीः ।।[4]

इस पद्य में अचैतन्य, अन्धापन तथा मद के हेतु - निद्रा, पटलविहीन होना तथा मदिरा वर्णित हैं जो लोकप्रसिद्ध हैं, किन्तु इनसे भिन्न लक्ष्मी का भी इनके [अचैतन्यादि के] कारणरूप में कथन है। अतएव यह दूसरे प्रकार की विभावना है। इस प्रकार रुद्रट ने विभावना के तीन प्रकार विवेचित किए हैं ।

प्रायः सभी पूर्ववर्तियों ने इसका निरूपण किया है। भामह, वामन तथा उद्भट ने विभावना के जो लक्षण किए हैं[5] सभी का कारण अथवा क्रिया के अभाव में कार्य अथवा फल की सम्भावना में तात्पर्य है। दण्डी ने इसी तथ्य को कुछ

1- जाता ते सखि सा स्खलन्मन्थरमन्थरा गतिः किमियम् ।
कस्मादलसकस्मादियमनुमदालसा दृष्टिः ।। - 9/19

2- पूर्वेणाभिधेयं कारणमन्तरेणोक्तमिह तु विकार इति । - वही, टीका

3- यस्य यथात्वं लोके प्रसिद्धमर्थस्य विद्यते तस्मात् ।
अन्यस्यापि तथात्वं यस्यामुच्यते सन्येयम् ।। - वही, 9/20

4- वही, 9/21

5- [क] क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना ।
ज्ञेया विभावनैव ....।- का० 2/77

[ख] क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना ।
ज्ञेया विभावनैव ....।- का०सा०सं० 2/9

[ग] क्रिया प्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना।
- का० सू० वृ० 4/3/13.

भिन्न रूप से कहा है, उनके अनुसार प्रसिद्ध कारण का अभाव दिखाकर तथा अन्य कारण की विभावना अथवा उस कार्य की स्वभावसिद्धता की कल्पना ही विभावना है। दण्डी के इस लक्षण को देखने से प्रतीत होता है कि रुद्रट ने इनसे प्रभावित होते हुए उक्त अलङ्कार के तृतीय भेद का लक्षण किया है।

परवर्तियों में भोजराज ने दण्डी का अनुसरण किया है।[2] मम्मट ने भामहादि का अनुसरण करते हुए इसके लक्षण में क्रिया तथा फल पद का प्रयोग किया है,[3] किन्तु उन्होंने भी वृत्तिभाग में क्रिया के लिए "हेतु" पद का प्रयोग किया है।[4] अन्य सभी ने रुद्रट की भाँति इसके लक्षण में कारण तथा कार्य पद को रखा है।[5]

1- प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किञ्चित् कारणान्तरम् ।
   यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना ।।- का०द० 2/199

2- स० कं० भ० 3/21

3- क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना। -का०प्र० 10/162

4- हेतुरूप क्रियायाः ....। -वही, वृत्तिभाग

5- [क] कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना । -अ०सू० सूत्र 42

   [ख] विनाकारणसद्भावं यत्र कार्यस्य दर्शनम् ।
   नैसर्गिकगुणोत्कर्षाभावनात्सा विभावना ।। - वा० 4/96

   [ग] विभावना विनापि स्याद् कारणं कार्यजन्म चेत् । - च० 5/77

   [घ] कारणेन विना कार्यस्योत्पत्तिः स्याद् विभावना ।
   - प्र० र०, पृ- 509

   [ङ] विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।
   - सा० द० 10/66 पूर्वार्द्ध

   [च] कारणव्यतिरेकसमानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यमाना कार्योत्पत्तिर्विभावना।
   - र० गं० 2/ पृ- 422

   [छ] कारणं विना कार्योदयो विभावना ।
   - अ० कौ० 13

   [ज] हेतुं विनापि कार्यं यत्रोदेति स्याद् विभावना सा तु ।
   - अ० पृ० 26 पूर्वार्द्ध

उपर्युक्त आचार्यों के लक्षणों के पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि भामह से विश्वेश्वर पण्डितपर्यन्त सभी का विभावना के लक्षण के विषय में एक ही मत है। जहाँ तक इसके भेदों का प्रश्न है, सर्वप्रथम रुद्रट ने ही इस ओर ध्यान दिया है। परवर्तियों में कुछ ने ही अपने अपने दृष्टिकोण से इसके भेद-प्रभेद किए हैं।[1] किन्तु अधिकांश ने नहीं किए हैं।

<u>तद्गुण -</u>

जहाँ समान गुण वाले अर्थों का संसर्ग होने पर उन पदार्थों का भेद लक्षित नहीं होता, वहाँ "तद्गुण" होता है।[2] प्रश्न उठता है कि संसर्ग होने पर तो दुग्ध और तक्र का भी भेद लक्षित नहीं होता तो क्या वहाँ भी तद्गुण हुआ। ऐसे स्थलों में अतिव्याप्ति के निवारण हेतु लक्षण में "योगलक्ष्यरूपाणाम्" पद गृहीत है, जिसका अर्थ है - योग होने पर लक्ष्य स्वरूप वाले।[3] इस प्रकार "तद्गुण" का लक्षण हुआ - योग होने पर पृथक् रूप से लक्ष्य स्वरूप वाले एक गुण वाले पदार्थों का संसर्ग होने पर जब भेद लक्षित न हो तो तद्गुण अलङ्कार होता है। काव्यशास्त्र में इस अलङ्कार का विवेचन सर्वप्रथम रुद्रट ने ही किया है। इसके उदाहरण स्वरूप -

> नवधौतधवलवसना चान्द्रया तिरोगामिन्याः ।[4]
> रमणभवनान्यसङ्कं सर्पन्त्यभिसारिकाः समदि।।

1- [क] रु० कं भ० 3/ 21-29
   [ख] सा० द० 10/ पृ०-814
   [ग] कु०   पृ०- 143-47.

2- यस्मिन्नेकगुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपाणाम् ।
   संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यते तद्गुणः स इति ।। - का० 9/22

3- यत्र योगे सति रूपं लक्षयितुं शक्यमथवा लक्ष्यमिति कथ्यतु इत्यर्थः ।
   -वही, नमिसाधुकृत टीका

4- वही, 9/23.

इस पद्य में "शुक्ल" इस एक गुण से युक्त अभिसारिका तथा चन्द्रिका का संसर्ग होने पर समान गुण के कारण अभिसारिका का चन्द्रिका से पार्थक्य प्रतीत नहीं हो रहा है। इस अलङ्कार के एक अन्य रूप का भी रुद्रट ने निरूपण किया है, जिसमें असमान गुण वाली वस्तु अत्यन्त उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के सम्पर्क से उस वस्तु के गुण को धारण कर लेता है।[1] यथा-

कुन्दकमालाप कृता कार्तस्वरभास्वरे त्वया कण्ठे ।
एतत्प्रभानुलिप्ता चम्पकदामभ्रमं कुरुते ।।[2]

इस उदाहरण में श्वेतवर्ण वाली कुन्दकमाला गौरवर्णीय कण्ठ से संसृष्ट होकर गौरवर्ण {तद्गुण} को ही धारण कर लेती है।

जैसा कहा जा चुका है, यह तद्गुण अलङ्कार रुद्रट की उद्भावना है। परवर्ती आचार्यों में अधिकांश ने इसे मान्यता प्रदान की है, किन्तु इसके प्रथम रूप का उन्होंने " सामान्य " संज्ञा से विवेचन किया है[3] तथा द्वितीय का "तद्गुण"

1- असमानगुणं यस्मिन्नतिबहलगुणेन वस्तुना वस्तु ।
संसृष्टं तद्गुणतां धत्तेऽन्यस्तद्गुणः स इति ।।
- का० 9/24

2- वही, 9/ 25.

3- {क} प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम् ।।
- का०प्र० 10/134.

{ख} प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैकात्म्यं सामान्यम् ।
- अ० स० सूत्र 72

{ग} सामान्यं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते ।
- च० 5/34 पूर्वार्द्ध

{घ} सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता।
- कु० च०, पृ० 498

{ङ.} सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः ।
- सा०द० 10/89 उत्तरार्द्ध

{च} प्रत्यक्षविषयस्यापि वस्तुनो बलवत्सजातीयग्रहणकृतं तदभिन्नत्वेनाध्यवसानं सामान्यम् ।   - र०गं० 2/ पृ० 751.

{छ} स्वगुणसजातीयगुणाधिकैकार्थ्यं तु सामान्यम् ।

से[1]। सम्भवतः परवर्ती आचार्यों ने रुद्रटकथित तद्गुण के प्रथम प्रकार को इसलिए सामान्य की संज्ञा प्रदान की क्योंकि उसमें दो वस्तुओं के किसी समान गुण के कारण उन वस्तुओं का अपार्थक्य प्रतिपादित किया जाता है।

अधिक-

इस एक नाम से भी रुद्रट ने दो वर्गों में भिन्न- भिन्न दो अलङ्कारों का निरूपण किया है। अतिशयमूलक अधिक के रुद्रट ने दो रूप बताए हैं। प्रथम प्रकार में एक ही कारण से दो वस्तुयें उत्पन्न होती हैं- इसकी भी दो स्थितियाँ हैं- एक में परस्पर दो विरुद्ध वस्तुएँ एक ही कारण से उत्पन्न होती हैं तथा द्वितीय में परस्पर विरुद्ध बलवती क्रियाओं वाली दो वस्तुएँ एक ही कारण से उत्पन्न होती हैं[2]। यथा-

"मुञ्चति वारि पयोदो ज्वलन्तमनलं च यत्तदाश्चर्यम् ।"[3]

1- {क} स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥- का0प्र0 10/137.

{ख} स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणस्वीकारस्तद्गुणः।- अ0 स0 सूत्र 73

{ग} तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यतः स्वगुणोदयः ।- च0 5/102 पूर्वार्द्ध

{घ} तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिः।- प्र0 र0, पृ0- 498

{ङ} तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः ।- सा0द0 10/90पूर्वार्द्ध

{च} स्वगुणत्यागपूर्वकं स्वसन्निहितवस्त्वन्तरसम्बन्धिगुणग्रहणं तद्गुणः।
- र0 गं0 2/ पृ0- 742

{छ} परकीयगुणतिरोहितगुणस्य भानं तद्गुणः प्रोक्तम् ।
- अ0मु0 51 पूर्वार्द्ध

2- यत्रान्योन्यविरुद्धं विरुद्धबलवत्क्रियाप्रसिद्धं वा ।
वस्तुद्वयमेकस्माज्जायत इति तद्भवेदधिकम् ॥ - का0 9/26

3- वही, 9/27 पूर्वार्द्ध

इस पंक्ति में कारण रूप "मेघ" द्वारा "वारि" तथा "ज्वलिताग्नि" -इन दो विरुद्ध वस्तुओं को उत्पन्न किया जाना ही अधिकालङ्कार है। इसी प्रकार "उदपद्यत नीरनिधेर्विषममृतं चेति तद्विषम्"[1] इसमें मरण तथा अमरता इन परस्पर विरुद्ध क्रियाओं वाले विष तथा अमृत- ये दो वस्तुयें "नीरनिधि" रूप एक कारण से उत्पन्न वर्णित की गयी हैं, अतः यह अधिक का स्थल है।

दूसरे प्रकार का अतिशययुक्त अधिक वहाँ होता है जहाँ विशाल आधार पर तुच्छ आधेय अवस्थित रहते हुए किसी प्रकार उसका अतिक्रमण कर जाता है,[2] यथा- संसार के समान विशाल हृदय रूप आधार के कृशाङ्गी रूप {अपेक्षाकृत} तुच्छ आधेय द्वारा अतिक्रमण के वर्णन[3] में इसी प्रकार का "अधिक" होगा।

परवर्ती आचार्यों में मम्मट ने अधिक के द्वितीय भेद को ही केवल इस अलङ्कार के अन्तर्गत रखा है, प्रथम को नहीं। उन्होंने इसमें कुछ और अंश जोड़ दिया है। उनके अनुसार जहाँ बड़े आधेय अथवा बड़े आधार को क्रमशः आधार एवं आधेय {उनकी अपेक्षा} छोटे होने पर भी बड़े वर्णित किए जायें, उसे अधिकालङ्कार कहते हैं।[4]

1- वही, 9/27 उत्तरार्द्ध

2- यत्राधारे सुमहत्याधेयमवस्थितं तनीयोऽपि ।
अतिरिच्यते कथञ्चित् तदधिकमपरं परिज्ञेयम् ।।
- वही, 9/28

3- जगद्विशाले हृदि तस्य तन्वी प्रविश्य सास्ते स्म तथा यथा तत् ।
व्याप्तमासीदखिलं न तस्यास्तथापकाशस्तु कुतोऽपरस्याः ।।
- वही, 9/29

4- महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ।।
- का0 प्र0 10/ 128

सर्वस्वकार ने इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में प्रतिपादित किया है।[1] उनके अनुसार आश्रय तथा आश्रित की अननुरूपता ही अधिकालङ्कार है अर्थात् इन दोनों में से कोई एक विशाल होता है तथा दूसरा तुच्छ ।

मम्मट तथा सर्वस्वकार के समान ही अन्य आचार्यों ने भी रुद्रट के इसी भेद से प्रभावित होते हुए अधिकालङ्कार का लक्षण किया है।[2]

स्पष्ट है कि सर्वप्रथम रुद्रट द्वारा विवेचित उक्त अलङ्कार के दो भेदों में से दूसरे को काव्यशास्त्र में मान्यता प्राप्त हुई, प्रथम भेद तो रुद्रट से प्रारम्भ होकर रुद्रट तक ही सीमित रह गया।

इस अतिशयमूलक अधिक में तथा श्लेषमूलक अधिक में सर्वथा भिन्नता होने के कारण "अनेक वर्गों में आने वाले अलङ्कार" शीर्षक के अन्तर्गत इनकी [अधिक] की समीक्षा न करके अपने- अपने वर्गों में ही इनका विवेचन किया गया है।

1- [क] अधिकं बोध्यमाधारादाधेयाधिक्यवर्णनम् । - च० 5/83 पूर्वार्द्ध
[ख] आधाराधेययोरानुरूप्याभावोऽधिको मतः । - प्र० रु०, पृ- 508
[ग] आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते । - सा०द० 10/पृ-328
[घ] अधिकं पृथुलाधारादाधेयाधिक्यवर्णनम् । - कु० 95 पूर्वार्द्ध
पृथ्व्याधेयाद्यदाधाराधिक्यं तदपि तन्मतम् ।। - वही, 96 पूर्वार्द्ध
[ङ.] आधाराधेययोरन्यतरस्यातिविस्तृतत्व सिद्ध्यर्थमितरस्याति-
न्यूनत्वकल्पनम् अधिकम् । - र० गं० 2/ पृ- 508.
[च] आधारस्याधेयादाधेयस्य वाधारात् ।
यद् वर्ण्यते महत्त्वं तत्कथयन्त्यधिकमधिकज्ञाः ।।
- अ०कु० 44

विरोध -

रुद्रट के अनुसार जहाँ परस्पर सर्वथा विरुद्ध द्रव्यादि की समकाल में एक ही आधार में स्थिति दिखायी जाय, उसे विरोधालङ्कार कहते हैं।[1] यह विरोध सजातीय पदार्थों में होने पर चार प्रकार का है तथा विजातीय पदार्थों में होने पर पाँच प्रकार का होता है।[2] जाति तथा द्रव्य में विरोध नहीं हो सकता, अतः विजातीय विरोध के पाँच ही भेद होते हैं, छः नहीं।[3] इसके अतिरिक्त सजातीय विरोध चार प्रकार का और होता है, जो पूर्वोक्त सजातीय विरोध से भिन्न होता है, इसमें दो परस्पर विरुद्ध सजातीयों का अभाव कहा जाता है जबकि विरुद्ध होने के कारण एक के अभाव में दूसरे की स्थिति निश्चित रूप से होती है।[4] रुद्रट ने इसके उदाहरण भी दिए हैं, जो इस प्रकार हैं -

> "अत्रेन्द्रनीलभित्तिषु गुहासु शैले सदा सुवेलाख्ये ।
> अन्योन्यानभिभूतौ तेजस्तमसी प्रवर्तेते ॥"[5]

इसमें परस्पर विरुद्ध द्रव्य अन्धकार एवं प्रकाश की एक आधारगुहा में समकाल में स्थिति कही गयी है।

1- यस्मिन्द्रव्यादीनां परस्परं सर्वथा विरुद्धानाम् ।
एकत्रावस्थानं समकालं भवति स विरोधः ॥ - का० 9/30

2- तस्य सजातीयानां विजातीयमानस्य सन्ति चत्वारः ।
भेदास्तन्नामानः पञ्च त्वन्ये तदन्येषाम् ॥ - वही, 9/31

3- जातिद्रव्यविरोधो न सम्भवत्येव तेन न षडेते ।
अन्ये तु वक्ष्यमाणाः सन्ति विरोधास्तु चत्वारः ॥
- वही, 9/32

4- यत्रावश्यम्भावी ययोः सजातीययोर्विवेकः ।
तत्र विरोधजोस्तयोरभावोऽप्यन्यस्तु ॥ - वही, 9/33

5- वही, 9/34

सत्यं त्वमेव सरलो जगति जराजनितकुब्जभावोऽपि ।
ब्रह्मन्परमसि विमलो विततावरब्रह्ममलिनोऽपि ।।[1]

इस पद्य में सरलत्व, कुब्जत्व इत्यादि गुणों का ब्राह्मण रूप एक आधार में कथन है।

बालमृगलोचनायाश्चरितमिदं चित्रमत्र यदसौ माम् ।
जडयति संतापयति च दूरे हृदये च मे वसति ।।[2]

यहाँ जडीकरण और सन्तापन- इन दो क्रियाओं का विरोध है-

एकस्यामेव तनौ बिभर्ति युगपन्नरत्वसिंहत्वे ।
मनुजत्वनराहत्वे तथैव यो विभुरसौ जयति ।।[3]

इसमें नरत्व- सिंहत्व इत्यादि जातियों की स्थिति का कथन है। ये विरुद्ध सजातीयों के उदाहरण हैं ।

सम्प्रति विजातीयों की एक काल में एक ही आधार में स्थिति के उदाहरण प्रस्तुत हैं। इनमें सर्वप्रथम विरुद्ध द्रव्य तथा गुणों की स्थिति का उदाहरण इस प्रकार है -

तेजस्विना गृहीतं मार्दवमुपयाति पश्य लोहमपि ।
पात्रं तु मद्द् विहितं तरति तदन्यच्च तारयति ।।[4]

इस पद्य में "मार्दव" तथा लोह- इन विरुद्ध गुण तथा द्रव्य का कथन है।

1- वही, 9/35
2- वही, 9/36
3- वही, 9/37
4- वही, 9/38

सा कोमलापि दलयति मम हृदयं पश्यतो दिशः सकलाः ।
अभिनवकदम्बधूलीधूसरशुभ्रमद्भ्रमराः ।।[1]

यहाँ परस्पर विरुद्ध "कोमल" गुण तथा "दलन" क्रिया की एक ही आधार {सा} में व्यवस्थिति कही गयी है। इस पद्य के उत्तरार्द्ध में भ्रमर तथा शुभ्र- इन विरुद्ध जाति तथा गुण का विरोध है।

वरतनु विरुद्धमेतत्तव चरितमदृष्टपूर्वमिह लोके ।
मथ्नासि येन नितरामबलापि बलान्मनो यूनाम् ।।[2]

इसमें "अबला" जाति तथा "मथन" क्रिया का विरोध है। इन सजातीयों तथा विजातीयों के विरोध निरूपण के पश्चात् विरुद्ध सजातीयों के अभाव के उदाहरण प्रस्तुत हैं -

"अविवेकितया स्थानं जातं न जलं न च स्थलं तस्याः ।
अनुरज्य कलङ्कवतो त्वय्यापि भर्ता यया मुक्तः ।।[3]

यहाँ जल तथा स्थल- परस्पर विरुद्ध द्रव्यों में से एक के अभाव में दूसरे का सद्भाव अनिवार्य है, किन्तु यहाँ दोनों का अभाव कथित है।

इसी प्रकार विरुद्ध गुणों के अभाव का उदाहरण निम्न है -

न मृदु न कठिनमिदं मे हृदयं पश्यमन्दपुण्यायाः ।
यद्विरहानलतप्तं न विलयमुपयाति न च दार्ढ्यम् ।।[4]

यहाँ मृदु तथा कठिन- इन दो परस्पर विरुद्ध गुणों का अभाव प्रतिपादित है। इसी प्रकार विरुद्ध क्रियाओं तथा विरुद्ध जातियों के अभाव के उदाहरण निम्न-लिखित हैं -

---

1- वही, 4/39
2- वही, 4/40
3- वही, 4/41
4- वही, 4/42

नास्ते न याति हंसः पश्यन्गगनं जलद्यामम् ।
चिरपरिचितां च बिसिनीं स्वयमुपभुक्तातिरिक्तरसाम् ।।[1]

न स्त्रो न वायमस्त्री जातः कुलपांसनो जनो यत्र ।
कथमिव तत्पातालं न यातु कुलमनवलम्बतया ।।[2]

उक्त अलङ्कार का निरूपण भामहादि ने भी किया है। भामह के अनुसार विशिष्टता का कथन करने के लिए जहाँ किसी ऐसे कार्य का वर्णन किया जाता है, जो अपने ही गुण अथवा कार्य से विरुद्ध होता है, उसे विरोध अलङ्कार कहते हैं।[3] दण्डी ने विशेष के आधान के लिए परस्पर विरुद्ध पदार्थों के संसर्ग {सान्निध्य} के वर्णन को, विरोध अलङ्कार कहा है।[4] उद्भट ने भामह की ही बात को अक्षरशः प्रतिपादित किया है।[5]

वामन ने इसमें "आभास" विशेषण और बढ़ा दिया है। उनके अनुसार विरोध के स्थल में जो विरोध होता है, वह वास्तविक नहीं होता अपितु उस विरोध का आभासमात्र होता है।[6]

1- वही, 9/43
2- वही, 9/44
3- गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा ।
   या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्बुधाः ।।- का० 3/25
4- विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम् ।
   विशेषदर्शनायैव स विरोधः स्मृतो यथा।। - का० द० 2/333
5- गुणस्य वा क्रियाया व विरुद्धान्यक्रियावचः ।
   यद्विशेषाभिधानाय विरोधं तं प्रचक्षते ।।- का० सा० सं० 5/6
6- विरुद्धाभासत्वं विरोधः । - का० सू० वृ० 4/3/12

पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों को देखने से स्पष्ट है कि रुद्रट ने इन्हीं के मत को कुछ और बढ़ाकर तथा अनेक भेद- प्रभेदों के साथ प्रस्तुत किया है। इन्होंने वामन के "आभास" पद को इस अलङ्कार के लक्षण के लिए प्रयुक्त नहीं किया है, क्योंकि इनका "विरोधाभास" तो विरोध से सर्वथा पृथक् श्लेषमूलक अर्थालङ्कार है, जिसका विवेचन अगले अध्याय में किया जाएगा।

प्राय: सभी परवर्ती ग्रन्थों में इसका निरूपण किया गया है। मम्मट, सर्वस्व-कार, साहित्यदर्पणकार इत्यादि सभी आचार्यों ने वामन से पूर्णरूपेण प्रभावित होते हुए अलङ्कार विरोधाभास को ही विरोध कहा है, वास्तव में इस अलङ्कार में परस्पर विरोध न होकर उसका आभास मात्र होता है। इसीलिए चन्द्रालोककार तथा अप्पयदीक्षित को छोड़कर अन्य काव्यशास्त्रियों ने "विरोधाभास" नामक अलङ्-कार का पृथक् रूप में निरूपण नहीं किया है। रुद्रट ने जो वर्ग विभाजन किया है, उसको देखते हुए विरोध तथा विरोधाभास [illegible] को पृथक्- पृथक् निरूपित करना ही उचित है। इनके विरोधाभास में जैसाकि इसके वर्ग [श्लेषमूलक] से ही स्पष्ट है, दो अर्थ श्लिष्ट होते हैं, तत्सम्बन्धी वाक्य [पद] को देखकर विरोध प्रतीत होता है किन्तु उसके अन्तर्गत प्रयुक्त शब्दों का श्लेष द्वारा दूसरा अर्थ किए जाने पर यह

1- [क] विरोध: सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद् वच: । - का०प्र० 10/166

[ख] विरुद्धाभासत्वं विरोध: । - अ० स० सू० 41

[ग] आपाते हि विरुद्धत्वं यत्र वाक्ये न तत्वत: ।
शब्दार्थकृतमाभाति स विरोध: स्मृतो ।। - वा० 4/120

[घ] आभासत्वे विरोधस्य विरोधालङ्कृतिर्मता । - प्र० रु०, पृ०-300

[ङ.] विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ [illegible]...... ।। - सा०द०-68

[च] एकाधिकरणासम्बद्धत्वेन प्रतिपादितयोरर्थयोर्भासमानैकाधिकरणासम्बद्धत्वम्
एकाधिकरणासम्बद्धत्वाभावं वा [illegible] विरोध: । - र० गं० 2/पृ०-401.

[छ] अविरोधेऽपि विरोधो यत्रोक्त: स्याद् विरोध: स: ।।

विरोध समाप्त हो जाता है। जबकि इनके "विरोध" में ऐसा करने को आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि इसमें ऐसे शब्द नहीं होते जिनका अन्य अर्थ करने से विरोध समाप्त हो जाए, इसमें विरोध सदैव रहता है। स्पष्ट है कि इनका विरोधाभास परवर्तियों का विरोध अलङ्कार है, इनके "विरोध" को उन्होंने ग्रहण नहीं किया है।

किन्तु इन सभी आचार्यों ने रुद्रट अभिमत विरोध- भेदों को मान्यता प्रदान की है। इन्होंने इनके सजातीयों एवं विजातीयों के विरोध को स्वीकार किया है। इस प्रकार रुद्रटसम्मत तेरह विरोधों में से अधिकांश को सभी ने स्वीकार किया है,[1] अन्तिम चार का इन लोगों ने उल्लेख नहीं किया है। परवर्ती आचार्यों पर इस अलङ्कार के भेद- प्रपञ्च तथा तत्सम्बन्धी विशदता की दृष्टि से रुद्रट का प्रभाव परिलक्षित होता है, किन्तु मूलभूत भेद तो है ही और वह यह कि रुद्रट का विरोध अलङ्कार विरोध पर्यवसायी है जबकि अन्य आचार्यों द्वारा कथित "विरोध" में विरोध की आपाततः प्रतीति मात्र होती है, इसीलिए अन्त में इस विरोध का परिहार हो जाता है। सम्भवतः विरोध पर्यवसायी होने के कारण ही रुद्रट ने जाति तथा द्रव्य के विरोध को मान्यता नहीं दी है क्योंकि जाति तथा द्रव्य

1- [क] जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणैस्त्रिभिः ।
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।।- का0प्र0 10/ 167

[ख] तत्र जातिविरोधस्य ....तदेवं दशविरोधभेदाः ।
- अ0 स0 41 वृत्तिभाग

[ग] .... एवं विरोधे दशभेदाः ।- प्र0 र0, पृ0- 50।

[घ] ....विरोधोऽसौ दशाकृतिः।-सा0द0, 67-68

[ङ] .... उक्ता दश भेदाः । - र0ग0 2/पृ0-403

[च] ....विरोध इति दश भेदाः - अ0पु0 29 वृत्तिभाग

में विरोध सम्भव नहीं है। यथा- मनुष्य [द्रव्य] को गोत्व इत्यादि जाति का आधार नहीं दिखाया जा सकता। किन्तु परवर्तियों के "विरोध" में वास्तविक विरोध न होकर आपततः प्रतीति के कारण जाति तथा द्रव्य के विरोध की प्रतीतिमात्र होती है और अन्त में इस विरोध का परिहार हो जाता है इसीलिए इनके "विरोध" में जाति तथा द्रव्य के विरोध को भी भेद-प्रभेदों में स्थान दिया गया है।

इन परवर्ती आचार्यों में केवल जयदेव ने ही रुद्रट का अनुसरण करते हुए द्रव्यादि पदार्थों की पारस्परिक असङ्गति को विरोध कहा है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, विरोध का लक्षण तो रुद्रट ने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों [वामन को छोड़कर] का अनुकरण करते हुए किया है, किन्तु इसके भेदों के लिए इनको ही श्रेय दिया जाना चाहिए। रुद्रट ही वह प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने उक्त अलङ्कार का इतना विस्तृत निरूपण किया है, विस्तार की दृष्टि से इनका पर्याप्त प्रभाव परवर्ती काव्यशास्त्र पर पड़ा है।

"अधिक"की भाँति विरोध का भी अतिशय तथा श्लेष- इन दो वर्गों में पृथक्-पृथक् समीक्षा इसलिए की जा रही है, क्योंकि ये दोनों अतिशयमूलक विरोध तथा श्लेषमूलक विरोध सर्वथा पृथक् हैं।

असङ्गति -

रुद्रट द्वारा सर्वप्रथम प्रतिपादित इस अलङ्कार की संज्ञा से स्पष्ट है कि इसमें किन्हीं दो वस्तुओं में सङ्गति नहीं होती। कारण तथा कार्य सामान्यतः एक ही स्थान पर प्राप्त होते हैं, किन्तु काव्य में जब समकाल में [कारण तथा कार्य] ये

1- विरोधोऽनुपपत्तिश्चेद् गुणद्रव्यक्रियादिषु। - च0 5/74 पूर्वार्द्ध

दोनों भिन्न- भिन्न स्थानों पर प्राप्त होते है, उसे "असङ्गति" कहते है।[1] यथा-

नवयोवनेन कुचयोरिन्दुकलाकोमलानि पूर्यन्ते ।
अङ्गान्यसङ्गतानां यूनां हृदि वर्धते कामः।।[2]

इस पद्य में "अङ्गों" का पूर्ण होना" कारण है तथा "कामवृद्धि" कार्य है, इन दोनों का एक ही समय में क्रमशः युवती तथा युवक- इन दो भिन्न स्थानों में कथन है, अतः यह असङ्गति का स्थल है।

परवर्ती काव्यशास्त्रियों में मम्मट से आचार्य विश्वेश्वर पर्यन्त अधिकांश आचार्यों ने असङ्गति का विवेचन किया है तथा इसके उक्त रूप को ही स्वीकार किया है।[3]

1- विस्पष्टे समकालं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र ।
यस्यामुपलभ्येते विज्ञेयासङ्गति सेयम् ।।- का० 9/48

2- वही, 9/49.

3- {क} भिन्नदेशतया त्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।
युगपद् धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसङ्गतिः ।।
- का० प्र० 10/124

{ख} तयोस्तु भिन्नदेशत्वेऽसङ्गतिः । - अ० स० सूत्र 45

{ग} आख्याते भिन्नदेशत्वे कार्यहेत्वोरसङ्गतिः ।
- च० 5/79 पूर्वार्द्ध

{घ} कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे सत्यसङ्गतिः ।
- प्र० र०, पृ०-51।

{ङ} कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः ।
- सा०द० 10/69 पूर्वार्द्ध

{च} हेतुव्यधिकरणं वेत्कार्यं स्याद् सा त्वसङ्गतिः प्रोक्ता: ।
- अ० पृ० 45

{छ} विरुद्धत्वेन आपाततो भासमानं हेतुकार्ययोर्वैयधिकरण्यमसङ्गतिः।
- र०गं०, पृ०- 454.

पिहित-

इस अलङ्कार का विवेचन सर्वप्रथम रुद्रट ने किया है। जहाँ अत्यन्त प्रबल होने के कारण कोई गुण समान आधार वाली तथा असमान गुण वाली उत्पन्न हुई वस्तु को तिरोभूत कर दे, वहाँ पिहित अलङ्कार होता है। यथा-[1]

प्रियतमवियोगजनिता कृशता कथमपि तवेयमङ्गेषु ।[2]
त्वदिन्दुकलाकोमलकान्तिकलापेषु लक्ष्येत ।।

इस पद्य में अत्यन्त प्रबल कान्ति गुण से "कृशता" के तिरोभूत होने का वर्णन है। यह कृशता समान आधार वाली है अर्थात् कान्ति तथा कृशता- दोनों ही नायिका के शरीर रूप आधार में विद्यमान हैं। कृशता कान्ति के असमान {विपरीत} गुण वाली है। अतः यह "पिहित" का स्थल है।

परवर्ती आचार्यों में केवल जयदेव तथा अप्पयदीक्षित ने ही इसका निरूपण किया है, अन्य ने नहीं। इनके अनुसार दूसरे के गुप्त वृत्तान्त को जानकर तदनुसार साभिप्राय चेष्टा पिहित अलङ्कार है।[3] यथा- "प्रिये गृहागते प्रातः कान्ता तल्पमकल्पयत् ।"[4] प्रातः प्रिय को लौटा हुआ देखकर नायिका द्वारा शय्या लगा देना यह स्पष्ट कर देता है कि उसे नायक का परस्त्रीगमन-वृत्तान्त ज्ञात है, अतः यह पिहित का स्थल है।

1- यत्रातिप्रबलतया गुणः समानाधिकरणमसमानम् ।
अर्थान्तरं पिदध्यादाविर्भूतमपि तत्पिहितम् ।।
- का० 9/50

2- वही, 9/51

3- {क} पिहितं परवृत्तान्तज्ञातुरन्यस्य चेष्टितम् । - च०लो०5/109 पूर्वार्द्ध
{ख} पिहितं परवृत्तान्त ज्ञातुः साकूतचेष्टितम्। - कु० 152 पूर्वार्द्ध

4- च० 5/109 उत्तरार्द्ध
कु० 152 उत्तरार्द्ध

हाँ, उद्भट का अनुसरण करते हुए मम्मट तथा सर्वस्वकार इत्यादि ने विशेषोक्ति नाम से जिस अलङ्कार की चर्चा की है, उससे उक्त व्याघात का स्वरूप अत्यधिक साम्य रखता है, क्योंकि इनकी विशेषोक्ति में भी कारण के होते हुए भी कार्योत्पादन नहीं होता।[1]

अहेतु-

जैसा संज्ञा से ही स्पष्ट है कि इस अलङ्कार का कारण से सम्बन्ध है। इस अलङ्कार में कारण के होते हुए भी कार्य रूप विकार सम्पन्न नहीं हो पाता। इसका लक्षण रुद्रट ने इस प्रकार किया है - विकार के प्रबल हेतु के विद्यमान होने पर भी जब अर्थ अपनी स्थिरता के कारण विकृत नहीं हो पाता, उसे अहेतु कहते हैं।[2] यथा-

> स्थेऽपि पेशलेन प्रकोऽप्यचलेन भणिता ।
> वसुदेवं वसुधाधिप मधुरगिरा प्रकम्पनेऽपि ॥[3]

1-{क} यत्सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिबन्धनम् ।
विशेषस्याभिधित्सातस्तद्विशेषोक्तिरुच्यते ॥ - का० सा० सं० 5/4

{ख} विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः । - का०सू० 10/सूत्र 163

{ग} कारणसामग्र्ये कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः । - अ०स० सूत्र 42

{घ} विशेषोक्तिरनुत्पत्तिः कार्यस्य सति कारणे । - च० 5/78 पूर्वार्द्ध

{ङ} तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते । - प्र०रु०, पृ०-509

{च} सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा। - सा०द०10/67 पूर्वार्द्ध

{छ} प्रसिद्धकारणकलापसमानाधिकरण्येन वर्ण्यमाना
कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः । - र० गं० 2/ पृ०-443.

2- बलवति विकारहेतौ सत्यपि नैवोपगच्छति विकारम् ।
यस्मिन्नर्थः स्थैर्यात्तमभ्योऽसावहेतुरिति ॥ - का० 9/54

3- वही, 9/55.

इस पद्य में रुग्णता, वलत्व इत्यादि प्रबल कारणों के होने पर भी राजा रूप अर्थ अपनी स्थिरता [तेजस्विता] के कारण विकार रूप अपेशलता इत्यादि को नहीं प्राप्त हो रहा है।

रुद्रट के अतिरिक्त केवल भोज ने इसका उल्लेख किया है। उनके अनुसार जहाँ पर स्वभाव के द्वारा अथवा शक्ति की हानि के कारण स्वकार्य न हो सके अथवा व्याहत हो जाए, वहाँ अहेतु होता है।[1] स्पष्ट ही रुद्रट के अहेतु से ही इनका तात्पर्य है, किन्तु इनका लक्षण रुद्रट के लक्षण की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एवं सरल है। इनके अतिरिक्त अन्य किसी काव्यशास्त्री ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

इस अहेतु को विभावना का नामान्तर मात्र कहना सर्वथा भ्रामक है।[2] क्योंकि इन दोनों के स्वरूप में स्थूल रूप से भले ही अत्यधिक साम्य प्रतीत हो किन्तु वास्तव में इनमें सूक्ष्म सा भेद अवश्य है, जो रुद्रट के उक्त अलङ्कार के उदाहरण को देखने से अधिक स्पष्ट हो जाता है।

1- वस्तुनो वा स्वभावेन शक्तेर्वा हानिहेतुना ।
अकृतात्मोपकार्यः स्यादहेतुर्व्याहतस्तु यः ।।
- स० कं० भ० 3/18

2- भरत से भोज पर्यन्त अलङ्कारों का इतिहास - डॉ० शारदा सेठ

सप्तम अध्याय

श्लेषमूलक अर्थालङ्कारों का विवेचन

सप्तम अध्याय

श्लेषमूलक अर्थालङ्कार -

इस वर्ग के अन्तर्गत रूद्रट ने अविशेष, विरोध, अधिक इत्यादि दस अलङ्-कारों का निरूपण किया है।[1] उनके अनुसार अनेकार्थक पदों से रचित वाक्य जब अनेक अर्थों की प्रतीति कराता है, उसे अर्थश्लेष कहते हैं।[2] पूर्वविवेचित शब्दश्लेष तथा प्रस्तुत अर्थश्लेष के लक्षणों से स्पष्ट है कि शब्दश्लेष के स्थल में अनेक वाक्यों की ऐसी संयोजना की जाती है कि वे देखने में एक प्रतीत होते हैं, जबकि अर्थ-श्लेष में वाक्य तो एक ही होता है, किन्तु वह अनेकार्थक पदों से निर्मित होने के कारण अनेक अर्थों की प्रतीति कराता है। रूद्रट के दृष्टिकोण से यही इन दोनों का अन्तर है।

जैसाकि शब्दश्लेष के प्रसङ्ग में कहा जा चुका है, मम्मट तथा विश्वनाथ कवि-राज ने रूद्रट का अनुसरण करते हुए शब्दश्लेष से पृथक् रूप में अर्थश्लेष का विवेचन किया है। किन्तु जहाँ रूद्रट ने पदों की अनेकार्थकता को अर्थश्लेष के लक्षण में स्थान देते हैं, वहीं मम्मट तथा कविराज यह प्रतिपादित करते हैं कि एकार्थक पद से रचित एक वाक्य जब अनेक अर्थों की प्रतीति कराता है, उसे अर्थश्लेष कहते हैं।[3] स्पष्ट

1- अविशेषविरोधाधिकवक्रव्याजोक्त्यसम्भवावयवाः ।
   तत्त्वविरोधाभासाविति भेदास्तस्य शुद्धस्य ॥ - का० 10/2

2- यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन् ।
   अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ॥ - वही, 10/1

3- [क] श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत् ।
   एकार्थप्रतिपादकानामेव शब्दानां यत्रानेकोऽर्थः स श्लेषः ॥
   - का० प्र० 10/96 तथा वृत्तिभाग

   [ख] शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम् ।
   - सा० द० 10/57 उत्तरार्द्ध

है कि अर्थश्लेष के स्थलों में एक वाक्य की अनेकार्थकता को इन आचार्यों ने स्वीकार किया है, इसीलिए इन्होंने "पद" के लिए एकार्थक विशेषण का प्रयोग किया है। जबकि रुद्रट ने अनेकार्थक विशेषण।

इन मम्मटादि आचार्यों के लक्षणों को आधार बनाकर विचार करने पर रुद्रट के अर्थश्लेष के लक्षण की अतिव्याप्ति शब्दश्लेष के स्थलों में दिखायी देती है। क्योंकि अनेकार्थक पद भी एक बार उच्चरित होने पर एक ही अर्थ को प्रतीति करा सकते हैं [सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति]। ऐसी स्थिति में "अर्थभेदेन शब्दभेदः" न्याय से पदविशेष से एक से अधिक अर्थों की प्रतीति होने पर एकाधिक शब्दों का श्लेष मानना पड़ता है। चूंकि रुद्रट ने शब्दश्लेष के विवेचन में सभङ्गश्लेष को ही स्थान दिया है, अभङ्ग को नहीं। साथ ही अर्थश्लेष का लक्षण भी उन्होंने ऐसा किया है जो अभङ्ग शब्दश्लेष में घटित होता है, इससे यह प्रतीत होता है कि उन्होंने सम्भवतः अभङ्गश्लेष को ही अर्थश्लेष के रूप में प्रतिपादित किया है। अतः एक प्रकार से देखा जाय तो इन्होंने अर्थश्लेष के नाम से अभङ्ग शब्दश्लेष का ही विवेचन किया है।

इतना होने पर भी काव्यशास्त्र में श्लेष को शब्दालङ्कारों तथा अर्थालङ्कारों के मध्य पृथक्-पृथक् रूप से विवेचित करने का श्रेय रुद्रट को ही है तथा उनकी इस धारणा को परवर्ती काव्यशास्त्र में पूर्णरूप से मान्यता प्राप्त हुई, भले ही परवर्तियों ने अर्थश्लेष का लक्षण इनसे सर्वथा भिन्न रूप से किया है। सम्प्रति श्लेष प्रभेदों पर विचार किया जायेगा।

<u>अविशेष -</u>

रुद्रट के अनुसार उक्त श्लेष के स्थल में समान विशेषणों से रचित वाक्य एक अर्थ से भिन्न दूसरे अर्थ की प्रतीति कराता है।[1] यथा-

---

1- अविशेषः श्लेषोऽसौ विशेष्यं यत्र वाक्यमेकस्मात् ।
   अर्थादन्यं गमयेदविशिष्टविशेषणोपेतम् ।। - का० 10/3

शरदिन्दुकुन्दरूपं सुकुमारां सुरभिपरिमलामनिशम् ।
निदधाति नाल्पपुण्यः कण्ठे नवमालिकां कान्ताम्॥[1]

इस पद में "शरदिन्दुकुन्दरूपं" इत्यादि समान विशेषणों के कारण "कान्ता" पद से भिन्न "नवमालिका" सम्बन्धी अर्थ की भी प्रतीति हो रही है।

विरोधश्लेष-

जहाँ प्राकरणिक अर्थविशेष अन्य विरुद्ध विशेषण वाले अर्थ सामान्य की प्रतीति कराता है, उसे विरोधश्लेष कहते हैं।[2] यथा-

सम्वर्धितविविधाधिककमलोऽप्यवदलितनालिकः सोऽभूत् ।
सकलारिदाररसिकोऽप्यनभिमतपराङ्•गनासङ्•गः ॥[3]

"नाना प्रकार की लक्ष्मी का भरण करने वाला, शत्रुओं का विनाश करने वाला, सकल शत्रुओं के विनाश में आनन्द लेने वाला और परकीया नायिका के गमन में पराङ्•मुख कोई अनोखा ही [राजा] था। [पक्षान्तर] प्रचुर कमलों का पोषण करने वाला, नालों को खाने वाला, सकल शत्रुरमणियों का रस लेने वाला परकीया के साथ अभिसरण न करने वाला कोई अनोखा ही [राजा] था।

इस पद्य में "राजा" पद का अर्थ प्राकरणिक है, इसके अतिरिक्त उक्त प्राकरणिक वाक्य अर्थान्तर का बोध करा रहा है, जिसके विशेषण विरुद्ध हैं जैसे जो विविध कमलों को उगाने वाला है [सम्वर्धित विविधाधिक कमलो] वही उसकी नाल को क्यों खायेगा [अवदलितनालिकः] इसी प्रकार "सकलारिदाररसिक" ही "अनभिमतपराङ्•गनासङ्•ग" कैसे होगा। इस प्रकार विशेषणों के विरुद्ध होने के कारण यह "विरोध" है।

1- वही, 10/4
2- यत्र विरुद्धविशेषणमवगमयेदन्यदर्थसामान्यम् ।
   प्राकरणिकोऽन्यादृग्वा वाक्यस्थोऽसौ विरोधोऽसौ ॥ - वही, 10/5
3- वही, 10/6

अधिक श्लेष -

जहाँ प्रकृत वाक्य प्राकरणिक (आरब्धात्) अर्थ से असमान विशेषण वाले अन्य अर्थ को अधिक उत्कृष्ट प्रतीत कराता है, वह अधिकश्लेष होता है।[1] यथा-

> प्रेम्णा निधाय मूर्धनि कुटिलमपि बिभर्ति यः कलावन्तम् ।
> भूतिं च वृषारूढः स एव परमेश्वरो जयति ॥[2]

यहाँ मैं रत जो त्रिदण्ड कुटिल को प्रेमपूर्वक शिरसा स्वीकार करते हैं और जो समृद्धिमान् हैं वे ही महाराज विजयी हों। (प्रकान्त अर्थ)

बैल पर सवार जो टेढ़े भी चन्द्रमा को और भस्म को प्रेमपूर्वक सिर पर रख कर धारण करता है वही परमेश्वर विजयी हो। (गम्यार्थ)

इसमें राजा सम्बन्धी प्राकरणिक अर्थ वाला वाक्य शङ्कर सम्बन्धी अधिक उत्कृष्ट अर्थ की प्रतीति करा रहा है, अतः यह अधिकश्लेष का स्थल है।

वक्रश्लेष -

जहाँ अपने अर्थ का अभिधान करने वाले वाक्य से प्राकरणिक से भिन्न रस वाला तथा उस प्राकरणिक से सम्बद्ध अन्य प्रासङ्गिक अर्थ गम्य होता है उसे वक्रश्लेष कहते हैं।[3] यथा-

> आकृष्य कचयोर्विदधत्सव्याजलं सभाङ्गनानाम् ।
> पतति करः काम्यामपि तव निर्जितकामरूपस्य ॥[4]

1- यत्राधिकमारब्धादसमानविशेषं तथा वाक्यम् ।
अर्थान्तरमवगमयेदधिकश्लेषः स विज्ञेयः ॥ - वही, 10/7

2- वही, 10/8

3- यत्रार्थादन्यरसस्तदुक्तिबद्धश्च गम्यतेऽन्योऽर्थः ।
वाक्येन कुशलितो वक्रश्लेषः स विज्ञेयः ॥ - का० 10/9

4- वही, 10/10.

इस पद्य में वीर रस सम्बन्धी प्रकृत अर्थ के साथ श्रृङ्गार रस सम्बन्धी अन्य अर्थ की भी प्रतीति हो रही है।

व्याजश्लेष -

जिस वाक्य में विवक्षित स्तुति से भिन्न {अन्य} निन्दा अथवा विवक्षित निन्दा से भिन्न स्तुति प्रतीत होती है, उसमें व्याजश्लेष होता है।[1] यथा-

> त्वयाम्बर्ये समुपेत्य दत्तमिदं यथा भोगवते शरीरम् ।
> तथास्य ते दूति कृतस्य शक्या प्रतिक्रियानेन न जन्मना मे ॥[2]

इस पद्य में स्तुति के व्याज से निन्दा {दूती की} की गयी है। इसी प्रकार -

> नो भीतं परलोकतो गणितः सर्वः स्वकीयो जनो
> मर्यादापि च लङ्घिता न च तथा मुक्ता न गोत्रस्थितिः ।
> भुक्ता साहसिकेन येन सहसा राज्ञां पुरः पश्यतां
> स मैदिन्यपरैः परं परिहृता स्वैरगम्येति ॥[3]

"अन्य सब लोगों के द्वारा जो "अगम्या है" इसलिए छोड़ दी गयी थी। उस मैदिनी {शिल्पी की स्त्री (प्रकान्त) पृथ्वी (प्रतीत)का जिस साहसी ने सहसा राजाओं के समक्ष भोग किया {वह} न तो परलोक से डरा, न अपने सभी स्वजनों की परवाह की, मर्यादा का उल्लङ्घन कर गया और कुल की स्थिति का त्याग कर गया।"

इस उदाहरण में निन्दा के व्याज से स्तुति की गयी है।

1- यस्मिन्निन्दा स्तुतितो निन्दाया वा स्तुतिः प्रतीयते ।
अन्यौ विवक्षिताया व्याजश्लेषः स विज्ञेयः ॥ - का० 10/11

2- वही, 10/12

3- वही, 10/13

इनसे पूर्व भामह तथा वामन ने व्याजस्तुति नाम से जिस अलङ्कार का निरूपण किया था[1] उसमें इस अलङ्कार {व्याजश्लेष} का सङ्केत तो अवश्य मिलता है किन्तु इसके विषय में इनकी व्याख्या अत्यधिक स्पष्ट नहीं है। इनकी अपेक्षा उद्भट का निरूपण अधिक स्पष्ट है। उनके अनुसार जहाँ अभिधा द्वारा ज्ञात हो निन्दा, किन्तु वास्तव में की गयी हो स्तुति, वहाँ व्याजस्तुति होता है।[2] उन्होंने भी इसके एक ही पक्ष पर दृष्टि डाली है। रुद्रट ने ही सर्वप्रथम इसका क्षेत्र विस्तृत किया तथा उसी के अनुसार इसकी संज्ञा में से "स्तुति" पद हटाकर व्याज के साथ श्लेष को संयुक्त किया।

प्राय: सभी परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने इनका अनुसरण करते हुए निन्दा अथवा स्तुति के व्याज से क्रमश: की गयी स्तुति अथवा निन्दा के स्थल पर उक्त अलङ्कार को स्वीकार किया है, किन्तु संज्ञा {व्याजस्तुति} भामहादि से ही ग्रहण की है।[3]

1- {क} दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यताम् ।
किञ्चिद् विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ ।।- का० 3/31
{ख} सम्भाव्यविशिष्टकर्माकरणान्निन्दास्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः ।
- का० सू० वृ० 4/3/24

2- शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते ।
वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता।। - का० सा० स० 5/9

3- {क} व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।-का०प्र० 10/169
{ख} स्तुतिनिन्दाभ्यां निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः।-अ०स० 38
{ग} उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः। -च०5/71पूर्वार्द्ध
{घ} निन्दया वाच्यया यत्र स्तुतिरेवावगम्यते ।
स्तुत्या वा गम्यते निन्दा व्याजस्तुतिरसौ मता।।- प्र०र०, पृ०-536.
{ङ.} .... उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः ।।
स्तुति निन्दाभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः।
- सा०द० 10/59-60
{च} आमुख प्रतीताभ्यां निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः क्रमेण पर्यवसानं व्याजस्तुतिः । - र० गं० 2/पृ०-365
{छ} मुखे स्तुतिः निन्दा वाहृदये व्याजस्तुतिः स्यात् तत्तदन्यथा।
- अ० कौ० 8/277
{ज} व्याजस्तुतिर्विपर्ययपर्यवसानेऽस्तुतिस्तुत्योः। - अ० कु० 3/पूर्वार्द्ध

उक्तिश्लेष -

व्याजश्लेष के पश्चात् रूद्रट ने उक्तिश्लेष का निरूपण किया है। उनके अनुसार जहाँ विवक्षितार्थ को पुष्ट करती हुई तद्भिन्न प्रसिद्ध लौकिकोक्ति गम्य हो, उसे उक्तिश्लेष कहते हैं।[1] यथा-

> कलावतः सम्भृतमण्डलस्य यथा करस्थैव कृताशु लक्ष्मीः ।
> नृणामपाङ्गेन कृतश्च कामस्तस्याः करस्था ननु नाविकश्रीः ।।[2]

इस उदाहरण में नायिका- सम्बन्धी "कमलों की शोभा उसके हाथ में है" इस विवक्षितार्थ के साथ नर्तकी- सम्बन्धी मुखजन की सम्पत्ति उसके हाथ में है, इस अन्यार्थ की भी प्रतीति हो रही है और यह अर्थ उक्त विवक्षितार्थ की पुष्टि भी कर रहा है, अतः यह उक्तिश्लेष का स्थल है।

असम्भवश्लेष -

उक्तश्लेष में किसी वाक्य से प्राकरणिक अर्थ के साथ-साथ अन्य अर्थ की भी प्रतीति होती है, किन्तु प्राकरणिक के विशेषण अन्य के विपरीत (असम्बद्ध) होते हैं।[3] यथा-

> परिहृतभुजङ्गसङ्गः समन्मनो न कुरुते वृथं वाधः ।
> नन्वन्य एव दृष्टस्त्वमत्र परमेश्वरो जगति ।।[4]

1- यत्र विवक्षितमर्थं पुष्यन्ती लौकिकी प्रसिद्धोक्तिः ।
   गम्येतान्या तस्माद् उक्तिश्लेषः स विज्ञेयः ।।- का० 10/14

2- वही, 10/15.

3- गम्येत प्राक्रान्तादसम्भवत्तद्विशेषणोऽन्योऽर्थः ।
   वाक्येन सुप्रसिद्धः स ज्ञेयोऽसम्भवश्लेषः ।। - का० 10/16

4- वही, 10/17.

उक्त उदाहरण में राजा अर्थ प्राकरणिक है तथा शङ्कर अर्थ अप्राकरणिक। "परिहृतभुजङ्गसङ्गः" इत्यादि विशेषण शङ्कर से असम्बद्ध है या यह कहना चाहिए कि ये विशेषण शङ्कर के लिए असम्भव हैं। अतः यह असम्भव श्लेष का स्थल है।

अवयवश्लेष -

इस श्लेष में भी प्रधान अर्थ का पोषण अन्य अर्थ करता है। इस प्रधान अर्थ के विशेषण अवयव रूप में होते हैं[1] अर्थात् विशेषण एक एक अङ्ग {अवयव} के प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तव में ये पृथक्- पृथक् भाग के विशेषण न होकर समूचे समुदाय के होते हैं। स्पष्ट है कि इसमें अवयवों के माध्यम से समुदाय के विशेषण कहे जाते हैं। यथा-

> भुजयुगल बलभद्रः कलकण्ठवने तथा बलिजित् ।
> अक्रूरो हृदयेऽसौ राजाभूदर्जुनो यशसि ।।[2]

इस पद्य में राजा प्राकरणिक अर्थ है, बलभद्र {बलराम} इत्यादि अन्य अर्थ हैं तथा भुजयुगल, कलकण्ठवन हृदय तथा यश से सम्बन्धित बलभद्र, बलिजित, अक्रूर एवं अर्जुन- ये विशेषण इनके न होकर समुदाय रूप राजा के विशेषण हैं। अतः यह अवयवश्लेष का स्थल है।

1- यत्रावयवमुखस्थितसमुदायविशेषणं प्रधानार्थस्य ।
 पुष्यत्यन्यार्थतान्यः सोऽयं स्यादवयवश्लेषः ।।
 - वही, 10/18

2- वही, 10/ 19.

<u>तत्त्वश्लेष -</u>

जिस प्रकार अवयवश्लेष में प्राकरणिक अर्थ को पुष्ट करता हुआ अन्य अर्थ प्रतीत होता है, उसी प्रकार तत्त्व श्लेष में प्राकरणिक अर्थ के तत्त्वों को पुष्ट करता हुआ अन्य अर्थ प्रतीत होता है।[1] यथा-

> नयने हि तरलतारे कुरुतु कपोलौ च चन्द्रकान्तौ ते ।
> अधरोऽपि पद्मरागस्फुरनरत्नं ततो वदनम् ।।[2]

इस पद्य में तरलतारे, चन्द्रकान्त तथा पद्मराग- ये विशेषण अपने अपने से सम्बन्धित तत्त्वों-नयन, कपोल तथा अधर के हैं। इनसे गम्य तरल {हार की मध्यमणि} चन्द्रकान्त तथा पद्मराग मणि रूप अन्य अर्थ प्रधान अर्थ नयनादि को पुष्ट कर रहा है।

<u>विरोधाभास -</u>

अर्थश्लेष के अन्तिम भेद के रूप में रुद्रट ने विरोधाभास का निरूपण किया है। उनके अनुसार जिसमें एक वाक्य परस्पर पृथक् ऐसे दो अर्थों की विरुद्ध सी प्रतीति कराता है, जो वास्तव में विरुद्ध न होते हुए भी स्वरूपतः विरुद्ध प्रतीत होते हैं, वहाँ विरोधाभास अलङ्कार होता है।[3] यथा-

> तव दक्षिणोऽपि वामो बलभद्रोऽपि प्रलम्ब एवभुजः ।
> दुर्योधनोऽपि राजन् युधिष्ठिरोऽस्तीत्यहो चित्रम् ।।[4]

1- यस्मिन्वाक्येन तथा प्रक्रान्तस्य प्रसाध्यते तत्त्वम् ।
गम्येतान्यद्वाक्यं तत्त्वश्लेषः स विज्ञेयः ।। - का० 10/20

2- वही, 10/21।

3- स इति विरोधाभासो यस्मिन्नर्थद्वयं पृथग्भूतम् ।
अन्यद् वाक्यं गमयेद्विरुद्धं सविरुद्धमिव ।। - वही, 10/22

4- वही, 10/23

इसमें दक्षिण- वाम, बलभद्र {बलराम} प्रलम्ब इत्यादि परस्पर विरुद्ध प्रतीत हो रहे हैं, किन्तु ये शब्द एक दूसरे से पृथग्भूत {अलग-अलग} हैं तथा इनके पृथक्-पृथक् अर्थ हैं, इनमें विरोध का आभासमात्र हो रहा है, वास्तव में विरोध नहीं है।

उदाहरण में यह तथ्य विचारणीय है कि यहाँ प्रयुक्त दुर्योधन तथा युधिष्ठिर इत्यादि पदों में शब्दपरिवृत्त्यासहत्व है, अतः यह मम्मट के मत के अनुसार अभङ्गश्लेष {शब्दश्लेष} का स्थल है, अर्थश्लेष का नहीं। पूर्व विवेचन से स्पष्ट है कि रुद्रट ने शब्दश्लेष के वर्णादि आठ भेद {सभङ्ग} प्रतिपादित किए हैं, निश्चय ही अभङ्गश्लेष को उन्होंने अर्थश्लेष माना होगा। इसलिए इस स्थल में शब्दपरिवृत्यसहत्व होते हुए भी उनकी दृष्टि में यह अर्थश्लेष का स्थल है, शब्द-श्लेष का नहीं।

अन्य आचार्यों में केवल चन्द्रालोककार तथा अप्पयदीक्षित ने उक्त अलङ्कार का विवेचन किया है, चन्द्रालोककार ने तो रुद्रट की भाँति इसे श्लेषमूलक कहा है।[1] शेष भामह से विश्वेश्वर पण्डित पर्यन्त वाग्भट, सर्वस्वकार इत्यादि कुछ ने "विरोध" नाम से जिस अलङ्कार का विवेचन किया है, वह रुद्रट के उक्त विरोधाभास से बहुत कुछ साम्य रखता है,[2] किन्तु इनका अपना विरोधालङ्कार इनके विरोधाभास से पर्याप्त भिन्न है।

1- {क} श्लेषादिभिर्विरोधश्चेद् विरोधाभासता मता।
- च० 5/75 पूर्वार्द्ध

{ख} आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते। - कु०

2- {क} विरुद्धाभासत्वं विरोधः। - का० सू० वृ० 4/3/12

{ख} विरुद्धाभासत्वं विरोधः। - अ० स० सूत्र- 41.

अष्टम अध्याय

एक से अधिक वर्गों में आने वाले अलङ्कारों का विवेचन

अष्टम अध्याय

एक से अधिक वर्गों में आने वाले अलङ्कार -

जैसा कि पहले कहा जा चुका है रुद्रटकृत अर्थालङ्कारों के चार वर्गों में विभाजित अलङ्कारों में कुछ ऐसे भी अलङ्कार हैं जिनका रुद्रट ने एक से अधिक वर्गों में विवेचन किया है। इन अलङ्कारों को न केवल एक अधिक वर्गों में विवेचित किया गया है अपितु इनके लक्षण भी पृथक्- पृथक् किये गये हैं उन अलङ्कारों की प्रस्तुत अध्याय में समीक्षा की जाएगी।

सहोक्ति -

इस अलङ्कार का आचार्य रुद्रट ने वास्तव तथा औपम्य- इन दो वर्गों में पृथक्- पृथक् रूप से विवेचन किया है। इन्होंने वास्तवमूलक सहोक्ति के दो भेद बताए हैं; इन दोनों भेदों में कर्तृभूत तथा कर्मभूत अर्थों का साथ-साथ कथन होता है। इस प्रकार इसमें कार्य-कारणभाव की प्रधानता रहती है। इन दोनों में अन्तर यह होता है कि प्रथम प्रकार की सहोक्ति में कर्तृभूत अर्थ प्रधान रूप में वर्णित होता है तथा कर्मभूत गौण रूप में[1] जबकि द्वितीय प्रकार की सहोक्ति में इसके विपरीत होता है। रुद्रट के अनुसार कर्मभूत अर्थ को उसी समय में अपने समान गुणों वाला

1- पूर्वस्यां कर्तुः प्राधान्यं क्रियमाणस्य गुणभावः ।
इह तु क्रियमाणस्य प्राधान्यं कुर्वतस्त्वप्राधान्यमिति भेदः।
- का० 7/16 नमिसाधुकृत टीका

बनाते हुए कर्तृभूत अर्थ की उस कर्मभूत अर्थ के साथ उक्ति को प्रथम प्रकार की सहोक्ति कहते हैं तथा द्वितीय प्रकार की सहोक्ति में कर्मभूत अर्थ का कर्तृभूत अर्थ के समान धर्म से युक्त होते हुए उसी अर्थ के साथ-साथ कथन होता है।[1] यथा -

> कष्टं सखे क्व यामः सकलजगन्मन्मथेन सह तस्याः ।
> प्रतिदिनमुपैति वृद्धिं कुचकलशनितम्बभित्तिभरः ।।[2]

इस उदाहरण में कुचयुग्म तथा नितम्बों का भार कर्तृभूत अर्थ है और यह अर्थ कर्मभूत मन्मथ अर्थ को अपने समान गुण [वृद्धि] वाला बनाता हुआ उस कर्मभूत अर्थ के साथ-साथ उक्त है, अतः यह प्रथम की सहोक्ति है।

> भवदपराधैः सार्धं सन्तापो वर्धितास्तस्याः ।
> क्षयमेति सा वराकी स्नेहेन समं त्वदीयेन ।।[3]

इस उद्धरण में द्वितीय प्रकार की सहोक्ति है, क्योंकि इसमें कर्मभूत "सन्ताप" तथा "सा वराकी" अर्थ की कर्तृभूत अपराध तथा स्नेह- रूप अर्थों के समान होते हुए साथ-साथ उक्ति है।

1- भवति यथा रूपोऽर्थः कुर्वन्नेवापरं तथाभूतम् ।
उक्तिस्तस्य समाना तेन समं या सहोक्तिः सा ।।
यो वा येन क्रियते तेनैव भवता च तेन तस्यापि ।
अभिधानं यत्क्रियते समानमन्या सहोक्तिः सा ।।
- वही, 7/13,15

2- वही, 7/14

3- वही, 7/15

इसके साथ ही एक अन्य प्रकार की सहोक्ति भी रुद्रट ने बतायी है, जिसमें परस्पर निरपेक्ष एक ही प्रकार के दो अर्थों का एक ही काल में कथन होता है।[1] यथा-

> कुमुददलैः सह सम्प्रति विघटन्ते चक्रवाकमिथुनानि ।
> सह कमलैर्ललनानां मानः सङ्कोचमायाति ।।[2]

किन्तु कारिकागत "किल" शब्द के द्वारा इसे सहोक्ति मानने में रुद्रट की अरुचि सूचित होती है, क्योंकि इसमें पूर्ववर्णित "सहार्थ" [एक साथ अभिधान] का अभाव है।[3] इसमें परस्पर निरपेक्ष दो पदार्थों की सह उक्ति है जबकि रुद्रट को परस्पर सम्बद्ध दो पदार्थों की सह उक्ति "सहोक्ति" में अभीष्ट है।

औपम्यमूलक सहोक्ति के भी रुद्रट ने दो भेद बताए हैं। प्रथम सहोक्ति में प्रसिद्ध एवं अधिक क्रिया वाले अर्थ [उपमान] के साथ अन्य अर्थ को भी उसी के समान क्रिया वाला कहा जाता है।[4] यथा-

> मधुपानोद्धृतमुकुरमदकलमकण्ठदीपितोत्कण्ठाः ।
> सपदि मृगैः निजसदनं मनसा सह यान्त्यमी पथिकाः ।।[5]

उक्त पद्य में शीघ्र गमन क्रिया वाले मन के साथ पथिक को उसके समान क्रिया वाला कहा गया है, अतः सहोक्ति अलङ्कार है।

1- अन्योन्यं निरपेक्षौ यावर्थावेककालमेकविधौ ।
   भवतस्तत्कथनं यत्तदपि सहोक्तिः किलेत्यपरे ।। - वही, 7/17

2- वही, 7/18

3- किलशब्दोऽरुच्यौ । - वही, 7/17 नमिसाधुकृत टीका

4- सा हि सहोक्तिर्यस्यां प्रसिद्धगुरुकिक्रियो योऽर्थः ।
   तस्य समानक्रिय इति कथ्येतान्यः समं तेन ।। - वही, 8/99

5- वही, 8/100.

जहाँ एक कर्तृकाक्रिया अनेक कर्मों के आश्रित होती है तथा एक प्रधान उपमेय कर्म अन्य उपमान कर्मों के साथ कहा जाता है, वहाँ औपम्यमूला सहोक्ति का दूसरा प्रकार होता है।[1] यथा-

स त्वां बिभर्ति हृदये गुरुभिरसङ्ख्यैर्मनोरथैः सार्धम् ।
ननु कोपेनऽवकाशः कथमपरस्या भवेद् तत्र ।।[2]

इस उदाहरण में "धारण" क्रिया अनेक कर्मों- नायिका तथा मनोरथों के आश्रित हैं तथा नायक रूप एक कर्ता वाली है, साथ ही उपमेय कर्मरूप नायिका का उपमान कर्मरूप मनोरथों के साथ कथन है, अतः यह दूसरे प्रकार की सहोक्ति है। रुद्रट की इस सहोक्ति के दोनों रूपों को देखने से यह स्पष्ट है कि यह अलङ्कार एक ही है किन्तु रुद्रट ने अर्थालङ्कारों के वर्गीकरण का मापदण्ड जिन वास्तव, औपम्यादि तत्वों को निर्धारित किया है, उनके आधार पर इस अलङ्कार को पृथक्- पृथक् वर्गों में विवेचित करना असङ्गत नहीं है। वास्तव में यदि इस अलङ्कार को एक ही स्थान पर विवेचित किया जाय तो यह अपने वास्तवमूलक भेद एवं औपम्यमूलक भेद तथा उनके भी दो-दो प्रभेदों के साथ विवेचित किया जा सकता है।

सहोक्ति का लक्षण सर्वप्रथम भामह ने किया था। उनके अनुसार एक ही काल में होने वाली भिन्न वस्तुओं की पृथक्- पृथक् क्रियायें यदि एक ही पद से कही जायें, उसे सहोक्ति कहेंगे।[3] यथा-

---

1- यत्रैककर्तृका स्यादनेककर्माश्रिता क्रिया तत्र ।
कर्मैतापरसहितं कर्मैकं सेयमन्या स्यात् ।। - वही, 8/101

2- वही, 8/102

3- तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये ।
पदेनैकेन कथ्येते सहोक्तिः सा मता....।।
- का० 3/39

छिन्नपाताविलदिशो गाढालिङ्गनहेतवः ।
वृद्धिमायान्ति यामिन्यः कामिनां प्रीतिभिः सह ।।[1]

दण्डी ने क्रिया के साथ-साथ गुणों की भी सह उक्ति को सहोक्ति कहा है।[2] इस प्रकार उन्होंने गुणसहोक्ति तथा क्रिया सहोक्ति- इन दो का विवेचन किया है। उद्भट ने भामह के ही लक्षण को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है।[3] प्रतीहारेन्दुराज ने उक्त अलङ्कार में "सह" पद की प्रधानता की ओर इङ्गित करते हुए कहा है कि यद्यपि दीपक में भी दो वस्तुओं की क्रियायें एक ही पद से उक्त होती हैं तथापि यहाँ पर "सह" आदि पदों का प्रयोग समकालिकता का बोध कराता है, दीपक में ऐसा नहीं होता।[4] वामन पर भी भामहकृत लक्षण का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है।[5] इस विवेचन के पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि पूर्ववर्तियों ने सहोक्ति में उपमानोपमेयभाव की चर्चा नहीं की है और न ही उसके भेद-प्रभेद किए हैं। रुद्रट ने ही इसे दो वर्गों में रखते हुए उनके भी भेद-प्रभेद किए हैं। इन्होंने वास्तवमूला सहोक्ति में अन्य आचार्यों को मान्य जिस सहोक्ति [7/17] का उल्लेख किया है उसके लक्षण- उदाहरण भामहादि पूर्ववर्तियों को ... सहोक्ति के अनुरूप ही हैं, क्योंकि पूर्ववर्तियों के उदाहरणों में भी परस्पर निरपेक्ष दो अर्थों का सहकथन है।

1- वही, 3/40
2- सहोक्तिः सहभावस्य कथनं गुणकर्मणाम् ।
- का० द० 2/351 पूर्वार्द्ध
3- का० सा० सं० 5/15
4- ननु संहार हरत्कालः इत्यादावपि दीपके पदेनैकेन वस्तुद्वयसमवेते द्वे क्रिये कथ्येते, अतश्च तत्रापि सहोक्तित्वं प्राप्नोतीत्याशङ्क्योक्तम् - तुल्यकाले इति। यत्र सहादिना पदेन तुल्यकालतामवगम्य वस्तुद्वितीयसमाश्रितो द्वे क्रिये कथ्येते तत्र सहोक्तित्वम् । - वही, 5/15 लघुवृत्ति टीका
5- वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधानं सहोक्तिः ।
- का० सू० वृ० 4/3/28.

परवर्ती वक्रोक्तिजीवितकार ने भामह की सहोक्ति का खण्डन करते हुए उनके उदाहरण में एक दूसरे से सादृश्य सम्बन्ध के कारण सौन्दर्य है, अतः यह उपमा का विषय है[1]- इस प्रकार उपमा को स्वीकार किया है, सहोक्ति को नहीं। उनके अनुसार एक ही वाक्य से वर्णनीयार्थ की सिद्धि के लिए पदार्थों की एक साथ उक्ति ही सहोक्ति है।[2]

भोजराज के अनुसार अन्य के साथ कर्तादि का क्रियादि में समावेश सहोक्ति है। यह समावेश अकेले भी हो सकता है तथा मिश्रित रूप में भी, इसी आधार पर इसके विविक्तता तथा अविविक्तता ये दो भी उन्होंने किये हैं।[3]

काव्यप्रकाशकार के मतानुसार सह अर्थ की सामर्थ्य से जहाँ एक शब्द दो अर्थों को देने में समर्थ हो जाता है, उसे सहोक्ति कहते हैं।[4]

आचार्य रुय्यक ने इसे सादृश्यमूलक अलङ्कारों में गिना है, उनके अनुसार उपमेय तथा उपमान में से एक का प्राधान्य होने पर सह शब्द के अर्थ से अन्य का सम्बन्ध ही सहोक्ति है।[5] वे ही पहले आचार्य हैं जिन्होंने इसे अतिशयोक्ति पर आधारित माना है।[6] उन्होंने इस अतिशयोक्ति के दो भेद किए हैं- कार्यकारणभाव

1- अत्र परस्परसाम्यसम्बन्धो मनोहारित्वनिबन्धनमित्युपमैव ।
- व० जी० 3/ पृ- 393

2- यत्रैकेनैव वाक्येन वर्णनीयार्थसिद्धये ।
उक्तिर्युगपदर्थानां सा सहोक्तिः सतां मता।। - वही, 3/36

3- कर्त्रादीनां समावेशः सहान्यैर्यः क्रियादिषु ।
विविक्तश्चाविविक्तश्च सहोक्तिः सा निगद्यते ।।
- स० कं० भ० 4/18।

4- सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ।
- का० प्र० 10/112 उत्तरार्द्ध

5- उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसम्बन्धे सहोक्तिः।
- अ० स० सू- 30

6- तत्र नियमेन अतिशयोक्तिमूलत्वमस्याः । - वृत्तिभाग

साहित्यदर्पणकार उसे सहोक्ति कहते हैं जिसमें सह शब्द की अर्थसामर्थ्य से एक शब्द दो अर्थों का वाचक हो तथा जिसके मूल में अनिवार्य रूप से अतिशयोक्ति रहे।[1] इनकी सहोक्ति सम्बन्धी परिचर्चा पर रुय्यक का पूर्ण प्रभाव दिखायी पड़ता है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सहोक्ति के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम रुद्रट ने ही विविक्तता दर्शायी, जिसका प्रभाव सर्वस्वकार, अप्पयदीक्षित विश्वनाथ कविराज इत्यादि आचार्यों पर न्यूनाधिक रूप में दिखायी पड़ता है।

समुच्चय -

इसे भी रुद्रट ने वास्तव तथा औपम्य वर्गों के अन्तर्गत विवेचित किया है। काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम रुद्रट ने ही इसका विवेचन किया है। उनके अनुसार अनेक सुखावह तथा दुःखावह वस्तुओं का कथन एक ही आधार में होने पर समुच्चय अलङ्कार होता है, इसके अतिरिक्त सद् तथा असद् के योग में यह समुच्चय तीन प्रकार का होता है- सद्योग, असदसद्योग तथा असद्योग।[3] विभिन्न उदाहरणों के आधार पर नमिसाधु ने स्पष्ट किया है कि "समुच्चय द्रव्य, गुण, क्रिया तथा जाति रूप वाला होता है,[4] किन्तु एक आधार में अनेक जातियाँ नहीं रह सकतीं,

---

1- सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद् वाचकं द्वयोः ।।
सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेद् । - सा0द0 10/54-55

2- अतिशयोक्तिरत्र अभेदाध्यवसायमूला कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययरूपा च ।
अभेदाध्यवसायमूलापि श्लेषभित्तिकान्यथा च । - वही, पृ0- 773.

3- यत्रैकत्रानेकं वस्तु परं स्यात्सुखावहाद्येव ।
ज्ञेयः समुच्चयोऽसौ त्रेधान्यः सदसद्योगः ।। - का0 7/19

4- यत्र समुच्चये एकत्राधारेऽनेकं वस्तु द्रव्यगुणक्रियाजाति-
लक्षणं परमुत्कृष्टं शोभनत्वेन वा स्यात्स समुच्चयः ।।- वही, टीका

इसलिए आगे चलकर स्वयं नमिसाधु कहते हैं कि जाति- समुच्चय सम्भव नहीं है, एक आधार में अनेक जातियाँ हो ही नहीं सकतीं।[1] रुद्रट ने विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से इन सबको प्रस्तुत किया है। यथा-

दुर्गं त्रिकूटं परिखा पयोनिधिः प्रभुर्दशास्यः सुभटाश्च राक्षसाः ।
नरोऽभियोक्ता सचिवैः प्लवङ्गमैः किमत्र नो हास्यपदे महद्भयम् ॥[2]

इस पद्य में "अत्र" शब्द से वाच्य [युद्ध] एक वस्तु आधार है तथा दुर्गादि अनेक वस्तुओं का समुच्चय है। इसी प्रकार-

सुखमिदमेतावदिह स्फारस्फुरदिन्दुमण्डला रजनी ।
सौधतलं काव्यकथा सुहृदः स्निग्धा विदग्धाश्च ॥[3]

यह पद्य सुखावह द्रव्य- समुच्चय का उदाहरण है। इसी प्रकार रुद्रट ने क्रमशः गुण, क्रिया, सद्योग, असद्योग तथा सदसद् योग समुच्चय के भी उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।[4]

1- जातिसमुच्चयस्तु न सम्भवति नह्येकत्रानेका जातिर्विद्यते ।
 - वही, 7/23 टीका

2- वही, 7/20

3- वही, 7/21

4-[क] तरलत्वमनालिन्यं पक्ष्मलतामायतिं सुमाधुर्यम् ।
 आधास्यन्नस्त्रत्वं मदनस्तव नयनयोः कुरुते ॥- वही, 7/22

[ख] प्रस्फुरयन्नधरोष्ठं गात्रे रोमाञ्चमप्यमरः सकलान् ।
 मण्डयति रहसि तरुणीः कुसुमशरस्तारतम्यमन्यस्मै ॥ - 7/23

[ग] सायोदे मधुकुसुमे जनयत्यानन्दो कुमुदा चन्द्रे ।
 क्वचिदपि रूपाणि गुणा जनति गुणाते विधातुरिदम् ॥-7/24

[घ] आलिङ्गिता शरीरैः शशधरपादोऽप्यशुचिनाग्नेन ।
 मरुतोऽतितरां ग्रीष्मे निमतोऽन्यदत्तवस्तु मरौ ॥ - 7/25

[ङ] कमलवनेषु तुषारो रूपविलासाभिलाषिणीषु जरा ।
 रमणीष्वपि दुश्चरितं खातुल्यमीश्च नीचेषु ॥ - 7/26

इनके अतिरिक्त एक और वास्तवमूलक समुच्चय का इन्होंने उल्लेख किया है, जिसमें एक ही समय तथा एक ही स्थान में[1] गुण तथा क्रिया का समुच्चय होता है किन्तु उनके आधार भिन्न- भिन्न होते हैं। यथा-

> विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदमभ्युदाशु विमलं च ।[2]
> प्रखलमुखानि नराधिप मलिनानि च तानि जातानि ।।

इस पद्य में विमल तथा मलिन गुणों का समुच्चय है तथा इनके आधार सेना तथा खलमुख है। इसी प्रकार -

> देवावसमत्र त्वया अपलायतनेकतया नियुक्ताश्च ।[3]
> अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम् ।।

इस उद्धरण में "वियुक्ताः" तथा "समुपागतः" इन क्रियाओं के आधार भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार रुद्रट ने मुख्य रूप से तीन प्रकार के (वास्तवमूलक) समुच्चयों की कल्पना की है।

उनके औपम्यमूलक समुच्चय में अनेक अर्थ उपमानोपमेय भाव से युक्त होते हुए द्रव्यादि रूप एक साधारण धर्म से संयुक्त होते हैं, इसमें इवादि का प्रयोग नहीं होता।[4] यथा-

> जालेन सरसि मीना हरिणैणा वने च वागुरया ।
> संसारे भूतवृन्दा स्नेहेन नराश्च बध्यन्ते ।।[5]

1- व्यधिकरणे वा यस्मिन् गुणक्रिये चैककालमेकस्मिन् ।
   उपजायेते देशे समुच्चयः स्यात् तदन्योऽसौ ।। - वही, 7/27

2- वही, 7/28

3- वही, 7/29

4- सोऽयं समुच्चयः स्याद् यत्रानेकोऽर्थ एकसामान्यः ।
   अनिवादिर्द्रव्यादिः सत्युपमानोपमेयत्वे ।। - वही, 8/103

5- वही, 8/104

इस पद्य में बहेलिया तथा विधाता रूप कर्ताओं, जालादि करणों, जल, वन तथा संसार रूप अधिकरणों में उपमानोपमेयभाव है तथा ये सभी अर्थ "बध्यन्ते" इस साधारण धर्म रूप एक क्रिया से संयुक्त है।

प्राय: अधिकांश परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने इसका निरूपण किया है। भोजराज ने अनेक द्रव्य, क्रिया, गुणादि के क्रिया, द्रव्य तथा गुणादि में निवेश को समुच्चय कहा है।[1]

आचार्य मम्मट पर उक्त अलङ्कार के निरूपण में रुद्रट का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। उनके अनुसार समुच्चय में प्रस्तुत कार्य की सिद्धि के लिए एक साधक के रहते हुए भी अनेक साधकों का होना वर्णित होता है।[2] इस प्रकार उन्होंने रुद्रटकथित लक्षण को ही शब्दान्तर के साथ[3] प्रतिपादित किया है। उन्होंने इसके वस्तु-समुच्चय को मान्यता प्रदान की है। साथ ही गुण समुच्चय, क्रिया समुच्चय तथा गुणक्रियासमुच्चय के पृथक्-पृथक् उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।[4] गुण-समुच्चय का उदाहरण उन्होंने रुद्रट से ही लिया है।[5] साथ ही यह भी कहा है कि सद्योग असद्योग तथा सदसद्योग में यह समुच्चय घटित हो जाता है, अत: इनका पृथक् रूप से लक्षण नहीं किया गया है।[6]

1- द्रव्यगुणक्रियादीनां क्रियाद्रव्यगुणादिषु ।
निवेशनमनेकेषामेकत: स्यात् समुच्चय: ।।
- स० कं० भ० 4/190

2- तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत् । समुच्चयोऽसौ ।
- का० प्र० 10/ 178

3- का०प्र० 10/ पृ०- 555 वृत्तिभाग

4- वही, 10/ पृ०- 557 उदाहरण संख्या 510-11-12

5- वही, 10/ 510

6- एष एव समुच्चय: सद्योगेऽसद्योगे च पर्यवस्यतीति
न पृथक् लक्ष्यते । - वही, पृ०- 555 वृत्तिभाग

अलङ्कार सर्वस्वकार पर मम्मट का पूर्ण प्रभाव पड़ा है, उन्होंने समुच्चय भेदों के लक्षण यहाँ तक कि अधिकांश उदाहरण भी मम्मट से लिए हैं।[1] जगन्नाथ, विश्वनाथ कविराज तथा अप्पयदीक्षित ने भी इन आचार्यों का ही अनुकरण करते हुए उक्त अलङ्कार के लक्षण किये हैं[2] किन्तु जहाँ इन सभी आचार्यों ने पृथक्-पृथक् दो विशेष लक्षण किए हैं, वहीं जयदेव, वाग्भट तथा पण्डितराज ने इसका एक सामान्य लक्षण किया है।[3]

1- [क] गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः ।
एकस्य सिद्धिहेतुत्वेऽन्यस्य तत्करत्वं च ।
- अ० स० सूत्र 66- 67

[ख] वही, पृ०- 596-600

2- [क] गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चय उदाहृतः ।
खलेकपोतन्यायेन बहूनां कार्यसाधने ।
कारणानां समुद्योग स द्वितीय समुच्चय ।
- कु० च०, पृ०- 555-57.

[ख] समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके ।
खलेकपोतिकान्यायात् तत्करः स्यात्परोऽपि चेद् ।
गुणौ क्रिये वा युगपत्स्यातां तद् वा गुणक्रिये ।
- सा० द० 10/84-85

[ग] बहूनां युगपद् भावभाजां गुम्फः समुच्चयः ।
नश्यन्ति पश्चात्पश्यन्ति त्रस्यन्ति च भवद् द्विषः ।।
अहं प्राथमिकाभाजामेककार्यान्वयेऽपि सः ।
कुलं रूपं वयो विद्या धनं च मदयन्त्यमुम् ।।
- कु० 115-16

3- [क] भूयसामेकसम्बन्धभाजां गुम्फः समुच्चयः । - च० 5/97.
[ख] एक यत्र वस्तूनामनेकेषां निबन्धनम् ।
वस्तुस्फुटाप्रस्फुटानां तं वदन्ति समुच्चयम् ।।- वा० 4/130
[ग] युगपत्पदार्थानामन्वयः समुच्चयः । - र० गं० 2/पृ०- 655.

इन सभी काव्यशास्त्रियों के लक्षणों के पर्यवलोकन से स्पष्ट है कि समुच्चय का वही रूप इन्हें मान्य था, जो आचार्य रुद्रट ने निर्धारित किया था, क्योंकि उक्त लक्षणों में तथ्य वही रखे हैं जो रुद्रट ने बताए हैं, उनमें अल्पाधिक अन्तर है। यह अलग बात है कि रुद्रटकृत समुच्चय-लक्षण की अपेक्षा मम्मट का लक्षण अधिक सुगम तथा स्पष्ट है, इसीलिए परवर्ती शास्त्र में उसे ही माना गया। एक अन्य ध्यातव्य तथ्य यह है कि केवल वास्तवमूलक समुच्चय का ही परवर्ती आचार्यों ने विवेचन किया है, औपम्यमूलक समुच्चय का नहीं।

<u>उत्तर-</u>

समुच्चय की भाँति उत्तर अलङ्कार का भी निरूपण सर्वप्रथम रुद्रट ने ही किया है। वास्तवमूलक उत्तर में कहीं-कहीं उत्तर वचनों के श्रवण से पूर्व वचनों का निश्चय किया जाता है तथा कहीं-कहीं प्रश्न से उत्तर की उद्भावना हो जाती है। इस प्रकार यह दो प्रकार का होता है।[1] यथा-

> भज मानमन्यथा मे भ्रुकुटिं मौनं विधातुमसमर्था।
> शक्नोमि तस्य पुरतः सखि न खलु पराङ्मुखी भवितुम्॥[2]

इस पद्य में यह नायिका का वचन है, इससे सखियों के "अपराध करने पर भ्रुकुटि का मौन करके प्रिय के विरुद्ध भाव बना लो" इस पूर्ववचन का निश्चय होता है। इसी प्रकार -

> किं स्वर्गादधिकसुखं बन्धुसुहृत्पण्डितैः समं लक्ष्म्याः।[3]
> सौराज्यमुदितं सत्काव्यरसामृतास्वादः॥

1- उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम्।
क्रियते तदुत्तरं स्यात् प्रश्नादप्युत्तरं यत्र॥
- का० 7/93

2- वही, 7/94

3- वही, 7/95

इसमें प्रश्न से उत्तर की उद्भावना के कारण यह भी उत्तर का स्थल है। इस अलङ्कार का परिसंख्या से भेद स्पष्ट करते हुए मम्मट कहते हैं कि प्रश्नपूर्विका परिसंख्या में अन्य की व्यावृत्ति में तात्पर्य होता है किन्तु इसमें वाच्यार्थ में ही तात्पर्य विश्रान्त हो जाता है। यही इन दोनों का भेद है।[1]

औपम्ययुक्त उत्तर में उपमान का कथन प्रश्न रूप में होता है तथा उपमेय का उत्तर रूप में कथन किया जाता है अर्थात् जहाँ ज्ञात वस्तु [उपमान] से भिन्न उपमेय के पूछे जाने पर यह प्रसिद्ध कार्य के कारण तत्त्वतः ज्ञात वस्तु [उपमान] के समान धर्म वाली वस्तु [उपमेय] का कथन होता है, उसे औपम्ययुक्त उत्तर कहते हैं।[2] यथा-

> किं मरणं दारिद्र्यं को व्याधिर्जीवितं दरिद्रस्य ।
> कः स्वर्गः सन्मित्रं सुकलत्रं सुप्रभुः सुसुतः ॥[3]

इस पद्य में "मरण" ज्ञातवस्तु है। दारिद्र्य अकिंचित्करत्व दुःखकारित्व आदि समान धर्म के कारण मरण [उपमान] के प्रति उपमेय रूप है।

काव्यप्रकाशकार ने उन स्थानों पर "उत्तर" की उपस्थिति स्वीकार की है, जहाँ उत्तर के श्रवण से प्रश्न की कल्पना कर ली जाय तथा जहाँ अनेकशः प्रश्न होने पर अनेकशः असम्भावित उत्तर होते हों,[4] इससे स्पष्ट है कि उन्होंने वास्तवयुक्त उत्तर को "उत्तर" अलङ्कार कहा है, औपम्ययुक्त उत्तर का उन्होंने इसमें

1- प्रश्नपरिसंख्यायामन्यव्यपोहे एव तात्पर्यम् इह तु वाच्ये एव विश्रान्तिरित्यनयोर्विवेकः । - का० प्र० 10/122 पूर्वार्द्ध वृत्तिभाग

2- यत्र ज्ञातादन्यत्पृष्टस्तत्त्वेन वक्ति तत्तुल्यम् ।
कार्येणानन्यसमव्यातेन तदुत्तरं [illegible] ज्ञेयम् ॥- वही, 8/72

3- वही, 8/73

4- .....उत्तरश्रुतिमात्रतः ।
प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति ॥- 10/121
असकृदसम्भाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरं । - का०प्र० 10/122

उल्लेख नहीं किया है, इस अलङ्कार की दूसरी स्थिति में रुद्रट ने असम्भाव्यता तथा प्रश्नगत अनेकता को नहीं रखा है इसीलिए मम्मट का प्रथम उदाहरण[1] तो रुद्रट के उदाहरण के ही समान हैं किन्तु द्वितीय उदाहरण में जहाँ रुद्रट ने एक प्रश्न रखा है वहीं मम्मट ने अनेक प्रश्न रखे हैं।[2] असम्भाव्य उत्तर से मम्मट का तात्पर्य है - लौकिक ज्ञान का विषय न होने के कारण दुर्ज्ञेय उत्तर।[3] यद्यपि रुद्रट के उदाहरण में - "किं स्वर्गादधिकसुखं ?" इस प्रश्न का उत्तर असम्भाव्य है। तथापि उन्होंने लक्षण में इस पद को नहीं रखा है, इसीलिए मम्मटकृत लक्षण रुद्रट-कृत लक्षण की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है।

सर्वस्वकार, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ कविराज ने मम्मट का अनुसरण करते हुए इस अलङ्कार का विवेचन किया है।[4] मम्मट[5] की भाँति सर्वस्वकार ने भी अनेकता का होना इसलिए आवश्यक बताया है क्योंकि एक प्रश्न तथा उत्तर में चारुता नहीं होती।[6]

1- वाणिजक, हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च ।
   यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा ।। - वही, पृ0- 572

2- का विषमा दैवगतिः किं लब्धव्यं यज्जनो गुणग्राही ।
   किं सौख्यं सुकलत्रं किं दुःखं यत्खलो लोकः ।। - वही, पृ0- 573

3- प्रश्नादनन्तरं लोकातिक्रान्तगोचरतया यदसम्भाव्यरूपं प्रतिवचनं
   स्यात्तदपरमुत्तरम् । - वही, वृत्तिभाग पृ0- 573

4- [क] उत्तरात् प्रश्नोन्नयनमसकृदसम्भाव्यमुत्तरं चोत्तरम् । - अ0स0 सूत्र-75
   [ख] यत्रोत्तराच्छ्रूयमाणात् प्रश्न उन्नीयते तदेकमुत्तरम् ।
      चारुत्वार्थमसकृल्लोकोत्तरं प्रश्नप्रतिपादनपूर्वमुत्तरम् द्वितीयमुत्तरम् ।।
      - प्र0 रु0, पृ0-552
   [ग] उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि ।
      यच्चासकृदसम्भाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम् ।।- सा0द0 10/82

5- अनयोश्च सकृदुपादाने न चारुताप्रतीतिरित्यसकृदित्युक्तम् ।-का0प्र0 10/पृ0-573

6- यत्र च प्रश्नपूर्वकमसम्भावनीयमुत्तरं, तच्च न सकृद् तावन्मात्रेण
   चारुत्वाप्रतीतेः । - अ0 स0 सूत्र 75 वृत्तिभाग

अप्पयदीक्षित ने इस अलङ्कार का विवेचन कुछ नवीन रूप में किया है। उनके अनुसार उत्तर अलङ्कार वह है, जिसमें किसी विशेष अभिप्राय से युक्त गूढ़ उत्तर दिया जाए।[1] यथा-

यत्रासौ वेतसी पान्थ । तत्रेयं सुतरा सरित्[2] ।

किसी के द्वारा नदी को पार करने का स्थल पूछने पर कोई स्वयं दूती यह गूढ़ाभिप्राययुक्त उत्तर देती है। इसके साथ ही उन्होंने निबद्ध प्रश्नोत्तर का उदाहरण[3] तथा चित्रोत्तर नामक भेद का भी उल्लेख किया है, उनके अनुसार उत्तर के प्रश्न से अभिन्न होने पर अथवा अन्य किसी उत्तर से अभिन्न होने पर चित्रोत्तर नामक अलङ्कार भेद होता है।[4] यथा-

दारपोषणरता: के हेटा:, किं चलं वय:।

पण्डितराज जगन्नाथ ने उत्तर का सामान्य लक्षण करते हुए मम्मट-अभिमत उन्नीत प्रश्न तथा निबद्ध प्रश्न वाले दोनों प्रकार के उत्तरभेदों को मान्यता प्रदान की है।[5] इन भेदों के भी उन्होंने अनेक उपभेद किए हैं।[6] विश्वेश्वर पण्डित ने भी उक्त दोनों भेदों के साथ उत्तर अलङ्कार का विवेचन प्रस्तुत किया है।[7]

उपर्युक्त सभी तथ्यों से स्पष्ट है कि रुद्रट के इस अलङ्कार का विवेचन प्राय: सभी परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने किया है और केवल वास्तवमूलक उत्तर को ही इन सबने मान्यता दी है।

1- किञ्चिदाकूतसहितं स्याद्गूढोत्तरमुत्तरम् । - कु० 149 का पूर्वार्द्ध
2- वही, 149 उत्तरार्द्ध
3- वही, पृ०- 246
4- प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते । - वही, 150
5- प्रश्नप्रतिबन्धकज्ञानविषयीभूतोऽर्थ उत्तरम् ।
   तच्चोत्तरं द्विविधम् उन्नीतप्रश्नं, निबद्धप्रश्नं च ।
   - र०गं० 2/पृ०- 764 एवं 763
6- वही, 774 से 777
7- उत्तरमात्रात्प्रश्नोन्नयने स्यादुत्तरं नाम ।
   प्रश्न लोकविविक्तोत्तरस्य तन्मात्रतत्प्रोक्तौ ।।
   - अ० कु० 39वीं कारिका

विषम-

समुच्चय की ही भाँति "विषम" अलङ्कार भी आचार्य रुद्रट की उद्भावना है। उन्होंने इसका विवेचन वास्तव तथा अतिशय- इन दो वर्गों के अन्तर्गत किया है। उन्होंने वास्तवमूलक विषम के अनेक रूप प्रस्तुत किये हैं-

प्रथम प्रकार का विषम उस स्थान पर होता है जहाँ दो अर्थों के बीच सम्बन्ध न होने पर भी दूसरों के मत में उस सम्बन्ध को मानकर वक्ता उस सम्बन्ध का खण्डन करता है।[1] यथा-

> यो यस्य नैव विषयो न स तं कुर्याद्हठो बलात्कार: ।
> सततं खलेषु भवतां क्व खला: क्व च सज्जनस्तुतय: ॥[2]

इस उदाहरण में दुष्ट तथा सज्जनस्तुति में सम्बन्ध न होने पर भी दूसरे के मत में इसे मानते हुए उसका खण्डन किया गया है।

दूसरे प्रकार के विषम में वस्तुओं के विद्यमान सम्बन्ध के अनौचित्य अथवा असम्भव के भाव का कथन किया जाता है।[3] यथा-

> रूपं क्व मधुरमेतत्क्व चेदमस्या: सुदारुणं व्यसनम् ।
> इति चिन्तयन्ति पथिकास्तव वैरिवधूं वने दृष्ट्वा ॥[4]

उक्त पद्य में रूप तथा व्यसन (कष्ट) - इन दो अर्थों के सम्बन्ध का अनौचित्य प्रदर्शित किया गया है।

1- विषम इति प्रसिद्धोऽसौ वक्ता विघटयति कमपि सम्बन्धम् ।
   यत्रार्थयोरसन्तं परमतमाशङ्क्य तत्सत्त्वे ॥ - काव्यालङ्कार 7/47

2- वही, 7/48

3- अभिधीयते सतो वा सम्बन्धस्यार्थयोरनौचित्यम् ।
   यत्र स विषमोऽन्योऽयं यत्रासम्भाव्यभावो वा ॥ - वही, 7/49

4- वही, 7/50

तीसरा विषम चार प्रकार का होता है - जहाँ [क] कर्ता स्वल्प कार्य भी न करे, [ख] गुरु होने पर भी कार्य को करे [ग] अशक्त होने पर भी कर्ता कार्य को करे तथा [घ] अधिक [समर्थ] होने पर भी कर्ता कार्य न करे।[1] यथा-

> त्वद्भृत्यावयवानपि सोढुं समरे क्षमा न ते क्षुद्राः ।
> असि धारा पथपतितं त्वं तु निहन्या महेन्द्रमपि ।।
> त्वं तावदास्व दूरे भृत्यावयवोऽपि ते निहन्त्यहितान् ।
> का गणना: तैः समरे सोढुं शक्रोऽपि न सहस्त्वाम् ।।[2]

प्रस्तुत पद्य में चारों के उदाहरण हैं। जो क्रम से हैं- सेवकों के अवयव [अस्त्र-शस्त्र] का सहन करने रूप स्वल्प कार्य को करने में शत्रु सक्षम नहीं हैं। राजा इन्द्र-वधरूप गुरु कार्य को भी कर लेता है। अशक्त होने पर भी सेवक शत्रुवध रूप कार्य करते हैं तथा अधिक [समर्थ] होने पर भी इन्द्र राजा के पराक्रम को नहीं सह सकता।

इसके अतिरिक्त एक अन्य विषम का भी लक्षण-उदाहरण रुद्रट ने किया है। इसमें कर्म के नाश से न केवल कर्मफल नष्ट होता है अपितु अनर्थ भी प्राप्त होता है।[3] यथा-

> उत्कण्ठा परितापो रणरणकं जागरस्तनोस्तनुता ।
> फलमिदमहो मयाप्तं सुखाय मृगलोचनां दृष्ट्वा ।।[4]

यहाँ नायिका को देखकर मिलने वाले सुख रूप कर्मफल का नाश तथा उत्कण्ठा, परिताप इत्यादि अनर्थ की प्राप्ति का वर्णन होने से उक्त विषम का उदाहरण है।

1- तदिति चतुर्थं विषमं यत्राल्पमपि नैव गुर्वपि च कार्यम् ।
कार्यं कुर्यात् कर्ता हीनोऽपि ततोऽधिकोऽपि न वा ।।- वही, 7/51
2- वही, 7/52/53
3- यत्र क्रियाविपत्तेर्न भवेदेव क्रियाफलं तावत् ।
कर्तुरनर्थश्च भवेत्तदपरमभिधीयते विषमम् ।।- वही, 7/54
4- वही, 7/55.

इस प्रकार रुद्रट ने वास्तवकृत विषम के पाँच विभिन्न रूप बताए हैं। इनका अतिशयवर्गीय विषम वहाँ होता है, जहाँ कार्य तथा कारण के गुणों अथवा क्रियाओं में परस्पर विरोध हो।[1] शङ्का यह हो सकती है कि जब दो वस्तुओं में कार्यकारण-भाव सम्बन्ध है तो उनके गुण तथा क्रियायें परस्पर कैसे विरुद्ध हो सकते हैं। इसका समाधान करते हुए नमिसाधु कहते हैं कि यह अतिशय के कारण होता है।[2] उदाहरण रूप –

> अरिकरिकुम्भविदारणरुधिरारुणदारुणादतः खड्गात् ।
> वसुधाधिपते धवलं कान्तं च यशो बभूव तव ।। तथा
> आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ददासि त्वम् ।
> विरहस्त्वयैव जनितस्तापयितारां शरीरं मे ।।[3]

इन उदाहरणों में क्रमशः खड्ग रूप कारण के लौहित्य तथा दारुणत्व रूप गुणों तथा कार्य रूप यश के धवल तथा कान्त रूप गुणों में परस्पर विरोध है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में कारण नायिका तथा कार्य विरह है। इन दोनों की आनन्द देना तथा सन्ताप देना क्रियाओं में परस्पर विरोध है, अतः विषम अलङ्कार है।

परवर्ती काव्यशास्त्र में प्रायः अधिकांश आचार्यों ने रुद्रट के इस अलङ्कार का विवेचन प्रस्तुत किया है। भोजराज ने पदार्थों की परस्पर असङ्गति को विरोध अलङ्कार की संज्ञा देते हुए विषम को उसी का प्रभेद बताया है।[4]

1- कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्परं गुणयोः ।
तद्वत्क्रिययोरथवा संजायेतेति तद्विषमम् ।। – वही, 9/45

2- ननु यदि वस्तुनोः कार्यकारणभावः, कथं तद्गुणयोः क्रिययोर्वा विरोधः। सत्यम् । अतएव अतिशयत्वम् । – वही, 9/45 नमिसाधुकृत टीका

3- वही, 9/ 46-47.

4- विरोधस्तु पदार्थानां परस्परमसङ्गतिः ।
असङ्गतिः प्रत्यनीकम् अधिकं विषमञ्च सः ।।
– स० कं० भ० 3/79

इस प्रकार उन्होंने विषम का स्वतन्त्र रूप में विवेचन न करके इस अलङ्‌कार के विस्तार के प्रति उदासीनता दिखायी है। किन्तु मम्मट, रुय्यक, अप्पयदीक्षित, विश्वनाथ तथा पण्डितराज इत्यादि आचार्यों ने रुद्रट का अनुकरण करते हुए इसे एक स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान किया है। वाग्देवतावतार मम्मट चार स्थितियों में विषम अलङ्‌कार की सत्ता स्वीकार करते हैं[1] - [क] जहाँ कहीं दो सम्बद्ध वस्तुओं का सम्बन्ध अतिवैधर्म्य [विलक्षणता] के कारण अनुपयुक्त प्रतीत हों, [ख] कर्ता को क्रिया फल की प्राप्ति न हो प्रत्युत अनर्थ की प्राप्ति हो जाय, [ग] कार्य के गुण के साथ कारण के गुण का विरुद्ध होना तथा [घ] कार्य की क्रिया के साथ कारण की क्रिया का विरुद्ध होना। इस प्रकार इस अलङ्‌कार के विवेचन में रुद्रट का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इन्होंने रुद्रट के वास्तव तथा अतिशय- दो वर्गों में पृथक्- पृथक् विवेचित इस अलङ्‌कार को समन्वित रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु इन्होंने रुद्रट के समान इसका अधिक विस्तार न करके संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है, जो इस अलङ्‌कार के रूप की दृष्टि से उचित ही है क्योंकि उपर्युक्त चार स्थितियों के अतिरिक्त अन्य स्थितियाँ, जो रुद्रट ने बतायी है, उनमें ऐसा कोई विशेष चमत्कार नहीं है। सम्भवतः इसीलिए अन्य आचार्यों ने मम्मट का अनु-

---

1- .... चतुरूपो विषमः ।

- का० प्र० 10/ पृ०- 530 वृत्तिभाग

2- क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् ।

कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद् भवेत् ॥

गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।

क्रमेण च विरुद्धे यत्स एष विषमो मतः ॥

- का० प्र० 10/126, 127

करण करते हुए विषम के उक्त रूपों की ही चर्चा अपने- अपने ग्रन्थ में की है।[1] वाग्भट तथा जयदेव दो वस्तुओं के अनौचित्यपूर्ण सम्बन्ध को विषम कहते हैं।[2] इससे यह प्रतीत होता है कि ये दोनों आचार्य रुद्रट के वास्तवमूलक विषम के अन्य भेदों तथा अतिशय-मूलक विषम की पृथक् रूप में चर्चा न करके वास्तवमूलक विषम के एक ही प्रकार को विषम के अन्तर्गत रखते हैं। सम्भवतः "अनौचित्यपूर्ण सम्बन्ध" विशेषण से उन्होंने सभी विषमों को एक में अन्तर्भूत करने का प्रयत्न किया है, जिसमें पण्डितराज ने स्पष्टता लाने की दृष्टि से अननुरूप संसर्ग को विषम कहते हुए संसर्ग के अनेक प्रकार बताए हैं,[3] जिसके अन्तर्गत मम्मट कथित सभी विषम आ जाते हैं।

1- [क] विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपघटना च विषमम् ।

- अ० स० पृ० 46

[ख] विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत् ।
विरूपघटना चासौ विषमालङ्‌कृतिस्त्रिधा ।।- प्र०र०, पृ०-513.

[ग] गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ।
यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ।
विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम् ।। -सा०द० 10/69,70

[घ] विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाऽननुरूपयोः ।
विरूपकार्यस्योत्पत्तिरपरं विषमं मतम् ।
अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्चतत्परं विषमं मतम् ।।- कु०आ० 83-90

[ड.] सम्बन्धानुपपत्तावविद्यार्थाप्त्यनिष्टसम्प्राप्तौ ।
अन्यजनकोभयगुणक्रियाविरोधे च विषमः स्यात् ।।

- अ०सू०- 43

2- [क] वस्तुनो यत्र सम्बन्धमनौचित्येन कैनचित् ।
असम्भाव्यं वदेद्वक्ता तमाहुर्विषमं यथा।।

- वा० 4/116.

[ख] विषमं यद्यनौचित्यादनेकान्वयकल्पनम् ।
क्वातितीव्रविषाः सर्पाः क्वासौ चन्दनभूरुहः ।।

- च० 5/80

3- अननुरूपसंसर्गो विषमम् । संसर्गश्च तावद् द्विविधः ....
सर्वे प्रभेदाः संगृह्यन्ते । - र० गं० 2/ पृ०- 469- 470।

इस प्रकार परवर्ती काव्यशास्त्र में रुद्रट के दोनों वर्गों के विषमों को पूर्ण मान्यता मिली तथा सभी ने सविस्तार उसका विवेचन भी किया।

उत्प्रेक्षा-

रुद्रट ने औपम्य तथा अतिशयमूलक वर्गों के अन्तर्गत आने वाले उक्त अलङ्कार के अनेक भेद किए हैं। औपम्यमूलक उत्प्रेक्षा को उन्होंने तीन भेदों में विभक्त किया है। उनके अनुसार प्रथम औपम्यमूला उत्प्रेक्षा में अत्यधिक सादृश्य के कारण सिद्ध उपमान की सत्ता वाले ऐक्य की कल्पना करके उपमान में न रहने वाले गुणादि का उस उपमान में आरोप किया जाता है।[1] यथा-

> चम्पकतरुशिखरमिदं कुसुमसमूहच्छलेन मदनशिखी ।
> अयमुपवेदारूढः पश्यति पथिकान्दिधक्षुरिव ।।[2]

इस पद्य में उपमेय चम्पकपुष्पराशि तथा उपमान कामाग्नि में लौहित्य के कारण सादृश्य होने से सिद्ध उपमान की सत्ता वाले ऐक्य की कल्पना करके कामाग्नि में असम्भव "देखना" क्रिया का आरोप किया गया है।

दूसरे प्रकार की औपम्यमूला उत्प्रेक्षा में उपमानगत अन्य उपमान के सादृश्य के कारण उपमेयगत अन्य उपमेय की सम्भावना कर ली जाती है,[3] यथा-

> आपाण्डुगण्डपालीविरचितकुसुमाभिरामकर्णेन ।
> शशिलाञ्छनेव परितो लाञ्छनमस्या मुखे सुतनोः ।।[4]

1- अतिसारूप्यादैक्यं विधाय सिद्धोपमानसद्भावम् ।
आरोप्यते च तस्मिन्नतद्गुणादीति सोत्प्रेक्षा ।।- का० 8/32

2- वही, 8/33

3- सान्येत्युपमेयगतं यस्यां सम्भाव्यतेऽन्यदुपमेयम् ।
उपमानगुणविशिष्टादारोपमानस्य तत्त्वेन ।। - वही, 8/34

4- वही, 8/35

यहाँ चन्द्रमा रूप उपमानगत कलङ्क रूप अन्य उपमान के सादृश्य से युक्त रूप उपमेयगत "मृगनाभिपत्र" [कर्णभूषण] रूप अन्य उपमेय की सम्भावना वर्णित है।

तीसरे प्रकार की औपम्यमूला उत्प्रेक्षा वहाँ होती है, जहाँ शोभन तथा अशोभन विशेषण से विशिष्ट उपमेय रूपवस्तु में अविद्यमान उपमान रूप अन्य वस्तु का आरोप किया जाता है।[1] अविद्यमान वस्तु का उपमान के समान आरोप कैसे हो सकता है, इसी शङ्का के समाधान के लिए रुद्रट ने "उपपत्त्या सम्भाव्यं" इस पद का प्रयोग किया है अर्थात् अविद्यमान उपमान युक्ति से सम्भावना के योग्य है।[2] यथा-

> अतिरक्तकुङ्कुमरागा पुरः पताकेव दृश्यते सन्ध्या ।
> उदयतटान्तरितस्य प्रयास्यतः स्यन्दने भानोः ॥[3]

इस पद्य में "पताका" उपमान है तथा विशेषण विशिष्ट सन्ध्या उपमेय है। यहाँ विशिष्ट सन्ध्या में साम्य होने के कारण अविद्यमान "पताका" की सम्भावना की गयी है। सूर्य के रथ की पताका उदयाचल से दूरस्थ सूर्य का "सामीप्य प्रकट कर सकती है, इस   युक्ति से अविद्यमान पताका की उपमान रूप में सम्भावना की जा सकती है। उत्प्रेक्षा के प्रसङ्ग में "आरोप" पद का प्रयोग भ्रामक प्रतीत होता है, अतः "सम्भावना" पद का प्रयोग अधिक उचित एवं युक्तियुक्त है।

1- यत्र विशिष्टे वस्तुनि सत्यसदारोप्यते समं तस्य ।
   वस्त्वन्तरमुपपत्त्या सम्भाव्यं सापरोत्प्रेक्षा ॥ - वही, 8/36

2- ननु यदविद्यमानं कथं समम् इत्यारोप्यत इत्याह-
   उपपत्त्या युक्त्या सम्भाव्यं सावसरत्वात् सम्भावनायोग्यं
   यत इत्यर्थः । - वही, नमिसाधुकृत टीका

3- वही, 8/37

सम्प्रति अतिशयमूला उत्प्रेक्षाओं का विवेचन किया जा रहा है। प्रथम अतिशयमूला उत्प्रेक्षा वहाँ होती है, जहाँ किसी वस्तु में असम्भव क्रियादि की सम्भावना कर ली जाती है, क्रियादि की यह सम्भावना अतिशय के कारण सम्भव होती है, इसके अतिरिक्त जिस वस्तु में क्रिया के अविद्यमान होने पर भी असम्भाव्य क्रियादि सम्भाव्य होने के कारण सम्भूत [विद्यमान] कही जाती है, वह भी उत्प्रेक्षा है।[1] यथा-

> अनलमयसलिलशीरो न्वपि शरच्चन्द्रिका विसर्पन्ती ।
> अतिसान्द्रतयेह नृणां गात्राण्यनुलिम्पतीवेयम् ।।[2]

यहाँ आकाश के निर्मल होने के कारण तथा चन्द्रिका के सान्द्र होने के कारण चन्द्रिका में असम्भव "अनुलेपन" क्रिया की "अनुलिम्पतीव" कहकर सम्भावना कर ली गयी है। इसी प्रकार -

> पल्लवितं चन्द्रकरैरखिलं नीलाश्मभूमिरूढमो वीवु ।
> ताराप्रतिमाभिरिदं पुष्पितमवनीपतेः सौधम् ।।[3]

यहाँ पल्लव तथा पुष्प के सौध में अभाव होने पर भी चन्द्रमा तथा तारागों के प्रतिबिम्ब के सम्पर्क के कारण असम्भाव्य भी पल्लवितत्व तथा पुष्पितत्व उस सौध में सम्भूत कहे गये हैं।

1- यत्रातितथाभूते सम्भाव्येत क्रियाद्यसम्भाव्यम् ।
   सम्भूतमतद्वति वा विज्ञेया सेयमुत्प्रेक्षा ।।
   - वही, 9/11

2- वही, 9/12

3- वही, 9/13

दण्डी ने चेतन अथवा जड़ की एक रूप में स्थित गुण अथवा क्रिया रूप वृत्ति को दूसरे रूप में सम्भावित करने को उत्प्रेक्षा कहा है।[1]

वामन के अनुसार भी जो वस्तु जैसी हो, उसका तद्रूप में वर्णन न करके अतिशयरूप में करना अर्थात् अन्यथा सम्भावना करना उत्प्रेक्षा है।[2]

स्पष्ट है कि रुद्रट से पूर्व किसी आचार्य ने भी इसके भेद नहीं किए हैं। रुद्रट ने ही उत्प्रेक्षा के सर्वथा नवीन भेदों को प्रस्तुत किया।

उत्तरवर्ती वक्रोक्तिजीवितकार के अनुसार सम्भावना द्वारा लाए गए अनुमान अथवा सादृश्य अथवा दोनों के द्वारा जहाँ पर वर्णनीय के अतिशययुक्त जो उत्कृष्टता को प्रतिपादित करने की इच्छा से "मानो" इत्यादि वाचक के बिना स्वयं से या "वह ही" इत्यादि प्रकारों से वाच्य- वाचक के सामर्थ्य से लाए गए अपने अर्थ वाले इवादि सम्भावना के वाचकों के द्वारा उल्लिखित वाक्यार्थ से भिन्न अर्थयोजना होती है, उसे उत्प्रेक्षा कहते हैं।[3] कुन्तक ने एक अन्य प्रकार की उत्प्रेक्षा का निरूपण किया है, जिसमें क्रियाहीन भी पदार्थों की क्रिया के प्रति अनुभव करने वाले को उस प्रकार की प्रतीति होने से अपने स्वभाव के उत्कर्ष के अनुरूप कर्तृत्व का आरोप किया जाता है।[4]

मम्मट ने प्रकृत वस्तु की उपमान के साथ सम्भावना को उत्प्रेक्षा कहा है।[5]

1- अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा ।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा ॥
- का० द० 2/221

2- सम्भवस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा ।
- का० सू० वृ० 4/3/9.

3- व० जी० 3/ 24-26

4- वही, 3/27

5- सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।
- का० प्र० 10/92 पूर्वार्द्ध

सर्वस्वकार ने अपने ढंग से उक्त अलङ्कार का लक्षण करते हुए[1] गुण, क्रिया, द्रव्यादि के आधार पर उसके भेद- प्रभेद किए हैं।[2]

अन्य परवर्ती आचार्यों ने भी उत्प्रेक्षा का निरूपण अपने अपने दृष्टिकोण से किया है,[3] इन सभी के लक्षण में प्रकृत में अप्रकृत अथवा उसके गुण अथवा क्रियादि की सम्भावना को उत्प्रेक्षा कहा गया है।

1- अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा । - अ० स० सूत्र 22

2- वही, वृत्तिभाग

3- {क} कल्पना काचिदौचित्याद्यत्रार्थस्य सतोऽन्यथा ।
द्योतितेवादिभिः शब्दैरुत्प्रेक्षा सा स्मृता - ॥
- वा० 4/89

{ख} उत्प्रेक्षोन्नीयते यत्र हेत्वादिर्निह्नुतिं विना।
- च० 5/29 पूर्वार्द्ध

{ग} यत्रान्यधर्मसम्बन्धादन्यत्वेनोपतर्कितम् ।
प्रकृतं हि भवेत् प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते॥
- प्र० रु० पृ० 461

{घ} भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ।
- सा० द० 10/40 पूर्वार्द्ध

{ङ} सम्भावना स्यादुत्प्रेक्षा वस्तुहेतुफलात्मना।
- कु० 32 पूर्वार्द्ध

{च} तद्भिन्नत्वेन तदभाववत्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्ति-तत्समानाधिकरणान्यतरतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्त्वेन वा सम्भावनमुत्प्रेक्षा । - र० गं० 2/ पृ० 696

{छ} सम्भाव्यते यत्र यदा साम्यप्रतियोगिना तदुपमेयम् ।
तामुत्प्रेक्षामाहुर्भिन्नां हेत्वादिविषयत्वात् ॥
- अ० पृ० 10

साहित्यदर्पणकार तथा विश्वेश्वर पण्डित इत्यादि अधिकांश आचार्यों ने इसके अनेक भेद निरूपित किए हैं। यह पूर्वकथित है कि रुद्रट से ही उत्प्रेक्षा-भेद - प्रपञ्च प्रारम्भ हुआ और परवर्ती आचार्यों ने उनकी इस सरणि का अनुसरण किया, भले ही वे भेद- प्रभेद सबके अपने- अपने दृष्टिकोणों के परिचायक हों। कुछ भी हो, उक्त अलङ्कार को दो वर्गों में रखकर अत्यन्त सरल परिपाटी में उसकी विविधता को प्रस्तुत तथा प्रदर्शित करने का श्रेय रुद्रट को ही है।

<u>पूर्व-</u>

औपम्यमूलक पूर्वालङ्कार में स्पष्ट ही उपमेय तथा उपमान- ये दो अर्थ होते हैं, ये दोनों ही अर्थ एक समान होते हैं अर्थात् तुल्य कर्म वाले होते हैं।[1] इनमें से पश्चाद्भावी (अपूर्वस्य) तथा विद्यमान (उपमेय) अर्थ का (उपमान से) पूर्व ही कथन होता है।[2] यथा-

> काले जलदकुलाकुलदशदिशि पूर्वं वियोगिनीवदनम् ।
> गलदविरलसलिलभरं पश्चादुपजायते गगनम् ॥[3]

इस पद्य में "वियोगिनी मुख" उपमेय है तथा उपमान है "गलदविरलसलिलभरं उपजायते"। यह दोनों का तुल्यकर्म है, इसमें मुख का जलप्रवाह युक्त होना जो आकाश के जलयुक्त होने की अपेक्षा पश्चाद्वर्ती है उसका पूर्व में कथन है, अतएव यह पूर्व का स्थल है।

1- यत्रैकविधावर्थौ जायेते यौ तयोरपूर्वस्य ।
   अभिधानं प्राग्भवतः सतोऽभिधीयेत तत्पूर्वम् ॥
   - का० 8/97

2- .....एकविधौ तुल्यकर्माणौ यौ जायेते .....॥
   - वही, टीका

3- वही, 8/98

इसी प्रकार अतिशयमूलक पूर्व में अत्यन्त प्रबल होने के कारण कार्य का कारण से पूर्व ही कथन कर दिया जाता है,[1] सामान्यतया नियम यह है कि कारण पूर्व में तथा कार्य पश्चात् में होता है किन्तु पश्चाद्वर्ती कार्य का पूर्ववर्ती कारण के पहले ही कथन होने से पूर्वालङ्कार होता है। स्पष्ट है कि औपम्य तथा अतिशय दोनों ही वर्गों में आने वाले उक्त पूर्व में पश्चाद्वर्ती अर्थ का पहले कथन किया जाता है तदनन्तर पूर्ववर्ती अर्थ का, कथन किया जाता है, इस प्रकार यह अलङ्कार अन्वर्थनामा है। दोनों का अन्तर भी स्पष्ट है कि औपम्यमूलक में अर्थों में उपमान-उपमेय भाव रहता है तथा अतिशयमूलक पूर्व में कारण-कार्य भाव। अतिशयमूलक पूर्व के उदाहरण रूप -

> जनमकुसुममभिलषतामादौ दन्दह्यते मनो यूनाम् ।
> गुरुरनिवारप्रसरः पश्चान्मदनानलो ज्वलति ॥[2]

उक्त पद्य में "कामाग्नि" कारण है तथा "मन दहन" कार्य। इनमें से मनदहन का कथन पहले किया गया है तथा कामाग्नि का पश्चात् में। यद्यपि अग्नि जब तक जलेगी नहीं तब तक जलायगी कैसे, किन्तु अतिशयता के कारण यह सम्भव है।

काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम रुद्रट ने ही इस अलङ्कार को विवेचित किया है, अतः यह इनकी सर्वथा मौलिक उद्भावना है। पूर्व के प्रथम भेद को परवर्ती आचार्यों ने मान्यता नहीं दी किन्तु अतिशयमूलक पूर्व का अन्तर्भाव उन्होंने अतिशयोक्ति के अन्तर्गत करते हुए कारण-कार्य के पौर्वापर्यविपर्यय नामक भेद के रूप में विवेचित किया है।[3]

1- यत्रातिप्रबलतया विवक्ष्यते पूर्वमेव जन्यस्य ।
   प्रादुर्भावः पश्चाज्जनकस्य तु तद्भवेत् पूर्वम् ॥
   - का० 9/3

2- वही, 9/4

3- कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा ।
   - का० प्र० 10/101

सङ्कर -

शुद्ध श्लेषमूलक अलङ्कारों के पश्चात् रुद्रट ने दसवें अध्याय में चारों वर्गों के अलङ्कारों के सङ्कर का विवेचन किया है। चारों प्रकार के अलङ्कारों के सङ्कर से अन्य भेद रुद्रट के अनुसार अगणित हो सकते हैं। यह सङ्कर विभिन्न अलङ्कारों पर आश्रित होता है, इसीलिए इसकी संज्ञायें भी उन विभिन्न अलङ्कारों के नाम के आधार पर होती हैं। जिनमें यह सङ्कर होता है।[1] इसमें अलङ्कारों का मिश्रण कभी-कभी अत्यधिक स्फुट होता है और कभी कभी अस्फुट, अतः सङ्कर दो प्रकार का होता है। जहाँ अलङ्कारों का सङ्कर तिल और तण्डुल जैसा होता है यह सङ्कर का प्रथम प्रकार होता है और जहाँ यह सङ्कर दूध और जल के समान होता है वहाँ द्वितीय प्रकार का सङ्कर होता है।[2] इसके पश्चात् आचार्य ने इन दोनों के दो-दो उदाहरण भी दिए हैं, जो निम्नलिखित हैं -

अभियुज्य लोलनयना साध्वसजनितोरुवेपथु रहसा ।
अबलेव वैरिसेना नृप मन्ये मुच्यते भवता ॥[3]

इस पद्य में "अबलेव" में उपमा तथा "अभियुज्यादि" में श्लेष स्पष्ट [स्फुट] है। इसी प्रकार -

---

1- एषां तु चतुर्णामपि सङ्कीर्णानां स्युरगणिताः भेदाः ।
तन्नामानस्तेषां सङ्कीर्णेषु तयोश्चयम् ॥ - का० 10/24

2- योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च ।
व्यक्ताव्यक्तांशत्वात् सङ्कर उत्पद्यते द्वेधा ॥

- का० 10/25

3- वही, 10/26

सन्नारीभरणो भवानपि न किं किं नाधिरूढो वृषं
किं वा नो भवता निकामविषमा दग्धाः पुरो विद्विषाम् ।
इत्थं द्वौ परमेश्वराविव शिवस्त्वं चैकरूपस्थिती
तत् किं लोकविभो न जातु कुरुषे सङ्गं भुजङ्गैः सह ।।[1]

इस पद्य में सन्नारीभरणो इत्यादि में प्रयुक्त श्लेष तथा "न जातु कुरुषे सङ्गं भुजङ्गैः सह" में प्रयुक्त व्यतिरेक का स्फुट सङ्कर है। किन्तु कहीं- कहीं इन अलङ्कारों का निश्चय नहीं हो पाता यथा-

आलोकनं तस्या वदनकमलानन्दनेन्दुकरजालम् ।
हृदयाकर्षणपाशः स्मरतापक्लान्तिहारिकाम् ।।[2]

इस पद्य में रूपक तथा उपमा का अव्यक्त सङ्कर है, क्योंकि "वदनकमलानन्दनेन्दुकरजालम्" इत्यादि में रूपक भी हो सकता है तथा उपमा भी। इन दोनों में से साधक- बाधक प्रमाण के अभाव में किसी एक का एकान्ततः निश्चय नहीं हो पाता। अतः निश्चय न हो सकने के कारण यहाँ अव्यक्त सङ्कर है। अवधेय है कि मम्मट ने ऐसे ही स्थलों पर सन्देह सङ्कर भेद प्रतिपादित किया है।[3] इसी प्रकार "आदौ चुम्बति"[4] इत्यादि में उपमा, रूपक, श्लेष तथा पर्याय का अव्यक्त सङ्कर है। इस उदाहरण के माध्यम से रूद्रट ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सङ्कर दो से अधिक अलङ्कारों का भी हो सकता है।

1- वही, 10/27

2- वही, 10/28

3- .... का०प्र० 10/140 उत्तरार्द्ध तथा वृत्तिभाग

4- आदौ चुम्बति चन्द्रबिम्बविमलां लोलः कपोलस्थलीं
   सम्प्राप्य प्रसरं क्रमेण कुरुते पीनस्तनास्फालनम् ।
   पुष्णन् वैरिवधूजनस्य करुणं कण्ठे कलापुञ्जकम्
   किं वा यत्र करोत्यवारिततया कामीव बाष्पः पदम् ।।
   - वही, 10/29

इन सभी उदाहरणों तथा सङ्कर की लक्षण सम्बन्धी कारिका में प्रयुक्त "चतुर्णामपि" पद से स्पष्ट है कि रुद्रट सम्मत सङ्कर में केवल अर्थालङ्कारों का ही सङ्कर होता है, शब्दालङ्कारों का नहीं।

भामह तथा दण्डी ने संसृष्टि संज्ञा से इसका लक्षण किया है। उनके अनुसार अनेक अलङ्कारों के योग अथवा संसृष्टि को संसृष्टि कहते हैं।[1] वामन ने भी इसे संसृष्टि ही कहा है किन्तु इन्होंने अलङ्कार के अलङ्कारयोनित्व को संसृष्टि कहा है,[2] अर्थात् अलङ्कार का अलङ्कार के साथ जो योनिगत वैशिष्ट्य है उसे संसृष्टि कहते हैं।[3] कामधेनु टीका में इसे और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कार्यकारण-भाव से युक्त अलङ्कारों के सम्बन्ध (संसर्ग) को संसृष्टि कहा गया है।[4]

उद्भट ने संसृष्टि तथा सङ्कर इन संज्ञाओं से तो अलङ्कारों का पृथक्-पृथक् स्थलों पर निरूपण किया है।[5] उनके अनुसार जहाँ अनेक अलङ्कारों की एक साथ स्थिति हो, साथ ही विरोधी होने के कारण किञ्चित् सापेक्ष हों, कारण के अभाव में न तो कोई एक अलङ्कार ग्रहण करने योग्य हो तथा दोष के अभाव में न कोई छोड़ने योग्य हो, ऐसे स्थल पर सङ्कर होता है।[6] उन्होंने अनेक अथवा दो अलङ्कारों की एक ही स्थल पर निरपेक्ष स्थिति को संसृष्टि कहा है।[7]

1- (क) वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलङ्कारयोगतः । - का० 3/49 पूर्वार्द्ध
(ख) नानालङ्कारसंसृष्टिः संसृष्टिस्तु निगद्यते। - का०द० 4/359 उत्तरार्द्ध
2- अलङ्कारस्यालङ्कारयोनित्वं संसृष्टिः । - का०सू०वृ० 4/3/30
3- वही, विद्याधरी हिन्दी टीका
4- कार्यकारणभावापन्नयोरलङ्कारयोः सम्बन्धः संसृष्टिरित्यर्थः । - वही
5- का० सा० सं० पञ्चम तथा षष्ठम वर्ग
6- अनेकालङ्क्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसम्भवे ।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्करः ।। -वही, 5/11
7- अलङ्कृतीनां बह्वीनां द्वयोर्वापि समाश्रयः ।
एकत्र निरपेक्षाणां मिथः संसृष्टिरुच्यते ।। - वही, 6/5

स्पष्ट है कि इनके सङ्कर तथा संसृष्टि रुद्रट के क्रमशः अव्यक्त सङ्कर तथा व्यक्त सङ्कर हैं। मम्मटादि अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने उद्भट की भाँति इनको संसृष्टि तथा सङ्कर संज्ञाओं से पृथक्-पृथक् विवेचित किया है। इन सभी आचार्यों के विवेचन से स्पष्ट है कि सभी ने अर्थालङ्कारों के साथ शब्दालङ्कारों के योग को भी उक्त अलङ्कारों के अन्तर्गत रखा है, केवल अर्थालङ्कारों को नहीं।

1- [क] सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ।
अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्करः ॥
- का० प्र० 10/?97-3

[ख] एषां तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वं संसृष्टिः ।
नीरक्षीरन्यायेन तु सङ्करः । - अ० स० सूत्र 85-86

[ग] यद्येत एवालङ्काराः परस्परविमिश्रिताः ।
तदा पृथगलङ्कारौ संसृष्टिः सङ्करस्तथा ॥
मिथोऽनपेक्षमेतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते ।
अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।
सन्दिग्धत्वे च भवति सङ्करस्त्रिविधः पुनः ॥
- सा० द० 10/97-98

[घ] तिलतण्डुलसंश्लेषन्यायादयत्र परस्परम् ।
संश्लिष्येरन्नलङ्कारा सा संसृष्टिर्निगद्यते ॥
क्षीरनीरन्यायाद् यत्र सम्बन्धः स्यात् परस्परम् ।
अलङ्कृतीनामेतासां सङ्करः स उदाहृतः ॥
- प्र० रु०, पृ० 575-76

[ङ] तत्र तिलतण्डुलन्यायेन स्फुटावगम्यभेदालङ्कारमेलने संसृष्टिः ।
नीरक्षीरन्यायेनास्फुटभेदालङ्कारमेलने सङ्करः ॥
- कु०, पृ० 285

[च] संसृष्टिस्तु परस्परनिरपेक्षस्थितिरनेकेषाम् ।
एकस्यैवान्यस्य प्रादुर्भावे तु सङ्करः प्रोक्तः ॥
- अ० कु०-53.

नवम अध्याय

काव्य- दोष विवेचन

नवम अध्याय

काव्य-दोष विवेचन-

किसी काव्य का निर्दुष्ट होना उसके काव्यत्व के लिए एक अनिवार्य प्रतिबन्ध है। भामह ने स्पष्ट शब्दों में काव्य-दोषों का प्रतिवाद करते हुए कहा है कि दोष-पूर्ण काव्य की रचना करने वाला कवि उसी प्रकार निन्दा का पात्र होता है, जिस प्रकार कुपुत्र के कारण पिता। सदोषकाव्य साक्षात् मृत्यु की भाँति है।[1] दण्डी ने भी भामह की भाँति दोषों का विरोध करते हुए उन्हें सुन्दर शरीर को विरूप करने वाले कुष्ठचिह्न जैसा कहा है।[2] वामन काव्य को अलङ्कारों के प्रयोग तथा दोषों के राहित्य के कारण ग्राह्य कहते हैं।[3] ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने दोषों को रसभङ्ग का एकमात्र कारण कहा है।[4] मम्मट तथा भोजराज ने स्वरचित काव्य-लक्षणों में सर्व-प्रथम "अदोषौ" तथा "निर्दोषम्" पद रखकर[5] काव्य में दोषराहित्य के प्राधान्य को इङ्गित किया है। काव्य रूप शब्द तथा अर्थ जब तक दोषरहित नहीं होंगे, उनकी सगुणता तथा अलङ्कारयुक्तता इत्यादि में वैचित्र्य नहीं आ सकता इसलिए काव्य में ऐसे शब्दों तथा अर्थों का प्रयोग करना चाहिए, जो दोषरहित हों। काव्यशास्त्रियों

1- सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
   विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ।। - का० 1/11-12

2- तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन ।
   स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।। - का०द० 1/7

3- स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम् । - का०सू०वृ० 1/1/3

4- अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् - ध्व० तृतीयोद्योत

5- (क) तददोषौ ....। - का०प्र० 1/4
   (ख) निर्दोषं ....।। - स०कं० 1/2

की उपर्युक्त दोष सम्बन्धी मान्यताओं से ये सिद्ध हो जाता है कि किसी काव्य के लिए दोषराहित्य एक अपरिहार्य तथ्य है। इसीलिए प्रायः अधिकांश काव्य-शास्त्रियों ने काव्यगत दोषों का उल्लेख अथवा विवेचन किया है। रुद्रट ने भी अपने ग्रन्थ में विभिन्न दोषों का विस्तृत विवेचन किया है। इन्होंने भामहादि की भाँति दोषराहित्य के विषय में अपने विचार देते हुए सीधे-सीधे दोषों के विभिन्न प्रकार तथा उनके लक्षण इत्यादि प्रस्तुत किए हैं। सम्भवतः वे पूर्ववर्ती भामह, दण्डी तथा वामन आदि विद्वानों की तत्सम्बन्धी मान्यताओं से पूर्णतया सहमत रहे होंगे, इसीलिए वे इस विषय में मौन रहे हैं।

रुद्रट के दोष- विवेचन की समीक्षा से पहले पूर्ववर्तियों के इस विवेचन पर दृष्टि-पात कर लेना असङ्गत न होगा ।

सर्वप्रथम भरतमुनि ने गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसन्धि तथा शब्दच्युत - इन दस दोषों के नाम-निर्देश[1] एवं लक्षण किए हैं, जो निम्नलिखित हैं -

उनके अनुसार पर्यायशब्दाभिहित गूढार्थ नामक दोष होता है।[2] तात्पर्य यह है कि जहाँ किसी शब्द के बलात्परिकल्पित गूढ़ अर्थ वाले पर्याय का प्रयोग किया जाए वहाँ यह दोष होता है। अवर्ण्य का वर्णन अर्थान्तर नामक द्वितीय दोष है।[3] अर्थहीन

1- गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम् ।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ।।
- ना०शा० 16/88

2- "पर्यायशब्दाभिहितं गूढार्थमिति संज्ञितम् ।"
- वही, 89 पूर्वार्द्ध

3- "अवर्ण्यं वर्ण्यते यत्र तदर्थान्तरमिष्यते।"
- वही, उत्तरार्द्ध

दोष के अन्तर्गत् असम्बद्ध कथन आते हैं तथा वे कथन भी इसके अन्तर्गत् आते हैं जिनके सुनने से अभीष्ट अर्थ की स्पष्ट तथा निश्चित प्रतीति न हो।[1] असभ्य एवं ग्राम्य प्रयोग को भरतमुनि ने भिन्नार्थ दोष की संज्ञा दी है।[2] उनके अनुसार एकार्थ दोष वहाँ होता है जहाँ विशेष का अभिधान न किया जाए,[3] अर्थात् जहाँ प्रयुक्त शब्द एक ही अर्थ को कहते हैं, उनके द्वारा किसी विशेष अर्थ का आधान नहीं किया जाता। भरतमुनि ने अभिप्लुतार्थ नामक दोष का जो लक्षण[4] किया है, उससे उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं है। अभिनवगुप्त ने "नाट्यशास्त्र" की टीका लिखी है। उस टीका में इस दोष का जो उदाहरण है उसको देखते हुए यह दोष वहाँ होगा जहाँ प्रत्येक पाद के साथ एक अर्थ की समाप्ति हो जाए।[5] इस प्रकार पूरे छन्द में एक दूसरे से असम्बद्ध अनेक अर्थ हो जाएँगे। "न्यायादपेत" नामक दोष प्रमाणविरुद्ध कथनों में होता है।[6] विषम नामक दोष उसे कहते हैं जिसमें वृत्त-भेद होता है[7] अर्थात् जिस वृत्त में पद्य की रचना की जाती है उसका लक्षण उसमें

1- "अर्थहीनं त्वसम्बद्धं सावशेषार्थमेव च।" - ना० शा० 16/90 पूर्वार्द्ध
2- "भिन्नार्थमभिविज्ञेयमसभ्यं ग्राम्यमेव च।"- वही उत्तरार्द्ध
3- "अविशेषाभिधानं यत्तदेकार्थमिति स्मृतम्।" - ना० शा०, 16/92 पूर्वार्द्ध
4- "अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत्पदेन समस्यते ।" - वही, उत्तरार्द्ध
5- अभिप्लुतार्थं यथा-

स राजा नीतिकुशलः, सदः कुसुमशोभितम् ।
सर्वप्रिया वसन्तश्रीर्मग्ने मालतिकागमः ।।

अत्र प्रतिपादमर्थस्य परिसमाप्तत्वादभिप्लुतत्वं एकवाक्यत्वेन निमज्जनाभावात्।
- वही, अभि० भा०, टीका

6- "न्यायादपेतं विज्ञेयं प्रमाणपरिवर्जितम्" - ना०शा०, 16/93 पूर्वार्द्ध
7- वृत्तभेदो भवेद् यत्र विषमं नाम तद्भवेत् । - वही, 16/93 उत्तरार्द्ध

पूर्णरूप से घटित नहीं होता । "भरतकृत विसन्धिदोष" का लक्षण - "अनुपश्लिष्ट-शब्दं यत्तद्विसन्धीति कीर्तितम्।"[1] तात्पर्य अधिक स्पष्ट नहीं है, किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि सन्धिरहित अथवा गलत सन्धि के स्थल इस दोष के उदाहरण होते हैं। भरतकथित शब्दच्युत नामक दसवें दोष में अशब्दों की योजना होती है।[2] ये अशब्द दो प्रकार के हो सकते हैं - एक तो वे, जो व्याकरणात्मक दृष्टि से असाधु हों तथा दूसरे वे जो व्याकरण की दृष्टि से तो उचित हों किन्तु कवि के विवक्षितार्थ की अभिव्यञ्जना में असमर्थ हों।

इस प्रकार भरतमुनि ने उपर्युक्त दस दोषों के लक्षण दिए हैं, यद्यपि कि इनका उदाहरणादि के माध्यम से रूप अधिक स्पष्ट नहीं किया है।

इनके पश्चात् आचार्य भामह ने दोषों का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने स्वरचित "काव्यालङ्कार" नामक ग्रन्थ में चार स्थलों पर काव्यगत दोषों का विवेचन किया है। सर्वप्रथम वे प्रथम परिच्छेद में 37वीं कारिका में छः दोषों का परिगणन करके आगे उनका स्वरूप- निरूपण करते हैं। इसके पश्चात् इसी परिच्छेद की 47वीं कारिका से लेकर आगे की कुछ कारिकाओं तक वाणी के चार दोषों का परिगणन तथा विवेचन प्रस्तुत करते हैं। द्वितीय परिच्छेद में वे उपमा के दोषों

1- वही, 16/94 पूर्वार्द्ध

2- शब्दच्युतं विज्ञेयमशब्दस्य च योजनात् ।

- वही, उत्तरार्द्ध

का वर्णन करने के पश्चात् चतुर्थ तथा पञ्चम परिच्छेद में अट्ठारह दोषों का निरूपण करते हैं। इन सभी दोषों में से अधिकांश भरतमुनि के दस दोषों में अन्तर्भूत हो जाते हैं किन्तु नेयार्थ, अयुक्तिमत्, श्रुतिदुष्ट, कल्पनादुष्ट, श्रुतिकष्ट, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय तथा अपक्रम – ये दोष सर्वथा भामह की मौलिक देन हैं। इस प्रकार भामह ने भरत निरूपित दोषों की संख्या में वृद्धि के साथ अनेक नवीन दोषों का भी उल्लेख किया है। साथ ही उन्होंने श्रुतिदुष्टादि तथा पुनरुक्त दोष के परिहार का भी निरूपण किया है जो संस्कृत-काव्यशास्त्र के दोष- विवेचन के लिए बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। क्योंकि भामह की इसी नवीन उद्भावना पर परवर्ती मम्मट आदि आचार्यों ने नित्य और अनित्य दोषों की विभाग- व्यवस्था की।

1- नेयार्थं क्लिष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत् ।
गूढशब्दाभिधानं च कवयो न प्रयुञ्जते ।। – 1/37

श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि ।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुः वाचां दोषं चतुर्विधम् ।। – 1/47

हीनताऽसम्भवो लिङ्गवचो भेदो विपर्ययः ।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च ।। – 2/39

त एव उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः ।।– 2/40 पूर्वार्द्ध

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धि च ।।

देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च ।
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं न नेष्यते ।।
– काव्यालङ्कार 4/1-2

काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद में दण्डी ने भामह द्वारा निरूपित चतुर्थ परिच्छेद के प्रथम दश दोषों का उसी क्रम में परिगणन करके[1] उनका पृथक्- पृथक् स्वरूप निरूपण किया है, जो नाम तथा स्वरूप की दृष्टि से भामह के उन दश दोषों से अभिन्न हैं। भामह द्वारा चतुर्थ परिच्छेद में ही परिगणित प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्तहीन दोषों को दण्डी ने स्वीकार नहीं किया है।[2] उन्होंने प्रथम परिच्छेद में वैदर्भ मार्ग के श्लेष, प्रसाद, समता आदि दश गुणों के प्रसङ्ग में कुछ दोषों का उल्लेख किया है[3] जिनमें से कुछ दोष भामह द्वारा प्रथम परिच्छेद में निरूपित कुछ दोषों से साम्य रखते हैं। यथा माधुर्य गुण के प्रसङ्ग में उन्होंने शब्द ग्राम्यता, अर्थग्राम्यता तथा वाक्यग्राम्यता का सोदाहरण विवेचन किया है।[4] इनकी शब्द-ग्राम्यता में भामह के श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट तथा कल्पनादुष्ट - ये तीनों दोष अन्तर्भूत

1- अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् । शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धिकम् ।।
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च । इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषुसूरिभिः।
- काव्यादर्श 3/125-126

2- प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ ।
विचारः कर्कशप्रायस्तेनालीढेन किं फलम् ।।
- वही, 3/127

3- काव्यादर्श प्रथमपरिच्छेद 43 से 97 के पूर्वार्द्ध तक

4- [क] कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम् ।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते ।।
- वही, 1/63

[ख] शब्देऽपि ग्राम्यतास्त्येव सा सभ्येतरकीर्तनात् ।
यथा यकारादिपदं रत्युत्सवनिरूपणे ।। - वही, 1/65

[ग] पदसन्धानवृत्त्या वा वाक्यार्थत्वेन वा पुनः ।
दुष्प्रतीतिकरं ग्राम्यं यथा या भवतः प्रिया।।
- 1/66

हो जाते हैं।[1] उन्होंने सुकुमार, अर्थव्यक्ति तथा कान्ति गुणों का जो रूप निर्देशित किया है,[2] उनके विपर्यय रूप में कठोर वर्णों का प्रयोग, अर्थानभिव्यक्ति तथा लौकिक अर्थ का अतिक्रमण भामह- कथित श्रुतिकष्ट, नेयार्थ तथा अयुक्तिमत् दोषों से पर्याप्त साम्य रखते हैं।[3] स्पष्ट है कि भामह के काव्यदोषों के निरूपण का दण्डी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, किन्तु भामह ने जहाँ दोषों के विवेचन में कुछ दोषों के उदाहरण ही दिये हैं, लक्षण नहीं, वहाँ दण्डी ने जिन दोषों का उल्लेख किया है, उन सभी के लक्षण और उदाहरण दोनों दिए हैं। एक विशेषता दण्डी की यह भी है कि उन्होंने "भिन्नवृत्त" नामक दोष को छोड़कर, शेष सभी दोषों के परिहार का अर्थात् उनकी गुणरूपता का निरूपण भी किया है जबकि भामह ने कुछ ही दोषों के परिहार का निर्देश किया है।

1- {क} ...... गाक्काटयादयश्चेति श्रुतिदुष्टा मता गिरः ।

{ख} अर्थदुष्टं पुनर्येन यत्रोक्ते जायते मतिः ।
असभ्यवस्तुविषया शब्दैस्तद्वाविभिर्यथा ॥

{ग} पदद्वयस्य सन्धाने यदनिष्टं प्रकल्प्यते ।
तदाहुः कल्पनादुष्टं म शोपभिरणो यथा ॥
- काव्यालङ्कार 1/48- 52

2- {क} अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते ।
बन्धशैथिल्यदोषस्तु दर्शितः सर्वकोमले ॥

{ख} अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य ....॥

{ग} कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात् ।
तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते ॥
- काव्यादर्श 1/69, 73, 85.

3- {क} यथाजिह्लददित्यादि श्रुतिकष्टं च तद्विदुः ।
न तद् इच्छन्ति कृतिनो गण्डमप्यपरे किल ॥ - 53

{ख} नेयार्थं नीयते युक्तौ यस्यार्थः कृतिभिर्बलात् ।
शब्दन्यायानुपारूढः कथञ्चित्स्वाभिसन्धिना ॥ - 38

{ग} अयुक्तिमद् यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः ।
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः ॥
अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः ।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते ॥ - का० 1/42, 43.

इसके पश्चात् वामन ने दोषों को वर्गीकृत करके प्रस्तुत किया जो उनकी नवोद्-भावना है। वामन ही वे प्रथम आचार्य थे जिन्होंने दोष- सामान्य का लक्षण करते हुए उसकी गुणाभावरूपता का प्रतिपादन किया[1]। सम्पूर्ण द्वितीय अधिकरण में उन्होंने दोषों का विस्तृत और सुव्यवस्थित निरूपण किया है। इस अधिकरण के प्रथम अध्याय में पद एवं पदार्थगत दोषों का विवेचन प्राप्त होता है तथा द्वितीय अध्याय में वाक्य तथा वाक्यार्थगत दोषों का वर्णन है।

असाधु, कष्टप्रद, ग्राम्य, अप्रतीत तथा अनर्थक को वामन ने "पदगत दोष"[2] तथा अन्यार्थ, नेयार्थ, गूढार्थ, अश्लील तथा क्लिष्ट को पदार्थगत दोष कहा है।[3] अश्लील, क्लिष्ट, भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट तथा विसन्धि इन पाँच को वे वाक्यदोष तथा व्यर्थ, एकार्थ, सन्दिग्ध, अप्रयुक्त, अपक्रम, लोकविरुद्ध तथा विद्याविरुद्ध- इन सात को वाक्यार्थगत दोष कहते हैं।[4] वी० राघवन् ने वामन के वाक्यदोषों की संख्या तीन ही बतायी है।[5] उन्होंने सम्भवतः पदार्थगत अश्लील और क्लिष्ट तथा वाक्यगत अश्लील और क्लिष्ट को एकरूप मान लिया है। इन दोषों में से अप्रतीत, अनर्थक, गूढार्थ तथा क्लिष्ट वामन की देन हैं। "अप्रयुक्त" नामक दोष का वामन

1- {क} गुणविपर्ययात्मानो दोषाः । - 2/1/1
   {ख} अर्थस्तदवगमः। गुणस्वरूपनिरूपणात्तेषां
   दोषाणामर्थादवगमो भवति॥ - का०सू०वृ० 2/1/2 तथा वृत्ति

2- दुष्टं पदमसाधु कष्टं ग्राम्यमप्रतीतमनर्थं च । - वही, 2/1/4

3- अन्यार्थनेयार्थगूढार्थाश्लीलक्लिष्टानि च । - वही, 2/1/10

4- {क} भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसन्धीनि वाक्यानि । -वही, 2/2/1
   {ख} व्यर्थैकार्थसन्दिग्धाप्रयुक्तापक्रमलोकविद्याविरुद्धानि च ।
   - वही, 2/2/9

5-Bhoja's शृ० प्र० Page 224.

ने केवल लक्षण किया है। इस लक्षण से उक्त दोष का स्वरूप भी पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पाता। शेष दोष पूर्ववर्तियों द्वारा कथित दोषों जैसे हैं।

आचार्य रुद्रट ने भी पदगत, वाक्यगत, अर्थगत तथा उपमागत दोषों का विस्तृत एवं स्वतन्त्र रूप से विवेचन किया है। इसके साथ ही उन्होंने काव्यालङ्कार के द्वितीय अध्याय में गुणाभाव रूप कुछ अन्य दोषों का भी प्रसङ्ग उठाया है। इस प्रकार उनके ग्रन्थ में दोषों का विवेचन दो रूपों में प्राप्त है।

सम्प्रति स्पष्ट रूप से विवेचित पदगतादि दोषों की समीक्षा की जायगी।

पदगतदोष - दोषों के प्रसङ्ग में आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम असमर्थ, अप्रतीत, विसन्धि, विपरीत-कल्पना, ग्राम्यत्व तथा व्युत्पत्तिशून्य देशी शब्दों का प्रयोग- इन पदगत दोषों का विवेचन किया है।[2]

उनके अनुसार असमर्थ पद उसे कहते हैं, जब किसी निर्दिष्ट अर्थ का वाचक पद किसी अन्य [उपसर्गादि] के संसर्ग के कारण उस अर्थ के कहने में असमर्थ हो जाता है।[3] उन्होंने पद की असामर्थ्य के अनेक प्रकारों का विवेचन किया है। कभी

1- मायादिकल्पितार्थमप्रयुक्तम् । - का० सू० वृ० 2/2/21.

2- असमर्थमप्रतीतं विसन्धि विपरीतकल्पनं ग्राम्यम् ।
अव्युत्पत्तिं च देश्यं पदमिति सम्यग्भवेददुष्टम् ।।
- का० 6/2

3- पदमिदमसमर्थं स्याद्वाचकमर्थस्य तस्य न च वक्तुम् ।
तं शक्नोति तिरोहिततत्सामर्थ्यं निमित्तेन ।।
- वही, 6/3

कभी कोई धातुविशेष किसी उपसर्ग- विशेष के संसर्ग से किसी अन्य अर्थ की वाचक हो जाती है, ऐसे स्थल पर वह धातु उपसर्गविशेष से युक्त होने के कारण अपने निर्दिष्ट अर्थ को देने में असमर्थ हो जाती है।[1] यथा स्था धातु प्र उपसर्ग के योग से गतिनिवृत्ति इत्यादि अर्थों को देने में असमर्थ हो जाती है। किन्तु सभी धातुऐं सभी उपसर्गों का योग होने पर भिन्नार्थक नहीं हो जातीं। यथा प्र उपसर्ग पूर्वक गमनार्थक 'या' धातु भिन्नार्थक न होकर अपने ही अर्थ को देती है।[2] तात्पर्य यह है कि कोई धातु- विशेष किसी उपसर्गविशेष के योग में ही भिन्नार्थक होती है।

असमर्थ दोष का यह स्वरूप भामह के अन्यार्थ[3] दोष से भिन्न नहीं है। भामह ने अर्थ की अनुपलब्धि को अन्यार्थ कहा है। उनके अनुसार उक्त दोष के उदाहरण में वि उपसर्गपूर्वक 'ह्' धातु का प्रयोग "हरण क्रिया" अर्थ में किया गया है, जबकि केवल "ह्" धातु हरण करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। वि उपसर्गपूर्वक 'ह्' धातु क्रीडा के अर्थ में प्रयुक्त होती है।[4] अतः यहाँ उपसर्ग के संसर्ग से धातु का रूप विकृत हो जाने के कारण अर्थ अनुपलब्ध है।

1- धातुविशेषोऽर्थान्तरमुपसर्गविशेषयोगतो गच्छन् ।
असमर्थः स स्वार्थे भवति यथा प्रस्थितः स्थास्नौ ।। - वही, 6/4

2- विशेषग्रहणमुभयत्र न सर्वो धातुः सर्वोपसर्गसम्बन्धे सत्यार्थान्तरं याति।
अपितु कश्चिदेव केनचिदेवेत्यस्यार्थस्य सूचनार्थम् । तथाहि प्रेण योगे तिष्ठ-
त्यादिरेवार्थान्तरं याति न तु यातिप्रभृतिः । तथा तिष्ठतिरपि प्रेण
योगे न स्थवादिना । - वही, टीका

3- .... अन्यार्थं विगमे यथा ।

4- विजहुस्तस्य ताः क्रोडे क्रीडायां विहृतं च तत् ।।
- का० 1/40

धातु का असामर्थ्य एक अन्य प्रकार का भी होता है, जबकि धातु स्वपठित अर्थों में से निर्दिष्ट अर्थ को कहने में असमर्थ होती है। यथा हन् धातु हिंसा और गति दोनों ही अर्थ में पढ़ी जाती है तथापि "हन्ति" पद से "मारता है" अर्थ की ही प्रतीति होती है, "जाता है" अर्थ की नहीं।[1] किन्तु यह असामर्थ्य स्वल्प ही होता है क्योंकि यमक, चित्र तथा श्लेष के स्थलों पर हन् धातु का प्रयोग गत्यर्थ में भी मिलता है।[2]

सुबन्त पदों में असामर्थ्य दोष वहाँ आ जाता है, जहाँ यौगिक अर्थ देने वाला पद रूढ अर्थ में प्रसिद्ध होने के कारण यौगिक अर्थ को देने में असमर्थ हो जाता है, यथा- "जलभृत्" पद का यौगिक अर्थ है जल धारण करने वाला। इस यौगिक अर्थ वाले सागर रूप अर्थ में प्रवृत्तिनिमित्त होने पर भी "जलभृत्" पद इस अर्थ को देने में असमर्थ है क्योंकि वह मेघ अर्थ में रूढ हो चुका है।[3]

असमर्थ का यह प्रकार वामन के गूढार्थ दोष में अन्तर्भूत हो जाता है, क्योंकि वे भी किसी पद के प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध- दोनों ही अर्थ होने पर अप्रसिद्ध अर्थ में उस शब्द का प्रयोग होने पर गूढार्थ दोष मानते हैं।[4]

1- इदमपरमसामर्थ्यं धातोर्यत्पठ्यते तदर्थोऽसौ ।
न च शक्नोति तमर्थं वक्तुं गमनं यथा हन्ति ॥
- का० 6/5

2- यमकश्लेषचित्रेषु गत्यर्थोऽपि प्रयुज्यते ।
अत एवाल्पोऽयं दोषः ॥ - वही, 6/5 टीका

3- शब्दप्रवृत्तिहेतौ सत्यप्यसमर्थमेव रूढित्वात् ।
यौगिकमर्थविशेषं पदं यथा वारिधौ जलभृत् ॥
- वही, 6/6

4- अप्रसिद्धार्थप्रयुक्तं गूढार्थम् । - का० सू० वृ० 2/1/13.

कभी- कभी यद्यपि पद अभीष्ट अर्थ का वाचक होता है तथापि उस अर्थ तथा अन्य वस्तु के समान रूप के कारण वह पद विवक्षित अर्थ का निश्चय नहीं करा पाता, ऐसे पदों को रुद्रट असमर्थ पद की संज्ञा देते हैं।[1] यथा- "अश्व ने मेघ की कान्ति प्राप्त की" इत्यादि में मेघ के अनेकवर्णी होने के कारण अभीष्ट वर्ण का निश्चयनहीं हो पाता अर्थात् अश्व के वर्ण का निश्चित ज्ञान नहीं हो पाता।

आचार्य रुद्रट उन अनेकार्थक पदों में असामर्थ्य दोष का निषेध करते हैं जो अभिनय द्वारा अर्थविशेष की भलीभाँति प्रतीति कराते हैं[2] क्योंकि काव्य में प्रयुक्त होने वाले अनेकार्थक शब्दों के विवक्षित अर्थों की प्रतीति प्रकरण, अन्य शब्द के संसर्ग अथवा अभिनय से हो जाती है।[3]

अप्रतीत नामक दोष में पद किसी गुण अथवा क्रिया के योग से अप्रसिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है, जबकि वह पद उस अर्थ के अभिधायक रूप में रूढ़ नहीं होता,[4] ऐसे अप्रतीत पद दो प्रकार के होते हैं - संभवदप्रतीत तथा असंभवदप्रतीत। जो पद गुण अथवा क्रिया के कारण अनेकार्थक हो जाता है और उस पद का विशेषण रूप में नहीं वरन् संज्ञा रूप में प्रयोग किया जाता है, उसके अनेकार्थक होने के

1- निश्चीयते न यस्मिन् वस्तु विशिष्टं पदे समानेऽपि ।
असमर्थं तद्यथा मेघच्छविमाप्नोदश्ववत् ।। - का० 6/7

2- यदपदमभिनयवाञ्छितं कुरुतेऽर्थविशेषमन्वयं सम्यक् ।
नैकमनेकार्थतया तस्य न दुष्टत्वमसामर्थ्यम् ।। - वही, 6/8

3- शब्दानामत्र सदानेकार्थानां प्रयुज्यमानानाम् ।
निश्चीयते हि सोऽर्थः प्रकरणशब्दान्तराभिनयैः ।।-वही, 6/9

4- युक्त्या वक्ति स्वार्थं न च रूढं यत्र यदभिधायकतया ।
द्वेधा तदप्रतीतं संभवदसंभवं च पदम् ।। - वही, 6/11

कारण विवक्षित अर्थ की निश्चित प्रतीति न होने से संशयवत्प्रतीति होता है।[1] यथा- "हिमहा" पद का अर्थ है हिम को नष्ट करने वाला। हिम को नष्ट करने का गुण अग्नि में भी होता है और सूर्य में भी, अतः "हिमहा" पद अनेकार्थक है। अग्नि अथवा सूर्य के अर्थ में रूढ़ न होने के कारण इस पद से दोनों ही अर्थों की प्रतीति हो सकती है, इसलिए इसका किसी एक अर्थ में प्रयोग करने पर "संशयवत्प्रतीत" दोष होगा। व्युत्पत्तिपरक एवं रूढ़ शब्दों के पर्यायों द्वारा विवक्षित अर्थ में कल्पित होने पर असंभाव्यप्रतीत दोष होता है यथा - वडवामुखानल के वाच्य होने पर उसके पर्याय रूप "अश्वयोषिन्मुखार्चिष्मान्" शब्द का प्रयोग[2] किए जाने पर "वडवामुखानल" पद व्युत्पत्तिपरक [यौगिक] अपने पर्यायरूप "अश्वयोषिन्मुखार्चि-ष्मान्" पद से "और्वाग्नि" रूप विवक्षित अर्थ में कल्पित होता है, अतः यह पद असंभाव्यप्रतीत है। स्पष्ट है कि इस दोष में पद विवक्षितार्थ को देने में समर्थ होता है तथापि उस अर्थ में रूढ़ न होने के कारण उसका प्रयोग दोषपूर्ण होता है। भरत मुनि का गूढार्थ तथा रुद्रट का असंभाव्यप्रतीत[3] अभिन्न हैं क्योंकि भरतमुनि भी पर्याय-शब्दाभिहित में गूढार्थ दोष मानते हैं।

1- साधारणपरेऽप्यपि गुणादि कृत्वा निमित्तमेकस्मिन् ।
यत्प्रयुक्तमभिधानं तदर्थे संशयवद्यथा हिमहा ।। - वही, 6/12

2- पदमपरमप्रतीतं यद्यौगिकरूढशब्दपर्यायैः ।
कल्पितमर्थे तस्मिन्यथाऽश्वयोषिन्मुखार्चिष्मान् ।।
- वही, 6/13

3- पर्यायशब्दाभिहितं गूढार्थमिति कीर्तितम् ।
- ना० शा० 17/88 पूर्वार्द्ध

अवाचक दोष असमर्थ और अप्रतीत से सर्वथा भिन्न है क्योंकि अवाचक पद विवक्षित अर्थ का अभिधायक ही नहीं होता जबकि असमर्थ और अप्रतीत दोष में पद अर्थविशेष का अभिधायक (वाचक) होते हुए भी, अन्य पद की सन्निधि के कारण तथा रूढ़ि न होने के कारण असमर्थ तथा अप्रतीत हो जाता है।[1]

आचार्य रुद्रट के अनुसार विसन्धि दोष उस पद में होता है जिस पद की अपने पूर्व पद के साथ सन्धि नहीं होती अथवा होने पर भी निकृष्टार्थक होती है।[2] यथा- "मन्मथया भरत आहूतः" में "मन्मथयाभरत" में सन्धि होने पर पद-भङ्ग द्वारा मन्द (मन्मथ) मैथुन (दाभ) में संलग्न (रत) इस विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है। यह विसन्धि है। असन्धि दोष उन पदों में होता है जो बिना युक्ति के प्रयुक्त होते हुए अपने से पूर्व और पश्चाद्वर्ती पदों के साथ युक्त नहीं हो पाते अर्थात् उनका योग नहीं हो पाता यथा- स इत्थं मन्मथया भरत आहूतः में "स इत्थं" तथा "भरत आहूतः" असन्धि के उदाहरण है। इनसे पहले आचार्य भरत ने यद्यपि इसका लक्षण किया है[3] किन्तु इससे इस दोष का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है। आचार्य भामह ने इस दोष को केवल उदाहरण के माध्यम से

1- अथ किमेतावसमर्थाप्रतीतदोषाववाचकत्वेन परिहृतौ । नैत्युच्यते । यतो यत्किञ्चिदपि [illegible] तमर्थं नाभिधत्ते तदवाचकम् । इह तु पदमर्थाभिधायकमेव। केवलं पदान्तरसन्निधानादसामर्थ्यमरूढ्या वाप्रतीतत्वमागतमिति ।
- का० 6/13 टीका

2- यस्यादिपदेन समं सन्धिर्न भवेदनिष्टको वा ।
तदिति विसन्धि स इत्थं मन्मथया भरत आहूतः ॥- वही, 6/14

3- अनुपश्लिष्टशब्दं यद् विसन्धीति कीर्तितम् ।
- ना० शा० 17/93 पूर्वार्द्ध

प्रस्तुत किया है। उनके उदाहरण[1] से स्पष्ट है कि जहाँ पदों में सन्धि न हो उनके मत में वही विसन्धि दोष है। किन्तु वामन ने इस दोष के स्वरूप तथा भेदों को सोदाहरण स्पष्ट किया है। उनके अनुसार पदों की विरूप सन्धि ही विसन्धि है।[2] इस विसन्धि के उन्होंने तीन भेद किए हैं - विश्लेष, अश्लीलत्व तथा कष्टत्व।[3] इनके विश्लेष[4] तथा अश्लीलत्व[5] ही रुद्रट के असन्धि तथा विसन्धि दोष हैं। इस प्रकार इस दोष के विवेचन में रुद्रट ने वामन का अनुसरण किया है किन्तु वामन ने इसे वाक्य-दोषों के अन्तर्गत रखा है।[6]

आचार्य रुद्रट के अनुसार विपरीतकल्पना दोष उस पद में होता है जो अभीष्ट अर्थ से विपरीत अर्थ में कहा गया प्रतीत होता है अर्थात् वह विपरीतार्थ के आभास का उत्पादक होता है यथा अकार्यमित्र[7] - इसका अभीष्ट अर्थ है- "अकारण मित्र" किन्तु इस पद से अकार्य [पाप] में साथ देने वाला- इस विपरीतार्थ की प्रतीति होती है। डॉ० वी० राघवन् वामन के सन्दिग्ध दोष से उक्त दोष को अभिन्न

1- कान्ते इन्दुशिरोरत्ने आदधाने उदंशुनी ।
पातां वः शम्भुशर्वाण्याविति प्राहुर्विसन्धिवत् ।।
- काव्यालङ्कार 4/28

2- विरूपपदसन्धिर्विसन्धिः । - का० सू० वृ० 2/2/7

3- पदसन्धिवैरूप्यं विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वञ्च । - वही, 2/2/8

4- विश्लेषो विभागेन पदानां संस्थितिरिति- अश्लीलत्वम् ।
- का० सू० वृ० 2/2/8 वृत्तिभाग

5- अश्लीलत्वं यथा- विरेचकमिदं नृत्तमाचार्याभासयोजितम् ।।
चकासे पनसप्रायैः पुरी षण्डमहाद्रुमैः । विना शपथदानाभ्यां
पदवादसमुत्सुकम् । - वही

6- भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसन्धीनि वाक्यानि । - वही, 2/2/1

7- पूर्वापरसम्बन्धाद् यस्यार्थः स्पष्ट एव सम्भवति ।
विपरीतकल्पनं तद्भवति पदमकार्यमित्रमिव ।।
- काव्यालङ्कार 6/16

मानते हैं।[1] वामन संशय उत्पन्न करने वाले वाक्य को "सन्दिग्ध" मानते हैं।[2] यथा- "स भाग्यवशान्महापदमुपागतः ।" में "महापद" से महान् पद अथवा महान् आपद् [विपत्ति]- इन संशयकर अर्थों की प्रतीति होती है।

ग्राम्यत्व नामक पददोष उस स्थिति में उत्पन्न होता है जब कोई पद किसी विषय में अयोग्य होने पर भी उस विषय में प्रयुक्त होता है।[3] यह ग्राम्यत्व वस्तु तथा वक्ता के भेद से दो प्रकार का होता है।[4] जो कथन वस्तु में उचित होता है तथा वक्ता में अनुचित- उसे वक्तृविषयक ग्राम्यत्व कहते हैं, इसके विपरीत जो वक्ता में उचित होता है और वस्तु में अनुचित- उसे वस्तुविषयक ग्राम्यत्व कहते हैं।[5] वक्तृविषयक ग्राम्य को स्पष्ट करने के लिए रुद्रट ने पात्र की तीन कोटियों का उल्लेख किया है। उत्तम, मध्यम तथा अधम- इन तीन प्रकार के पात्रों में से कोई पात्र किसी सम्बोधन- पद का उच्चारण करने योग्य नहीं होता।[6] जब वह उस पदविशेष को कहता है तो वक्तृविषयक ग्राम्य होता है। यथा- अधम कोटि का पात्र [वक्ता] उत्तमकोटि के पात्र के लिए "तत्रभवत्" "भगवन्" इत्यादि पदों से सम्बोधन करने योग्य नहीं होता अतः उसके द्वारा इन सम्बोधनों का प्रयोग वक्तृविषयक ग्राम्यदोष

1- विपरीतकल्पना is illustrated by the expression अकार्यमित्र and this is वामन's Sandigdha. Bhoja's शृ0प्र0 p.231.

2- संशयकृत् संदिग्धम् । - का0सू0वृ0 2/2/20

3- तदनुचितं यत्र पदं तत्तत्रैवोपजायते ग्राम्यम् ।
- काव्यालङ्कार 6/17 पूर्वार्द्ध

4- तद्वक्तृवस्तुविषयं विभिद्यमानं द्विधा भवति ।।
- काव्यालङ्कार 6/17 उत्तरार्द्ध

5- अत्र यद्वस्तुनि वक्तुमुचितं वक्तरि त्वनुचितं तद्वक्तृविषयं ग्राम्यम् । विपरीतं तु वस्तुविषयमिति । - वही नमिसाधुकृत टीका

6- वक्ता त्रिधा प्रकृत्या नियतं स्यादधममध्यमोत्तमया ।
तत्र च कश्चित्किंचिन्नोचार्हतिपदमुदाहर्तुम् ।।
- वही, 6/18.

को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार उत्तम प्रकृति का पात्र उत्तम प्रकृति के पात्र को "भट्टारक" पद से सम्बोधित नहीं कर सकता।[1]

इसी प्रकार मुनि इत्यादि उत्तमपात्र राजा को "तत्रभवत्" "भगवन्" इत्यादि सम्बोधन से सम्बोधित नहीं कर सकते और न ही राजा मुनि को "परमेश्वरेश" इत्यादि पदों से सम्बोधित कर सकता है।[2]

आचार्य रुद्रट ने एक अन्य प्रकार की पदग्राम्यता का भी विवेचन किया है। उनके अनुसार उन पदों में भी ग्राम्यत्व दोष रहता है, जो शिष्ट तथा अशिष्ट दोनों अर्थों के वाचक होते हैं।[3] ऐसे पद शिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होकर भी अश्लील अर्थ का आभास कराते हैं। यथा-

> वारयति सखी तस्या यथा यथा तां तथा तथा सापि ।
> रोदितितरां वराकी वाष्पभरक्लिन्नगण्डमुखी ।।[4]

इस पद्य में प्रयुक्त "क्लिन्नगण्ड" पद आर्द्रकपोल- इस शिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी पूय से युक्त पिटारी - इस अश्लील अर्थ का आभास कराता है। टीकाकार नमिसाधु के मतानुसार शिष्ट और अशिष्ट दोनों ही अर्थों वाले शब्द सज्जनों द्वारा

1- तत्रभवन्भगवन्निति नार्हत्यधमो गरीयसो वक्तुम् ।
   भट्टारकेति च पुनर्नैवानुत्तमप्रकृतिः ।। - वही, 6/19

2- तत्रभवन्भगवन्निति नैवार्हत्युत्तमोऽपि राजानम् ।
   वक्तुं नापि कथंचिन्मुनिमपि परमेश्वरेति ।। - वही, 6/20

3- पदमिदमनुचितमपरं स्याच्छ्यार्थवाचि सभ्येऽर्थे ।
   तद्धि प्रयुज्यमानं निदधाति मनस्यसभ्यमपि ।। - वही, 6/21

4- वही, 6/22.

दोषी नहीं ठहराए जाते। अतः इन शब्दों के प्रयोग का अन्त नहीं हो सकता।[1] स्पष्ट है कि इनकी दृष्टि में काव्य में यह ग्राम्यत्वदोष दुष्टों की सभा में ही उत्पन्न होता है, सज्जनों के मध्य नहीं। आचार्य रुद्रट इस प्रकार के ग्राम्य पदों को कहीं- कहीं दोषरहित मानते हैं, जहां वे पद किसी अर्थविशेष के कारण अथवा विभक्ति के कारण ग्राम्यत्व को त्यागकर केवल शिष्ट अर्थ ही देते हैं।[2] यथा-

"कथमिव वैरिगजानां मदसलिलक्लिन्नगण्डभित्तीनाम् ।
दुर्वारैरपि घटासौ विघाप्यते दारिता भवता ।।[3]

उपर्युक्त पद्य में "गज" तथा "वीररस" रूप विशिष्ट अर्थों के कारण "क्लिन्न-गण्ड" पद ग्राम्यता को त्यागकर "आर्द्र कपोलस्थल" रूप शिष्ट अर्थ का बोध कराता है।

आचार्य रुद्रट ने एक और अन्य प्रकार की पद-ग्राम्यता का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार वाच्यार्थ के समान होने पर भी कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनका प्रयोग महाकवियों का अनुसरण करते हुए ही करना चाहिए । उन्हीं के समान प्रयोग न करने पर दोष होता है यथा- मञ्जीरादि में रणित, पक्षियों में

1- नन्वेवंविधस्य पदस्याभिधार्थवाचकत्वादन्योऽपि प्रयोगो न स्यात् तत्तश्चास्य प्रयोगोच्छेद एवागतः । नैतत् । अदुष्टो ह्ययं दुष्टेन दूष्यते न तु दुष्टः साधुनेति । - वही, 6/21 टीका

2- अर्थविशेषवशाद् वा सम्येऽपि तथा क्वचिद्विभक्तेर्वा ।
अनुचितमार्थं कुर्वन्ति तथाविधं तत्पदं यदपि ।। - वही, 6/23

3- वही, 6/24

कूजित, संयोग में मणित तथा मेघादि में गर्जित इत्यादि प्रयोग होना चाहिए इनसे भिन्न प्रयोग में दोष होता है।[1]

इस प्रकार आचार्य रुद्रट ने अनेक प्रकार की वस्तुविषयक ग्राम्यता का विवेचन किया है। पूर्ववर्ती आचार्य वामन उन पदों को ग्राम्य कहते है जो केवल लोक में प्रयुक्त होते है शास्त्र में नहीं, ऐसे पदों का प्रयोग दोषपूर्ण होता है।[2] आचार्य भामह ने "ग्राम्य" दोष का लक्षण नहीं किया है किन्तु श्रुतिकष्ट दोष के निरूपण में "गण्ड" जैसे ग्राम्य पद को वर्ज्य कहा है।[3] इस प्रकार "ग्राम्य" दोष का इतना विस्तृत और स्पष्ट विवेचन करने वाले रुद्रट प्रथम काव्यशास्त्री हैं।

इस दोष के पश्चात् रुद्रट ने "देश्यपद" नामक दोष का विवेचन किया है। उनके अनुसार प्रकृति और प्रत्ययमूलक व्युत्पत्तिरहित देशी पदों का प्रयोग काव्य में दोष है।[4] जिनकी व्युत्पत्ति सम्भव है यथा - "छिन्नोद्भवा" महानट, पशुकृज- इन पदों का प्रयोग कभी- कभी किया जा सकता है किन्तु "मठह" इत्यादि पदों की रूढि [प्रसिद्धि] की भ्रान्ति से संस्कृत में रचना नहीं करनी चाहिए।

1- मञ्जीरादिषु रणितप्रायान्पक्षिषु च कूजितप्रभृतीन् ।
   मणितप्रायान्सुरते मेघादिषु गर्जितप्रायान् ।।
   दृष्ट्वा प्रयुज्यमानानेवंप्रायांस्तथा प्रयुञ्जीत ।
   अन्यत्रैतेऽनुचिताः शब्दार्थत्वे समानेऽपि ।। - वही, 6/25-26.

2- लोक एव यत् प्रयुक्तं पदं न शास्त्रे तद् ग्राम्यम् ।- का०सू०वृ० 2/1/7

3- न तदिच्छन्ति कृतिनो गण्डमथापरे किल । - का० 1/53.

4- प्रकृतिप्रत्ययमूला व्युत्पत्तिर्नास्ति यस्य देश्यस्य ।
   तन्मठहादि कथञ्चन रूढिरिति न संस्कृते रचयेत् ।।
   - वही, 6/27.

आचार्य ने दोष के प्रसङ्ग में प्रारम्भ में ही अधिक- पद वाक्य के प्रयोग को दोष कहा है। इससे शङ्का हो सकती है कि कहीं- कहीं एक ही पद अनेक बार प्रयुक्त होता हुआ भी पुनरुक्ति- दोषपूर्ण क्यों नहीं होता? उसी का समाधान रुद्रट ने सरल शब्दों में किया है। उनके अनुसार हर्ष या भय से मन के आक्षिप्त होने के कारण वक्ता एक ही अर्थ में जब पद का असकृद् प्रयोग करता है तब पुनरुक्ति दोष नहीं होता।[1] यथा- "वद वद जितः स" अथवा "जय जय वैरिविदारण।"[2] इत्यादि । इसी प्रकार और भी पुनरुक्ति के स्थल हैं- जैसे किसी पद का अन्य अर्थ में पुनः प्रयुक्त होना, अथवा उसके पर्याय का पुनः प्रयुक्त होना अथवा वीप्सा को प्रकट करने के लिए किसी पद की पुनरुक्ति।[3] उदाहरणार्थ "गजरक्तरक्तकेसरभारः" में "रक्त" पद दो बार प्रयुक्त हुआ है किन्तु दूसरी बार वह "रञ्जित" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। "तनुशरीरोऽपि" में तनु के पर्याय "शरीर" पद का प्रयोग हुआ है किन्तु यहाँ "तनु" कृश अर्थ में तथा "शरीर" पद देह अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[4] इसी प्रकार वीप्सा को द्योतित करने के लिए "दिशिदिशि" पद की पुनरुक्ति है किन्तु इन सब स्थलों पर पुनरुक्तिदोष नहीं है। इनके अतिरिक्त बोद्धा को समझाने के लिए पुनरुक्त शब्द अथवा वाक्य दोषपूर्ण नहीं होते।[5] यथा-

---

1- वक्ता हर्षभयादिभिराक्षिप्तमनास्तथा स्तुवन्निन्दन् ।
यत्पदमसकृद् ब्रूयात्तत्पुनरुक्तं न दोषाय ।। - वही, 6/29

2- वही, 6/ 30-31

3- यत्पदमर्थेऽन्यस्मिंस्तत्पर्यायोऽथवा प्रयुज्यते ।
वीप्सायां च पुनस्तन्न दुष्टमेवं प्रसिद्धं च ।।- वही, 6/32.

4- वही, 6/33

5- यत्र प्रतिपत्ता वा न प्रतिपद्येत वस्तु सकृदुक्तम् ।
तत्र पदं वाक्यं वा पुनरुक्तं नैव दोषाय ।।

- काव्यालङ्कार 6/34.

किं चिन्तयसि सखे त्वं वत्मॆ त्वामहिम पश्य पश्येदम् ।
ननु किं न पश्यसीदृक्पश्य सखे सुन्दरं स्त्रैणम् ॥[1]

इस पद्य में "पश्य" पद की तथा नन्वित्यादि वाक्य की पुनरुक्ति दोषरहित है। एक अन्य प्रकार की पुनरुक्ति तथा आधिक्य पद की अदोषता का भी रुद्रट ने उल्लेख किया है। उनके अनुसार अन्य अर्थ वाला पद जब किसी अन्य सुन्दर अर्थ को देने के लिए प्रयुक्त होता है अथवा प्रशंसा के लिए प्रयुक्त पद की अधिकता पुनरुक्ति होती है, तो उसकी अधिकता अथवा पुनरुक्ति दोषरहित होती है।[2] यथा-

नासीरोद्धतधूलिध्वलितहस्तकलापिकेशहस्तस्य ।
अविकलङ्घ्योऽयं महिमा तव मेरुमहीधरस्येव ॥[3]

इसमें "हस्त" पद "कलाप" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा "मेरु" पद से "पर्वत" अर्थ लक्षित होने पर भी "महीधर" पद का प्रयोग किया गया है; किन्तु ये दोनों पद प्रशंसार्थक हैं, अतएव अदुष्ट हैं। आचार्य रुद्रट से पहले भामह तथा दण्डी ने पुनरुक्ति दोष के परिहार का विवेचन किया है, किन्तु उन्होंने केवल मन की अभिव्यक्ति के कारण होने वाली पुनरुक्ति को अदोष कहा है[4] जबकि रुद्रट ने विभिन्न रूपों में होने वाली पुनरुक्ति की चर्चा करके विस्तृत दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

1- वही, 6/35

2- अन्याभिधेयमपि सत्प्रयुज्यते यत्पदं प्रशंसार्थम् ।
तस्य न दोषाय स्यादाधिक्यं पौनरुक्त्यं वा ॥
- वही, 6/36

3- वही, 6/37

4- [क] भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि ।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः ॥
- काव्यालङ्कार 4/14

[ख] अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद् विवक्ष्यते ।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलङ्क्रिया ॥
- काव्या० 3/137.

रुद्रट ने इसी के साथ एक अन्य प्रकार की असङ्गति की भी अदोषता का प्रतिपादन किया है- जहाँ वक्ता स्वयं ही अनेक अर्थों का परामर्श करता है अर्थात् परस्पर असम्बद्ध अर्थों को बोलता है,[1] वहाँ असङ्गति दोषपूर्ण नहीं होती। यथा-

> कुसुमशरः सुलक्षणमहो न मलयानिलस्य सेव्यत्वम् ।[2]
> सुमनोहरः प्रदेशो रूपमहो सुन्दरं तस्याः ।।

वाक्यदोष -

पदगत दोषों के पश्चात् आचार्य रुद्रट ने सङ्कीर्ण, गर्भित तथा गतार्थ- इन तीन वाक्यदोषों की चर्चा की है।[3] जिस वाक्य के पद अन्य वाक्य के साथ मिले रहते हैं उसे सङ्कीर्ण वाक्य कहते हैं। ऐसे वाक्य से या तो अर्थ का बोध नहीं होता या अनर्थ का बोध होता है।[4] जैसे -

> किमिति न पश्यसि कोपं पादगतं बहुगुणं गृहाणेमम्।[5]
> ननु मुञ्च हृदयनाथं कण्ठे मनसस्तमोरूपम् ।।

प्रस्तुत पद्य में वाक्यों के पद मिश्रित हैं। अतः पैरों पर गिरे हुए कोप को क्यों नहीं देखती? गुणों वाले इस कोप को ग्रहण करो। मन के अन्धकार रूप प्रियतम

1- का० 6/38

2- वही, 6/39

3- वाक्यं भवति तु दुष्टं सङ्कीर्णं गर्भितं गतार्थं च ।
- वाक्यालङ्कार 6/40 पूर्वार्द्ध

4- वाक्येन यस्य सार्धं वाक्यस्य पदानि यान्ति मिश्राणि ।
तत्सङ्कीर्णं गमयेदनर्थमर्थं न वा गमयेत ।। - वही, 6/41

5- वही, 6/ 42.

को त्याग दो, इस अनर्थ का बोध होता है। भरत के "भिन्नार्थ" नामक दोष से उक्त दोष अभिन्न है क्योंकि असभ्य एवं ग्राम्य प्रयोग के साथ-साथ वे स्थल भी अभिन्न दोष में आते हैं जहाँ विवक्षित अर्थ दूसरा होता है और प्रतिपादन किसी अन्य का होता है।[1] अभिनवगुप्त ने असभ्य प्रयोग का जो उदाहरण दिया है वह रुद्रट के सङ्कीर्ण दोष के बहुत निकट है -

ज्वरं भुञ्जीततज्जातमत्यार्कं चिरस्थितम् ।
स्वादुग्धोदनं हन्यात् त्रिदोषोत्कोपसम्भवम् ।।[2]

इस पद्य में ज्वर एवं तत्सम्बन्धी क्रिया हन्यात् में पर्याप्त व्यवधान है, इसीलिए ज्वर का सम्बन्ध भुञ्जीत के साथ तथा "स्वादुग्धोदन" का हन्यात् के साथ प्रतीत होता है जिससे असभ्य अर्थ की प्रतीति होती है। इसमें एक वाक्य के पद का अन्य वाक्य के पद के साथ मिश्रण है।

आचार्य रुद्रट का उपर्युक्त "सङ्कीर्ण" नामक दोष वामन के क्लिष्ट दोष के समान ही है, क्योंकि इसमें भी व्यवधान से अर्थ की प्रतीति होती है।[3] यथा -

---

1- भिन्नार्थमभिविज्ञेयमसभ्यं ग्राम्यमेव च ।।
विवक्षितोऽन्य एवार्थो यत्रान्यार्थेन विद्यते ।
भिन्नार्थं तदपि प्राहुः काव्यं काव्यविचक्षणाः ।।
- ना० शा० 16/90-91

2- अभि० भा०, पृ०-1315.

3- व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टम् । अन्त्याभ्यां वाक्यं व्याख्यातम् ।।
अश्लीलत्वं क्लिष्टत्वं चेत्यन्त्ये पदे । ताभ्यां वाक्यं व्याख्यातम् ।
तद्वदश्लीलं क्लिष्टं च भवति। क्लिष्टं यथा दक्षिणात्यस्य न कस्य
प्रेय श्रियामं कुरङ्गशावकाक्ष्याः रम्यत्वपूर्वकमद्भुतलक्ष्मीमिव शोभाम् ।
- का० सू० वृ० 2/1/20,22 तथा वृत्ति ।

"अभिमल्लस्य न कस्य" इत्यादि में दूरान्वयवाची पदों के कारण वाक्यबोध में क्लिष्टत्व है।

जिस वाक्य के बीच में अन्य वाक्य के रहने के कारण वह अपना अर्थ कठिनाई से दे पाता है उस वाक्य में गर्भितदोष होता है। जैसे -

योऽयो यस्ते पुत्रः सोऽयं बालक लक्ष्मणेन मया ।
रक्षैनं मृत्युमुखं प्रसभं लघु नीयते विवशः ।।[2]

प्रस्तुत पद्य में "रक्षैनम्" इस अन्य वाक्य के बीच में रहने के कारण "वह पुत्र लक्ष्मण के द्वारा बलात् परवश बनाकर शीघ्र काल के मुख में ले जाया जा रहा है।" इस अर्थ को मुख्य वाक्य कठिनाई से दे पाता है। जिस वाक्य का अर्थ भिन्न अर्थ वाले अन्य वाक्यों द्वारा गम्य होता है वे गतार्थदोष के उदाहरण होते हैं। यह दोष प्रबन्धों में मिलता है।[3] गर्भित तथा गतार्थ वाक्य-दोष रुद्रट की मौलिक उद्भावना है।

<u>अर्थदोष -</u>

काव्यालङ्कार के ग्यारहवें अध्याय में रुद्रट ने अर्थदोषों का निरूपण किया है। अपहेतु, अप्रतीत, निरागम, बाधक, असम्बद्ध, ग्राम्य, विरस, तद्वान् और अतिमात्र - इन्हें रुद्रट ने अर्थदोष कहा है।[4]

1- यस्यप्रविशेदन्तर्वाक्यं वाक्यस्य तीतार्थतया ।
तद्गर्भितमिति गम्यो ऽन्यस्त्वर्थः कष्टकल्पनया ।।- का० 6/43

2- वही, 6/44

3- यस्यार्थः सामर्थ्यादन्यार्थैरेव गम्यते वाक्यैः ।
तदिति प्रबन्धविषयं गतार्थमितरतो विद्यात् ।। -काव्यालङ्कार 6/45

4- अपहेतुरप्रतीतो निरागमो बाधयन्नसम्बद्धः ।
ग्राम्यो विरसस्तद्वानतिमात्रश्चेति दुष्टोऽर्थः ।।- वही, 11/2

"अपहेतु" दोष वहाँ होता है जहाँ कोई अर्थ किसी का कारण लगता है किन्तु बलवती युक्ति के द्वारा उसकी हेतुता बाधित हो जाती है।[1] यथा -

तव दिग्विजयारम्भे बलधूलिबहलतोयजनितेषु ।
गगनस्थलेषु भानोश्चक्रमपूर्णम्... ।।[2]

इस पद में धूलि का आधिक्य "गगनस्थल" का हेतु बन जाता है किन्तु आकाश में निराधार होने के कारण स्थल की सत्ता सम्भव ही नहीं है, इस प्रकार हेतुता बाधित हो जाती है। भामह के "हेतुहीन"[3] नामक दोष को ही रुद्रट ने अपहेतु की संज्ञा दी। जो अर्थ विद्यमान होने पर भी प्राचीन कवियों द्वारा प्रयुक्त नहीं किया गया है उसे "अप्रतीत" कहते हैं।[4] यथा- "पुलक" शब्द का वाच्यार्थ वृक्षविशेष है किन्तु इस अर्थ में "पुलक" शब्द का प्रयोग पूर्व कवियों द्वारा नहीं किया गया है। इसलिए उक्त अप्रयुक्त अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यह दोष वामन के "गूढार्थ"[5] नामक "पदार्थ दोष" के समान

1- अपहेतुरसौ यस्मिन् केनचिदर्थेन हेतुतामर्थः ।
यान्ति यथा ते युक्त्या बलवत्या बाध्यते परया।।
- काव्यालङ्कार 11/3

2- वही, 11/4

3- वही, 5/21

4- अर्थोऽप्रतीतो यः सन्नपि न प्रयुज्यते बुधैः ।
शब्दमिव क्रिमाति तन्वी विलसत्पुलकोत्करेयमिति ।।
- वही, 11/5

5- अप्रसिद्धार्थप्रयुक्तं गूढार्थम् ।
- का० सू० वृ० 2/1/13

है। भामह के आगमविरोधी[1] को ही रुद्रट ने "निरागम" कहा है। जो अर्थ धर्मशास्त्र तथा उनके द्वारा बताए गए लोक मर्यादा [आगम] से गम्य होकर भी उसका अति-क्रमण करके उपन्यस्त होता है उसे "निरागम" कहते हैं।[2] जैसे – वह ब्राह्मण सदैव राजसूय और अश्वमेध यज्ञ करता था। यह अर्थ "निरागम" दोष से दुष्ट है क्योंकि राजसूय और अश्वमेध यज्ञ राजा ही करते हैं ब्राह्मण नहीं। जहाँ अर्थ उसी वक्ता के द्वारा पहले कहे गए अर्थ को बाधित कर देता है वहाँ "बाधयन्" दोष होता है जैसे-[3] हे मृगाक्षि ! मैत्रे त्वदनुपमे । इस कथन में "मैत्रे त्वदनुपमे" अर्थ में बाधयन् दोष है क्योंकि यह "मृगाक्षि" अर्थ को बाधित कर रहा है। इस प्रकार यह दोष पूर्वापर[4] विरोध के स्थलों पर होता है अतः भामह, दण्डी तथा वामन के व्यर्थ दोष से अभिन्न है। जो अर्थ प्राकरणिक अर्थ के क्रम से प्राप्त होकर भी उस अर्थ के लिए वैशिष्ट्य का आधान नहीं करता या उपयोगी नहीं होता उसे असम्बद्ध कहते हैं;[5] जैसे तुम्हारी कीर्ति अत्यधिक फेन वाले सागर को लाँघ गयी है। प्रस्तुत पंक्ति में "बहुफेनत्व का प्रयोग अनुपयोगी होने के कारण असम्बद्ध है क्योंकि फेन का आधिक्य यदि

1- आगमो धर्मशास्त्राणि लोकसीमा च तत्कृता ।
तद्विरोधि तदाचारव्यतिक्रमणतो यथा ॥ – काव्यालङ्कार 4/48

2- आगमबाह्यस्तस्मिन् उच्यतेऽर्थो निरागमः स इति ।
यत्र स राजसूयं यजते विप्रोऽश्वमेधं च ॥ – काव्यालङ्कार 11/6

3- यः पूर्वमन्यथोक्तं तद्वक्तृकमेव बाधतेऽर्थम् ।
अर्थः स बाधयन्निति मृगाक्षि मैत्रे त्वदनुपमे ॥- वही, 11/7

4- [क] विरुद्धार्थं मतं व्यर्थं विरुद्धं तूपदिश्यते ।
पूर्वापरार्थव्याघातात् विपर्ययकरं यथा ॥- वही, 4/9

[ख] एकवाक्ये प्रबन्धे वा पूर्वापरपराहतम् ।
विरुद्धार्थतया व्यर्थमिति दोषेषु पठ्यते ॥- काव्यादर्श 3/131

[ग] व्याहतपूर्वोत्तरार्थं व्यर्थम् ॥ – का० सू० वृ० 2/2/10

5- प्रकृतानुपयोगी प्राप्तौ यस्तत्क्रमादसम्बद्धः ।
स इति यथा ते कीर्तिर्बहुफेनं जलनिधिं लङ्घ्य ॥
– काव्यालङ्कार 11/8

सागर की दुस्तरणीयता का कारण होता तो वह कीर्ति के अतिशय का विस्तार करता किन्तु ऐसा नहीं होता अतः उक्त स्थल में असम्बद्ध दोष है।[1] यह दोष रुद्रट की मौलिक उद्भावना है, अतः उक्त दोष को वामन के "व्यर्थ" का दूसरा भेद कहना अनुचित है,[2] उसमें पुनरुक्ति होती है जबकि असम्बद्ध दोष में इसका प्रसङ्ग ही नहीं है। देश, कुल, जाति, विद्या, धन, अवस्था, स्थान तथा पात्रों में चेष्टा, आकृति, वेश तथा वाणी-विषयक अनौचित्य ही अथवा ग्राम्यत्व है।[3] यथा कुलजाओं में धूर्तता, वेश्याओं में मुग्धता इत्यादि का वर्णन ग्राम्यत्व है।[4] यह दोष भामह,[5] दण्डी[6] तथा वामन[7] के देशविरुद्ध एवं लोकविरुद्ध से भिन्न नहीं है।

1- उक्तार्थं पदमेकार्थम् । न विशेषश्चेत् । न महार्थं दृष्टं विशेषश्चेत् प्रतिपाद्यः स्यात् । - का० सू० वृ० 2/2/11-12 वृत्ति

2- असम्बद्ध is वामन's व्यर्थ of the second variety
न विशेषश्चेदेकार्थम् । Bhoja's शृ० प्र० Page 232.

3- ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम् ।
देशकुलजातिविद्यावित्तवयःस्थानपात्रेषु ॥ - का० 11/9

4- प्रागल्भ्यं कन्यानामव्याजो मुग्धता च वेश्यानाम् ।
वैदग्ध्यं ग्राम्याणां कुलजानां धौर्त्यमित्यादि ॥- वही, 11/10

5- यो देशो द्रव्यसम्भूतिरपि वा नोपदिश्यते ।
तत्तद् विरोधि विज्ञेयं स्वभावात् तद्यथोच्यते ॥
- का० 4/39
स्यात्सुदङ्गमभेदेन लोकं तत्त्वविदो विदुः ।
स च तद्व्यवहारोऽस्त तद् विरोधकृत् ॥ - 4/36

6- का० द० 3/162

7- का० सू० वृ० 2/2/23.

किसी भिन्न रस के प्रसङ्ग में किसी अप्राकरणिक रस का आ जाना विरस दोष होता है।[1] यथा- शोक के प्रसङ्ग में शृङ्गार का वर्णन।[2] इसके साथ ही रुद्रट ने एक अन्य प्रकार के विरस का भी विवेचन किया है, उनके अनुसार प्रासङ्गिक रस का अत्यधिक विस्तार भी वैरस्य उत्पन्न करता है।[3] रुद्रट से पूर्व भरतादि ने इसका उल्लेख नहीं किया था ।

किसी वस्तु में नित्य रूप से रहने वाले गुण को छन्दः पूर्ति के लिए उस वस्तु के विशेषण रूप में रखना तद्वान दोष है।[4] यथा- दावाग्नि में प्रचण्डता नित्य रूप से [अव्यभिचरित रूप से] रहती है किन्तु छन्द में दावाग्नि के विशेषण रूप में उसका उपन्यास दोष है।[5] वामन के अनर्थक दोष में भी पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त शब्द दोषपूर्ण होता है,[6] किन्तु वामन ने इसे पदगत दोष के अन्तर्गत रखा है जबकि रुद्रट का उक्तदोष अर्थगत है, इसीलिए सूक्ष्म रूप में इन दोषों में अन्तर अवश्य है। जहाँ वामन पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त "तु" आदि शब्दों को अनर्थक मानते हैं वहीं रुद्रट उन गुणों के उपन्यास को ही तद्वान दोष मानते हैं, जो वस्तुविशेष में नित्य रूप से रहते हैं।

1- अन्यस्य यः प्रसङ्गे रसस्य निपतेद्रसः क्रमापेतः ।
विरसोऽसौ स च शक्यः सम्यग्ज्ञातुं प्रबन्धेभ्यः ॥ - का० 11/12

2- तव वनवासोऽनुचितः पितृमरणशुचं विमुञ्च किं तपसा ।
सफलय यौवनमेतत्सममनुरक्तेन सुतनु मया ॥ - वही, 11/13

3- यः सावसरोऽपि रसो निरन्तरं नीयते प्रबन्धेषु ।
अतिमहतीं वृद्धिमसौ तथैव वैरस्यमायाति ॥ - वही, 11/14

4- यो यत्राव्यभिचारी स गुणादिस्तद्विशेषणं क्रियते ।
परिपूरयितुं छन्दो यत्र स तद्वानिति ज्ञेयः ॥- का० 11/15

5- .... तद् दवदहनोऽतितीव्रेण ॥ - वही, 11/16

6- पूरणार्थमनर्थकम् । - का० सू० वृ० 2/1/9.

अतिमात्र दोष रुद्रट के अनुसार वहाँ होता है, जहाँ लौकिक सीमा का अतिक्रमण हो।[1] यह दोष भामह के अयुक्तिमद् दोष[2] के समान ही है।

रुद्रट ने जिस प्रकार पदगत तथा वाक्यगत दोषों के अनन्तर कुछ स्थलों के दोष-राहित्य का प्रतिपादन किया है, उसी प्रकार अर्थगत दोषों के पश्चात् भी कहीं-कहीं असम्बद्ध अर्थ के प्रसङ्ग में दोषराहित्य का उन्होंने उल्लेख किया है। उनके अनुसार दूसरे के मत के अभिधान के लिए जो बात असम्बद्ध होती है, वही जब वक्ता द्वारा अपनी असम्बद्ध बात की सङ्गति के लिए कही जाती है तो ऐसी असङ्गति दोष रहित[3] होती है। उदाहरण के लिए उन्होंने पद्य भी उद्धृत किया है।[4]

इसके साथ ही रुद्रट ने उन स्थलों को भी अदुष्ट कहा है, जहाँ अभिधेय का अतथ्यत्व अनुपपन्न होने पर भी वक्ता के उन्माद, मूढ़ता अथवा उत्कण्ठा में कहे जाने के कारण उपपन्न होता है।[5] यथा-

> भुक्ता हि मया गिरयः स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियद् ।
> हरि - हर - हिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ।।[6]

1- अतिदूरमतिक्रान्तो मात्रां लोकेऽतिमात्र इत्यर्थः ।
त्वद्विरहे हरिणाक्ष्याः प्लावयति जगन्ति नयनाम्बु ।।
- का० 11/17

2- अयुक्तिमद् यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः ।
तथा भ्रमरहारीत चक्रवाकशुकादयः ।। - का० 1/42

3- अत्यन्तमसम्बद्ध परमतमभिधातुमन्यदपि शब्दम् ।
सङ्गतमिति यद् ब्रूयात्तदयुक्तिर्न दोषाय ।।- वही, 11/18

4- किमिदमसङ्गतमस्मिन्नावाभ्यां तथान्यदन्ते च ।
यस्मैनोक्ता भावाः स्फुटमेते बोद्धव्या वाताः ।। - वही, 11/19

5- अभिधेयस्यातथ्यं तदनुपपन्नं निकाममुपपन्नम् ।
यत्र स्युर्वक्तुरुन्मादो मौढ्यमुत्कण्ठा ।। - का० 11/20

6- वही, 11/21

पदगत, वाक्यगत तथा अर्थगत दोषों के अनन्तर सम्प्रति न्यून, अधिक, अवाचक, अपक्रम इत्यादि गुणाभाव रूप में विवेचित कुछ अन्य दोषों की समीक्षा अभिप्रेत है -

आचार्य रुद्रट के अनुसार न्यूनाधिक दोषों से रहित, वाचक, सुन्दर क्रम वाले, पुष्ट अर्थ वाले, अपशब्दरहित, दुःश्रवत्वादि से रहित पद वाले, गाम्भीर्य गुण से युक्त "अक्षुण्ण" अर्थात् समस्त दोषों से रहित एवं गुणों से परिपूर्ण वाक्य का प्रयोग करना चाहिए।[1] इस वाक्यविशेष के नियम के माध्यम से उन्होंने कुछ पदगत तथा वाक्यगत दोषों का विवेचन किया है।[2] शङ्का हो सकती है कि वाक्य-संबंधी उक्त कारिका में वाक्य-गुणों का उल्लेख किया गया है अतः उसके विपर्यय रूप दोष वाक्यदोष हुए, पदगत दोष नहीं। अपनी टीका में इसका समाधान करते हुए नमिसाधु कहते हैं कि अन्यून, अनधिकादि विशेषणों से विशिष्ट पदों के द्वारा वाक्य निर्मित होता है, अतः तथाकथित वाक्यगत से पदगत दोषों का भी परिहार हो जाता है।[3] न्यूनाधिक इत्यादि दोषों का रुद्रट ने परिहारमात्र किया है, उनका स्वरूप नमिसाधु ने अपनी टीका में स्पष्ट किया है। अतः उसी के माध्यम से उक्त न्यून, अधिक, अवाचक, अक्रम, अपुष्टार्थ, अपशब्द तथा अचारु अर्थात् श्रुतिकटु इन दोषों को समझना उचित होगा।

1- [क] अन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थशब्दचारुपदम्।
क्षोदक्षममक्षुण्णं सुमतिर्वाक्यं प्रयुञ्जीत॥ - काव्यालङ्कार 2/8

[ख] क्षोदक्षमं प्रगल्भं वाक्यं प्रयुञ्जीत। गाम्भीर्ययुतमिति तात्पर्यार्थः। [illegible] अक्षुण्णमिति समस्तदोषत्यागात् समस्तगुणसद्भावाच्च परिपूर्णम्। - वही, नमिसाधुकृत टीका

2- पदवाक्ययोर्दोषा वाक्यविशेषप्रयोगनियमेन। - वही, 6/1 पूर्वार्द्ध

3- अन्यूनाधिकविशेषणविशिष्टैः पदैर्वाक्यस्य नियमितत्वात्पदस्योऽपि दोषजातेन परिहृत एवेति। - वही, 6/1 नमिसाधुकृत टीका।

जहाँ किसी पद के अभाव में दोषपूर्ण अर्थ की प्रतीति होती है अथवा अभीष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं होती, वहाँ "न्यून" नामक दोष होता है।[1] यथा-

> सम्पदो जलतरङ्गविलोला यौवनं त्रिचतुराणि दिनानि ।
> शारदाभ्रमिव पेलवमायुः किं धनैः परहितानि कुरुध्वम् ।।[2]

इस पद्य में धनैः के पश्चात् "कार्यं" पद का अभाव होने से "धन से क्या-परोपकार करना चाहिए" इस दुष्टार्थ की प्रतीति होती है।[3] इसी प्रकार - "सीसपडिच्छियगंगं पणमिय संझं नमह नाहं" में "संझं" के पश्चात् "ततः" पद के अभाव के कारण यही नहीं ज्ञात होता कि "सन्ध्या को नमस्कार करके तब स्वामी को नमस्कार करें।[4] किन्तु जहाँ पर असाधारण विशेषणों अथवा अनुरूप कारकों के उपादान से पद के अभाव में भी विवक्षितार्थ की प्रतीति हो जाती है, वहाँ पद की ऊनता भी साधु होती है।[5] यथा-

> स वः पायात्सदा चान्द्री यस्य मूर्ध्नि विराजते ।
> गौरीनखाग्रधारेव भग्नकला क्वचिदे ।।[6]

1- तत्रान्यूनपदमस्माद्यत्र कंचिच्छब्दं विना दुष्टार्थप्रतीतिर्विवक्षितार्थाप्रतिपत्तिरेव वा भवति तन्न्यूनपदं वाक्यं निरस्तम् । - वही 2/3 टीका

2- वही

3- अत्र हि धनशब्दादनन्तरं यावत्कार्यशब्दो न प्रयुक्तस्तावत्
धनैः किमिति परहितानि कुरुध्वम्' मा कुरुत इति दुष्टोऽर्थः प्रतीयते।
- वही

4- अत्र "संझं" शब्दादनन्तरं "ततः" शब्दमन्तरेण न ज्ञायते कि प्रणम्य संध्यां ततः नाथं नमत' आहोस्वित् प्रणम्य नाथं नमत इति। वही

5- निःशब्दग्रहणादत्र विनापि पदमसाधारणविशेषणोपादानात्तदनुरूपकारक-प्रयोगाद्वा विवक्षितार्थप्रतीतिस्तदूनभावं साध्वेव । - वही

6- वही

उक्त स्थल में असाधारण विशेषणों से "शम्भु" की प्रतीति हो जाती है,[1] जबकि शम्भु वाची पद का यहाँ अभाव है। इसी प्रकार -

> यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा ।
> यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां सर्वस्य कटुरेव सः ।।

इस पद्य में परशु, मधु- घृत तथा गन्धमालादि अनुरूप कारकों के प्रयोग से कर्तन, सिञ्चन तथा अलङ्करण क्रियाओं की प्रतीति हो जाती है। "न्यून" पद में "ऊन" पद के साथ "नि" उपसर्ग का यही तात्पर्य है।

"अधिक" नामक दोष वहाँ होता है जहाँ पदविशेष उसी अर्थ का कथन करता है जिसका कथन किसी अन्य पद के द्वारा पहले ही हो चुका होता है। यथा-

"स्फारध्वाना मृदालीवलयपरिकरालोकनं प्रेमदाम्नोः " इत्यादि में "आली" पद से ही "बाहुल्य" का कथन हो जाने से "वलय" तथा "परिकर" पद निष्प्रयोजन हैं।[2] यह"अधिक" नामक दोष भरतमुनि के "एकार्थ दोष" के समान ही है। उनके अनुसार[3] जहाँ कोई पद किसी विशेष अर्थ का अभिधान न करे वहाँ "एकार्थ" दोष होता है। अभिनवगुप्त ने अपनी टीका में उदाहरण के माध्यम से इसे स्पष्ट किया है। उनके अनुसार- "कुन्देन्दुहारहरहासहसितम्" में कुन्द, इन्दु, पुष्पहार तथा शिवजी का हास- इन चारों का प्रयोजन "हसित" के वैमल्य को प्रतिपादित करता है। यह प्रयोजन एक पद के द्वारा भी सम्पन्न हो जाता अतः यहाँ एकार्थ दोष है।[4] आचार्य

1- वही
2- शब्दान्तरेणोक्तेऽर्थे पुनस्तदर्थकं प्रयुज्यते ।
   ....।।- वही

3- अविशेषाभिधानं यत्तदेकार्थमिति स्मृतम् ।
   - ना0 शा0 16/92 पूर्वार्द्ध

4- एकार्थं यथा कुन्देन्दुहरहासहसितम् इति। एकप्रयोजनं ही सर्वेषाम् ।
   - अभि0 भा0

भामह के अनुसार परस्पर अभिन्न अर्थ वाले पदों का एक वाक्य में होना ही एकार्थ दोष है।[1] वामन के अनुसार उक्तार्थ वाले पदों से युक्त वाक्य "एकार्थ दोष" से दूषित होता है।[2] नमिसाधु के अनुसार "न्यून" पद में "नि" उपसर्ग जिस अभिप्राय से ग्रहण किया गया है, अधिक के प्रसङ्ग में भी वह उसी आशय को कहता है अर्थात् अधिक मात्र का प्रयोग साधु होता है।[3] यथा-

"नादेन यस्य सुरवधूविलासिनीनां काञ्च्यो भवन्ति शिथिला जघनस्थलेषु।"[4] में "काञ्ची" पद से ही जघनस्थलपद गम्य है, किन्तु इस पंक्ति में "जघनस्थलेषु" पद का प्रयोग अधिकमात्र है अतः साधु है, तात्पर्य यह है कि नि उपसर्ग अत्यधिक पद के प्रयोग का निवारण करता है। भामह तथा वामन ने इस दोष के जो उदाहरण दिए हैं, उनमें पदों का आधिक्य नमिसाधु द्वारा कथित अधिकदोष के उदाहरण के समान न होकर उपर्युक्त "नादेन यस्य" इत्यादि उदाहरण के समान है क्योंकि "तामुत्कमनसं नूनं करोति"[5] इत्यादि में मनस् पद का प्रयोग अधिकमात्र है, "उत्क" का अर्थ है उत्कण्ठित तथा उत्कण्ठा मन का धर्म है, अतः "उत्कं" कहने से अभिप्रायसिद्धि हो जाने के कारण उक्त स्थल में "मनस्" पद का प्रयोग अधिक है। इसी प्रकार "चिन्ता-मोहमनङ्गमङ्ग"[6] इत्यादि में चिन्ता तथा मोह पद का प्रयोग अधिक है क्योंकि अनङ्ग स्वयं चिन्ता तथा मोहयुक्त होता है अतः अनङ्ग पद से ही ये दोनों भाव गम्य हैं।

1- यदभिन्नार्थमन्योन्यं तदेकार्थं प्रचक्षते ।
   पुनरुक्तमिदं प्राहुरन्ये शब्दार्थवेदिनः ।। - काव्यालङ्कार 4/12

2- उक्तार्थपदमेकार्थम् । - का० सू० वृ० 2/2/11

3- निग्रहणादधिकमात्रं साध्वेव । - का० 2/8 नमिसाधुकृत टीका

4- वही

5- तामुत्कमनसं नूनं करोति ध्वनिरम्भसाम् ।
   सौधेषु कलमुक्तानां प्रणालीमुखपातिनाम् ।।- काव्यालङ्कार 4/15

6- चिन्तामोहमनङ्गमङ्ग । तनुते विलोकितं सुभ्रुवः ।
   - का० सू० वृ० 2/2/11 की वृत्ति

नमिसाधु अवाचक दोष उसे कहते हैं जहाँ कोई पद कविविवक्षित अर्थ को देने में असमर्थ होता है क्योंकि वह पद अर्थविशेष का न तो वाचक होता है और न ही उस अर्थ में रूढ़ होता है। यथा-

> लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते ।
> उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ।।

उक्त पद्य में उत्पल, शशी, द्विरदकुम्भ, कदलिकाण्ड तथा मृणालदण्ड से क्रमशः नेत्र, मुख, स्तन, जंघा और भुजा - ये अर्थ कविविवक्षित हैं, किन्तु शशी आदि पद मुखादि के न तो वाचक हैं और न ही इन अर्थों में यौगिक अथवा रूढ़ हैं, अतः ये "अवाचक" हैं।[1] इस स्थल पर मुखादि उपमेय का अभाव होने के कारण रूपक भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार "दशरथ" के लिए "पंक्तिरथ" अथवा "वासुदेव" के लिए "वृतामर" पद अवाचक हैं।[2] आचार्य भरत के "गूढार्थ"[3] नामक दोष से यह "अवाचक" दोष भिन्न नहीं प्रतीत होता। यद्यपि लक्षण से भरतमुनि के उक्त दोष का स्वरूप स्पष्ट नहीं है तथापि अभिनवगुप्त द्वारा दिए गए उदाहरण[4] के अनुसार इसे तथा

1- अत्र शशिशब्देन मुखम्, उत्पलशब्देन नेत्रे द्विरदकुम्भाभ्यां स्तनौ, कदलिकाण्डशब्देनोरू, मृणालदण्डशब्देन बाहू कवेर्विवक्षितौ। न च शब्दास्तथा वाचकाः, न च मुखादिषु शशिप्रभृतीनि पदानि यौगिकानि रूढानि वेत्यवाचकान्येव ।
- काव्यालङ्कार 2/8 नमिसाधुकृत टीका

2- उपमेयपदाप्रयोगाच्च रूपकभ्रान्तिरपि नास्ति । तथा दशरथ इति वक्तव्ये पंक्तिरथशब्दोऽप्यवाचकः संज्ञाशब्दत्वात्तस्य । - वही

3- पर्यायशब्दाभिहितं गूढार्थमिति संज्ञितम् । - ना०शा० 16/89 पूर्वार्द्ध

4- तत्र पादानां, वाक्यस्य तदर्थस्य च यथा दशरथ इति च वक्तव्ये ।
बलात्परिकल्पितेन वस्तुनो पर्यायशब्देनाभिधानं "पंक्तिरथविमान" इति ।।
- अभि० भा०, पृ० 1314

अवाचक दोष के स्वरूप में भेद नहीं है। भामह ने इस दोष का "अवाचक" नाम से ही विवेचन किया है। उनके अनुसार जो शब्द किसी अर्थ में साक्षात् रूढ़ नहीं है वह उस अर्थ का वाचक नहीं होता, ऐसे अवाचक पदों के प्रयोग से उक्त दोष होता है यथा- "जलधर" के लिए "हिमापहामित्रधर" पद का प्रयोग है।[1] वामन ने इसी दोष को गूढार्थ की संज्ञा दी है। उन्होंने अत्यधिक स्पष्ट रूप से इसका विवेचन किया है। गो का अर्थ है - गाय तथा इन्द्रिय । गाय के अर्थ में "गो" पद लोक-प्रसिद्ध है किन्तु इन्द्रिय अर्थ में नहीं। इसीलिए "सहस्रनेत्री" के लिए "सहस्रगो" पद का प्रयोग दोषपूर्ण है।[2]

आचार्य रुद्रट की कारिका में प्रयुक्त "क्रम" का विपर्यय रूप अपक्रम दोष उन स्थलों पर होता है जहाँ "इति" आदि पदों का उचित स्थान पर सन्निवेश न होने के कारण उचित अर्थ की प्रतीति नहीं होती, यथा- "वदन्त्यपर्णामिति तां पुराविदः" में इति पद का सम्बन्ध "पुराविद्" से है "अपर्णा" से नहीं। यदि "अपर्णा" से "इति" पद का सम्बन्ध होता तो उसमें द्वितीया विभक्ति का प्रयोग न होता। अतः यहाँ पर "इति" पद का क्रम दोषपूर्ण है।[3] "क्रमादमुं नारद इत्य-

---

1- हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमेत्यवाचकम् ।
साक्षादरूढं वाच्येऽर्थे नाभिधानं प्रतीयते ।। - काव्यालङ्कार 1/41

2- अप्रसिद्धार्थप्रयुक्तं गूढार्थम् । यस्य पदस्य लोकेऽर्थः प्रसिद्धश्चाप्रसिद्धश्च तदप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तं गूढार्थम्। यथा सहस्रगोरिवानीकं दुःसहं भवतः परैः इति। सहस्रं गावोऽक्षीणि यस्य स सहस्रगुरिन्द्रः । तत्रैवेति गोशब्दस्याक्षिवाचित्वं कविष्वप्रसिद्धमिति । - का० सू० वृ० 2/1/13 तथा वृत्ति

3- इत्थम् हि इतिशब्देन पुराविदां सम्बन्धः, न त्वपर्णायाः । अपर्णायास्तु सम्बन्धे द्वितीया न स्याद् । - काव्यालङ्कार 2/8 नमिसाधुकृत टीका ।

बोधि स:" यहाँ प्रथमा विभक्ति वस्तु के स्वरूपमात्र को उपस्थित करती है। "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" पाणिनि के इस सूत्र के अनुसार लिङ्गार्थ में प्रथमा विभक्ति ही उचित है, द्वितीया नहीं। कहीं- कहीं शब्द मात्र से प्रतिपादन हो जाने के कारण "प्रथमा" भी नहीं होती। यथा- "गवित्य-यमाह"।[1]

एक शब्द से प्रतिपादित होने वाले अर्थ में बिना किसी प्रयोजन के अनेक पदों का प्रयोग करना "अपुष्टार्थत्व" दोष है।[2] यथा-

> पातु वो गिरिजामाता द्वादशार्धविलोचनः ।
> यस्य सा गिरिजामाता स च द्वादशलोचनः ।।

उक्त स्थल में "त्रिलोचन" पद के स्थान पर "द्वादशार्धविलोचनः" पद का प्रयोग किसी विशिष्ट अर्थ का सूचक नहीं है अतः यहाँ अपुष्टार्थत्व दोष है।[3] अपुष्टार्थत्व को "अधिकपद" दोष से सम्बन्धित मानना उचित नहीं है जैसा कि वी0 राघवन् का मत है,[4] क्योंकि अधिकपद दोष में पुनरुक्ति होती है।

1- "क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः" इत्यादौ हि वस्तुस्वरूपमात्रमुपस्थापयतीति । लिङ्गार्थमात्रे प्रथमैव न्याय्या न द्वितीया। क्वापि च शब्दमात्रप्रतिपादनेन प्रथमापि न भवति यथा- "गवित्ययमाह" इति । - वही

2- एकशब्दप्रतिपाद्यार्थे निरभिप्रायबहुशब्दप्रयोगादपुष्टार्थता जायते ।
- वही

3- इत्यत्र च त्रिलोचनशब्दाद् द्वादशार्धविलोचन इत्यादिभिः शब्दैरधिकोऽर्थः प्रतिपाद्यते इत्यपुष्टार्थता । - वही

4- अपुष्टार्थ is related to "अधिकपद" Bhoja's श्रृ० प्र० Page 231.

रुद्रट की वाक्यसम्बन्धी पूर्वोक्त कारिका में "शब्द" का ग्रहण अपशब्द दोष के निवारण हेतु किया गया है।[1] यद्यपि "शब्द" की व्युत्पत्ति से ही अपशब्द का निवारण हो जाता है तथापि महाकवियों में भी अपशब्द के उपलब्ध होने के कारण उसके निवारण को सूचित करने के लिए "शब्द" पद का प्रयोग किया गया है।[2] नमिसाधु ने महाकवियों में प्राप्त होने वाले अपशब्द के प्रयोग के जिन उदाहरणों को प्रस्तुत किया है[3] उनसे स्पष्ट है कि व्याकरण के नियम का उल्लङ्घन करने से अपशब्द दोष होता है। भामह का "शब्दहीन" दोष[4] इसी का नामान्तर है।

1- शब्दग्रहणमपशब्दनिरासार्थम् । - काव्यालङ्कार/टीका

2- अपशब्दनिरासश्च यद्यपि व्युत्पत्तिद्वारेणैव कृतस्तथापि महाकवीनामपशब्दपातदर्शनात्तन्निरासादरख्यापनाय पुनरभियोगः । - वही

3- तथाहि पाणिनेः पातालविजये महाकाव्ये - "सन्ध्यावधूं गृह्य करेण" इत्यत्र गृह्येति क्त्वो ल्यबादेशः; तथा तत्रैव कवेः- "गतेऽर्धरात्रे परिमन्दमन्दं गर्जन्ति यत्प्रावृषि कालमेघाः। अपश्यती वत्समिवेन्दुबिम्बं तच्छर्वरी गौरिव हुं करोति॥" इत्यत्र "अपश्यतो इदं नुमन्तो न्काकारं पदम् । तथा च भर्तृहरेः - इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते।" इत्यत्रात्मनेपदम् । यथा वा कालिदासस्य- "अवजानासि मां यस्मात्ततस्ते न भविष्यति । मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा।।" इत्यत्र हि अनाराध्येति भिन्नकर्तृकत्वे क्त्वा। यस्मादाराधनस्य राजा कर्ता भवनस्य प्रजेति । यथा च भारवेः - "गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः । इत्यत्रात्मनेपदमस्वाङ्गे । - वही

4- सूत्रकृत्पादकारेष्ट प्रयोगाद् योऽन्यथा भवेत् ।
तमापशब्दकारिसिद्धं शब्दहीनं विदुर्यथा ।।
- काव्यालङ्कार 4/22

अचारुपद दोष भामह के श्रुतिकष्ट[1] तथा दण्डी के दीप्तत्व अथवा कृच्छ्रोद्यत्व[2] की श्रेणी में ही आता है। नमिसाधु के अनुसार रुद्रट ने "चारु" पद का प्रयोग श्रुति-कटु शब्दों के निराकरण के लिए किया है।[3] वामन ने इस दोष का "कष्टप्रद" के नाम से निरूपण किया है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दोषों में से अधिकांश को रुद्रट ने पूर्ववर्ती काव्य-शास्त्रियों से लेकर नामान्तर अथवा थोड़े- बहुत अन्तर के साथ विवेचित किया है। किन्तु असम्बद्ध तथा विरस वाक्यगत गर्भित तथा गतार्थ दोष इत्यादि कुछ उनकी मौलिक उद्भावनायें हैं। उनका दोष- विभाजन पूर्ववर्तियों [वामनादि] की अपेक्षा अधिक विस्तृत और स्पष्ट है। उन्होंने सभी दोषों के परिहार की चर्चा तो नहीं की है, किन्तु पुनरुक्त, ग्राम्य तथा असङ्गति आदि के दोषराहित्य का उन्होंने उल्लेख किया है।

रुद्रट के समकालिक ध्वन्यालोककार ने दोषों का निरूपण नहीं किया है क्योंकि महात्माओं के दोषों की उद्घोषणा करने में वे अपना ही दोष मानते हैं।[4]

1- यथाऽजिह्लदित्यादि श्रुतिकष्टं च तद्विदुः ।
न तदिच्छन्ति कृतिनो गण्डमध्यपरे किल ।। - वही, 2/53

2- दीप्तमित्यपरैर्भूम्ना कृच्छ्रोद्यमपि बध्यते ।
न्यक्षेण क्षपितः पक्षः क्षत्रियाणां क्षणादिति ।।
- काव्यादर्श 1/72

3- चारुग्रहणं कष्टादीत्यादिदुःश्रवशब्दनिवृत्त्यर्थमिति ।
- काव्यालङ्कार 2/8टीका

4- तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम् । - ध्वन्यालोक

अग्निपुराणकार द्वारा विवेचित अधिकांश दोषों पर रुद्रट का प्रभाव परिलक्षित होता है। वे सहृदयों को उद्विग्न करने वाले तत्व को दोष कहते हैं।[1] रुद्रट के संशयवत्प्रतीत को इन्होंने संशयितार्थता की संज्ञा दी है।[2] इनका विपर्यस्तार्थता दोष[3] रुद्रट के "विपरीतकल्पना" दोष के समान ही है। इन दोनों में अन्तर यह है कि जहाँ अग्निपुराणकार ने विपरीत अर्थ की अस्फुट प्रतीति मानी है वहाँ रुद्रट ने स्पष्ट प्रतीति की बात कही है। अग्निपुराणकार ने भी ग्राम्य दोष का विवेचन किया है, किन्तु रुद्रट के समान उन्होंने विभिन्न प्रकार की पदग्राम्यता का उल्लेख नहीं किया है। वे किसी शब्द से जुगुप्सित अर्थ की प्रतीति को ग्राम्यदोष कहते हैं।[4] इनका अप्रयुक्तत्व दोष[5] रुद्रट के पदगतग्राम्यता के एक प्रकार के साथ ही साथ अप्रतीत नामक अर्थदोष को भी अपने में अन्तर्भूत कर लेता है क्योंकि अप्रयुक्तत्व दोष तथा रुद्रट के अप्रतीत- इन दोनों में ही विद्वानों द्वारा अनुचित प्रयोग को दोष कहा गया है किन्तु रुद्रट के पदग्राम्यता के उक्त प्रकार तथा अप्रतीत दोष में पर्याप्त भिन्नता है। अग्निपुराणकार का "असमर्थ" दोष[6] इनके असमर्थ दोष के

1- उद्वेगजनको दोषः सभ्यानां स च सप्तधा ।
-अ०पु० का का० भाग 11/1 पूर्वार्द्ध

2- अन्यार्थत्वासमर्थत्वे एतामेवोपसर्पतः ।
संदिह्यमानवाच्यत्वमाहुः संशयितार्थताम् ।। - वही, 11/9

3- विपर्यस्तार्थता पुनः । विवक्षितान्यशब्दार्थप्रतिपत्तिमलीमसा ।।
- अ० पु० का काव्यशास्त्रीय भाग 11/8

4- ग्राम्यता तु जघन्यार्थप्रतिपत्तिः खलीकृता ।
- वही, 11/4 उत्तरार्द्ध

5- व्युत्पन्नैरनिबद्धत्वमप्रयुक्तत्वमुच्यते । - वही, 11/5 पूर्वार्द्ध

6- हन्तव्याघातकारित्वं हेतोः स्यादसमर्थता ।
- वही, 11/22 पूर्वार्द्ध

समान है, किन्तु अग्निपुराणकार ने एक ही प्रकार की असामर्थ्य का उल्लेख किया है, जबकि रुद्रट ने अनेक प्रकार की पद- असामर्थ्य का विवेचन किया है। रुद्रट के विसन्धि तथा उसके दोनों रूपों का अग्निपुराणकार ने विवेचन किया है।[1]

महिमभट्ट, भोजराज, मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव आदि प्रायः अधिकांश परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने भी दोषों का विवेचन किया है।[2] महिमभट्ट ने दोषों का उल्लेख "अनौचित्य" नाम से किया है। उन्होंने इस अनौचित्य के दो भेद किये हैं - "इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम् अर्थविषयं शब्दविषयं चेति ।" व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श में उन्होंने विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य तथा वाच्यावचन - इन पाँच शब्दानौचित्यों का विस्तार से विवेचन किया है। इनका दोष विवेचन भरत, भामह, दण्डी, वामन तथा रुद्रट इन सभी पूर्ववर्तियों से भिन्न प्रकार का है।

भोजराज पद, वाक्य तथा वाक्यार्थगत दोषों में से प्रत्येक के सोलह- सोलह भेद किए हैं।[3] इन दोषों में से अधिकांश का विवेचन भामह, वामन तथा रुद्रट आदि

1- विसन्धिः सन्धिदूषणम् ।। - 15.
   विगतो वा विरुद्धो वा सन्धिः स भवति द्विधा ।
   सन्धेर्विरुद्धता कष्टमपदार्थान्तरागमात् ।। - वही, 11/16

2- [क] एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम् ।
   - हि0 व्यक्तिविवेक, पृ0- 182.
   [ख] मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
   उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ।। -काव्यप्रकाश 7/1
   [ग] स्याच्चेतो विशता येन सक्ता रमणीयता ।
   शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम् ।।- चन्द्रालोक 2/1.
   [घ] रसापकर्षका दोषाः । - साहित्यदर्पण 7/1

3- दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडश ।
   - स0 कं0 1/3 पूर्वार्द्ध

आचार्य कर चुके थे। इनके अपुष्टार्थ, असमर्थ तथा क्लेय दोष[1] रुद्रट से लिए गए हैं। रुद्रट के अशब्द तथा तद्वान् को भोज ने असाधु[2] तथा अप्रयोजक[3] की संज्ञा दी है। इनका अप्रतीत दोष[4] रुद्रट ने पदगत अप्रतीत दोष से नाममात्र साम्य रखते हुए भी भिन्न है। रुद्रट ने अर्थदोष में भी अप्रतीत को स्थान दिया है। भोज का गूढार्थ दोष[5] उक्त दोष से पर्याप्त साम्य रखता है। इनका सन्दिग्धत्व दोष रुद्रट के असमर्थ दोष से भिन्न नहीं है। "विरुद्ध" तो सर्वथा रुद्रट का "विपरीतकल्पन"दोष ही है, क्योंकि रुद्रट के इस दोष के उदाहरण रूप "अकार्यमित्र" को ही भोज ने "विरुद्ध" दोष के उदाहरण रूप में उद्धृत किया है। इनके विसन्धि, सङ्कीर्णता, अतिमात्र तथा विरसत्व दोष[6] भी रुद्रट से लिए गए हैं।

1- [क] यत्तु तुच्छाभिधेयं स्यादपुष्टार्थं तदुच्यते ।
- वही, 1/9 उत्तरार्द्ध

[ख] असङ्गतं पदं यत्तदसमर्थमिति स्मृतम् ।
- वही, 1/10 पूर्वार्द्ध

[ग] तद्क्लेयमिति निर्दिष्टं यदव्युत्पत्तिमत् पदम् ।
- वही, 1/14 पूर्वार्द्ध

2- शब्दशास्त्रविरुद्धं यत्तदसाधु प्रचक्षते ।
- वही, 1/7 पूर्वार्द्ध

3- अप्रयोजकमित्याहुरविशेषविधायकम् ।
- वही, 1/13 उत्तरार्द्ध

4- अप्रतीतं तदुद्दिष्टं प्रसिद्धं शास्त्र एव यत् ।
- वही, 1/10 उत्तरार्द्ध

5- गूढार्थमप्रसिद्धार्थं प्रयोगं ब्रुवते बुधाः ।
- वही, 1/11 उत्तरार्द्ध

6- स० कं० भ० 1/22, 23, 49, 50

मम्मट, जयदेव तथा विश्वनाथ कविराज इत्यादि आचार्यों के दोष प्रसङ्गों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इन आचार्यों ने रुद्रटकथित प्रायः सभी दोषों का निरूपण करते हुए उन्हें पदगत, वाक्यगत तथा अर्थगत- इन कोटियों में विभक्त किया है।[1] आचार्य विद्यानाथ ने भी इन्हीं तीन मुख्य भेदों को स्वीकार किया है- पदगत, वाक्यगत तथा अर्थगत।[2]

सम्प्रति उपमादोषों की समीक्षा प्रसङ्गप्राप्त है। रुद्रट ने पूर्वविवेचित विभिन्न दोषों के साथ ही उपमा दोषों का विवेचन करते हुए पूर्ववर्तियों का अनुसरण किया है। उन्होंने सामान्यशब्दभेद, वैषम्य, असम्भव तथा अप्रसिद्ध - ये उपमा दोष कहे हैं।[3] पूर्ववर्तियों में भामह ने हीनता, असम्भव, लिङ्गभेद, वचनभेद, विपर्यय उपमान का आधिक्य तथा असादृश्य- उपमा के ये सात दोष कहे हैं।[4] दण्डी स्पष्ट शब्दों में इन दोषों की संख्या के विषय में मौन रहे हैं। उन्होंने उपमा के प्रसङ्ग में लिङ्गभेद, वचनभेद, उपमानहीनत्व तथा उपमानाधिक्य इन चार दोषों की नित्यता तथा अनित्यता को प्रतिपादित करते हुए[5] उनके उदाहरण रूप में एक पद्य को उद्धृत किया है।[6] वामन

1- §क§ का०प्र० सप्तम उल्लास ; §ख§ च० द्वितीय मयूख
§ग§ सा० द० सप्तम परिच्छेद।

2- शब्दार्थमयत्वात् काव्यस्य तदपकर्षहेतूनामपि दोषाणां शब्दगतत्वेनार्थगतत्वेन च द्वैविध्यम्। शब्दगतानामपि पदवाक्यगतत्वेन च द्वैविध्यम्। - प्र०रु०, पृ०-338

3- सामान्यशब्दभेदो वैषम्यमसम्भवोऽप्रसिद्धिश्च।
इत्येते चत्वारो दोषा नासम्यगुपमायाः ॥- का० 11/24।

4- हीनतासम्भवो लिङ्गवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च ॥
त एव उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः॥ - काव्यालङ्कार 2/39, 40 का पूर्वार्द्ध

5- न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥- काव्यादर्श 2/51

6- हंसीव धवलश्चन्द्रः सरांसीवामलं नभः।
भर्तृभक्तो भटः श्वेव खद्योतो भाति भानुवत् ॥- वही, 2/55।

ने "विपर्यय" नामक उपमादोष को छोड़कर शेष छः को स्वीकार किया है।[1]

रुद्रट ने इन दोषों का स्पष्टरूपेण स्वरूप विवेचन किया है। उनके अनुसार सामान्यशब्दभेद नामक दोष वहाँ होता है जहाँ उपमेय और उपमान साधारण धर्मवाचक पद को जब तक खण्डित न किया जाए तब तक उपमान पद के साथ उसका अन्वय न हो सके।[2] ऐसे स्थलों पर, जहाँ यह दोष होता है- उपमेय और उपमान तो समान होते हैं जो कि "उपमा" का अनिवार्य मापदण्ड है किन्तु इन दोनों का जो साधारण धर्म होता है वह भिन्न [अन्यथा] होता है और यह भिन्नता लिङ्ग, काल, कारक, विभक्ति तथा वचन के कारण होती है, इसीलिए साधारणधर्मवाचक पद की यह भिन्नता पूर्णरूप से न होकर कुछ ही होती है।[3] यथा- "चन्द्रकलेव सुगौरो"[4] इत्यादि में साधारणधर्मवाचक "सुगौरो" पद पुल्लिङ्ग में है तथा उपमान "चन्द्रकला" स्त्रीलिङ्ग में। अतः इन दोनों में लिङ्गभेद के कारण अन्वय नहीं बैठ सकता। "वात इव जगाम" में कालभेद है क्योंकि "जाना" रूप साधारण धर्म उपमान 'वात' के साथ वर्तमान काल [यथा वातो गच्छति] में ही

1- हीनत्वाधिकत्वलिङ्गवचनभेदासादृश्यासम्भवास्तद्दोषाः ।
- का० सू० वृ० 4/2/8.

2- सामान्यशब्दभेदः दोषोऽयं यत्रापरत्र शक्यते।
योजयितुं नाभिन्नं तत्सामान्याभिधायिपदम् ।।

3- तल्लिङ्गकालकारकविभक्तिवचनान्यभावसद्भावात् ।
उभयोः समानयोरिति तस्यां भिद्यते किञ्चित् ।।
- काव्यालङ्कार 11/25-26

4- चन्द्रकलेव सुगौरो वात इव जगाम यः समुत्सृज्य ।
वहतु शिखीव स कामं जीवयति पुनः मामालि ।।
- का० 11/27.

अन्वित हो सकता है, जबकि वह प्रस्तुत स्थल पर भूतकाल में है। "दहतु शिखीव स कामं जीवयसि सुधेव मामालि" में क्रमशः कारकभेद तथा विभक्तिभेद हैं। "दहतु शिखीव स कामम्" में कारकभेद है क्योंकि विधिविशिष्टकर्ता खुद कर्ता अग्नि के साथ उपमित किया गया है। इसी प्रकार "जीवयसि सुधेव मामालि"- विभक्ति भेद का उदाहरण है क्योंकि मध्यम पुरुष "जीवयसि" को "जीवयति" [प्रथम पुरुष] बनाकर ही उपमान "अमृता" के साथ उपमित किया जा सकता है। "कुवलयदलमिव दीर्घे तव नयने" इस पंक्ति में उपमान एकवचन में है तथा साधारण धर्मवाचक पद "दीर्घे" द्विवचन में है। इस प्रकार लिङ्गादि के भेद से होने वाले उपमादोष "सामान्य शब्द भेद" नामक एक दोष में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इन्हें पृथक् - पृथक् न रखकर एक ही नाम के अन्तर्गत् रखना सर्वथा युक्तियुक्त है क्योंकि लिङ्ग और वचनभेद को ही दोष मानने पर काल, विभक्ति तथा कारकभेद का उनमें अन्तर्भाव नहीं होता।[2] प्रश्न यह उठता है कि लिङ्गादि भेद के इस प्रकार दुष्ट मानने पर तो महाकवि के उदाहरण- "तां हंसमालाः शरदीव गङ्गाम्" इत्यादि में भी काल आदि भेद होने के कारण प्रायः सभी लक्ष्यग्रन्थों में प्रायः दोष होने लगेंगे। नमिसाधु ने इसका समाधान इस प्रकार किया है- "युक्ति से यह स्पष्ट दोष है इसीलिए आचार्य ने दोष बताया है। चूँकि यह पहले ही आचार्य ने कह दिया है कि "काव्यालङ्कारोऽयं ग्रन्थः क्रियते यथायुक्ति"। इसीलिए महाकवियों में भी पाए जाने वाले

1- वही, 11/28 पूर्वार्द्ध

2- किं च लिङ्गवचनभेदे दोषत्वेनाभीयमाने कालकारकविभक्तिभेदा नाश्रिताः। सामान्यशब्दभेदे तु तेऽपि संगृहीताः। - का० 11/24 नमिसाधुकृत टीका।

इस दोष को आचार्य ने दोष तो कहा है और साथ ही "विद्भिरपि प्रयुक्तश्च"[1] कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि यह दोष अपरिहार्य है।[2]

इस "नामान्तरभेद" नामक दोष के अनन्तर आचार्य रुद्रट ने "वैषम्य" नामक दोष का विवेचन किया है। उनके अनुसार कल्पितोपमा तथा उत्पाद्योपमा के पक्षों में उपमान तथा उपमेय में से यदि एक विशेषणरहित तथा दूसरा विशेषणयुक्त हो, तो वैषम्य नामक उपमादोष होता है।[3] यथा- "विपरीतरते कुन्तोरायस्ताया" इत्यादि[4] पद्य में उपमेय "मुख" विशेषणयुक्त है तथा "कमल" उपमान विशेषणहीन। अतः वैषम्य नामक दोष है। इसी प्रकार "मुक्ताफलजालचितम्" इत्यादि[5] पद्य में उपमान विशेषणयुक्त है तथा उपमेय "मुख" विशेषण हीन।

1- युक्त्या तावद् दोषो विद्वद्भिरपि प्रयुक्तश्च ।
 - का० 11/23 उत्तरार्द्ध

2- नन्वेवं लिङ्गादि भेदे दोषोद्भूते महाकविकाव्यम् "तां हंसमाला: शरदीव गङ्गाम्" इत्यादिकं कालादिभेदस्य विद्यमानत्वात्प्रायश: सर्वमेव दुष्यत इत्याह - इत्यर्थं त्वित्यादि । तुरवधारणे । युक्त्या तावदयं दुष्यक्त एव दोष: । ततोऽस्माभिरुक्त: । उक्तं च पूर्वमेव "काव्यालङ्कारोऽयं ग्रन्थ: क्रियते यथायुक्ति" {1/2} इति विद्भिरपि प्रयुक्तश्चेत्यनेन दोषस्याप्य परिहार्यतामाह । - का० 11/23 नमिसाधुकृत टीका

3- अकृतविशेषणमेकं यत्स्यादुभयोस्तदन्यवैषम्यम् ।
सम्भवति कल्पितायामुत्पाद्यायां च नान्यत्र ।। - वही, 11/29

4- विपरीतरते कुन्तोरायस्ताया विभाति मुखमस्या: ।
श्रमवारिबिन्दुजालकलाञ्छितमिव कमलमुत्फुल्लम् ।।- वही, 11/30

5- मुक्ताफलजालचितं यदीन्दुबिम्बं भवेत्ततस्तेन ।
विपरीतरते कुन्तोत्कम्पीयेताननं तस्या: ।। - वही, 11/31.

इस प्रकार ये उपमेय तथा उपमान के निर्विशेषण अथवा सविशेषण होने के उदाहरण हैं, किन्तु इतने से ही पूर्ववर्तियों द्वारा कथित हीनता तथा आधिक्य का स्पष्ट रूप से उक्त दोष में अन्तर्भाव नहीं हो जाता[1] क्योंकि इन आचार्यों ने ऐसे स्थलों में हीनता तथा अधिक्य दोष माने हैं, जहाँ उपमेय तथा उपमान दोनों ही सविशेषण हों किन्तु इनमें से एक दूसरे की अपेक्षा अधिक विशेषणों वाला हो।[2]

आचार्य रुद्रट के अनुसार जहाँ उपमान को असम्भव विशेषणों से युक्त बताया जाए वहाँ "असम्भव" उपमादोष होता है।[3] ऐसे स्थलों में जहाँ यद्यर्थक यदि, चेत् आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वे स्थल सदोष नहीं होते। यथा-

> सुतनुरियं विमलाम्बरतस्योऽमृणालकुलातित्या ।
> अजलप्रकृतिरदूरस्थितमिन्द्रा गगननलिनीव ॥[4]

इसमें यद्यर्थक पद के अभाव के कारण असम्भव दोष है। इस दोष का यही रूप पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी निर्धारित किया था।[5]

1- तथा हीनताधिक्ये चोपमानोपमेययोः साम्याभावाद्दोषत्वेनाश्रिते परेण ।
तत्र च वैषम्यमेवाभिधदोषस्थानकमेवमुक्तमस्माभिः ॥
– का० वही, टीका

2- जातिप्रमाणधर्मन्यूनतोपमानस्य हीनत्वम् ।
तेनाधिकत्वं व्याख्यातम् ॥ – का० सू० वृ० 4/2/11

3- उपमानं यत्र स्यादसम्भवत्तद्विशेषणं नियमात् ।
सम्भूतमप्ययर्थं विज्ञेयोऽसम्भवः स इति ॥
– का० 11/32

4- वही, 11/33

5- अनुपपत्तिरसम्भवः । – का० सू० वृ० 4/2/20

जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, अप्रसिद्धि नामक दोष वहाँ होता है जहाँ किसी उपमेय के उपमान रूप में कोई वस्तु लोक में प्रसिद्ध न होने पर भी अत्यधिक साम्य के कारण उपमान रूप में उपन्यस्त की जाए।[1] यथा- कमलासन पर बैठे चक्र-वाक के लिए कमलासीन ब्रह्मा की उपमा दोषपूर्ण है। इसी प्रकार "शक्रश्यामं वदि हरिम्" तथा "इन्दुषितो कोऽयमिति" इत्यादि में भी उपमेय तथा उपमान में साम्य होने पर भी अप्रसिद्धि नामक उपमा-दोष है क्योंकि ये उपमान इन उपमेयों के लिए लोकप्रसिद्ध नहीं है। ऐसे स्थलों पर भामह विपर्यय नामक दोष मानते हैं। उनके अनुसार उपमेय से उपमान के हीन अथवा उत्कृष्ट होने पर "विपर्यय" नामक दोष होता है।[2] किन्तु ऐसे स्थलों पर हीनता अथवा उत्कृष्टता के कारण दोष न मानकर अप्रसिद्धि के कारण दोष मानना अधिक उचित है क्योंकि निन्दा और स्तुति के स्थलों पर उपमान हीन तथा उत्कृष्ट होते ही हैं तथापि ऐसे स्थलों पर दोष नहीं होता। अतः हीनत्व और आधिक्य के कारण दोष मानने पर अति-व्याप्ति दोष होगा। असादृश्य दोष तो स्वतः खण्डित है क्योंकि उपमेय तथा उपमान में सादृश्य होने पर ही उपमा होती है। जहाँ असादृश्य होगा वहाँ उपमा अलङ्कार नहीं होगा। अतः असादृश्य दोष का प्रश्न ही नहीं उठता।

उपर्युक्त समीक्षा से रुद्रट- अभिमत चार उपमादोष ही युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं। परवर्ती आचार्यों ने भी उपमादोषों का उल्लेख किया है। भामह, दण्डी तथा वामन ने उपमा अलङ्कार के प्रसङ्ग में ही उपमा दोषों का विवेचन

1- उपमानतया लोके वाच्यस्य न तादृशं प्रसिद्धं यद् ।
क्रियते यत्र तदुक्तदलामन्यत्वादप्रसिद्धिः सा ॥-
- काव्यालङ्कार 11/34

2- .... सविपर्ययौ ।
हीनाधिकत्वात्तु द्वैधा कथमप्युच्यते ॥
- काव्यालङ्कार 2/52

किया है किन्तु रुद्रट ने अर्थगत दोषों के अनन्तर उपमादोषों का विवेचन किया है। इन्हीं की पद्धति का अनुसरण करते हुए परवर्ती आचार्यों ने भी दोषों के वर्णन के साथ ही उपमादोषों का भी उल्लेख किया है। भोज ने वाक्यार्थगत दोषों में ही उपमादोषों को रख दिया है।[1] उन्होंने हीनोपमा, अधिकोपम्य तथा असदृशोपमा को भामहादि से तथा अप्रसिद्धि को रुद्रट से ग्रहण करके चार उपमादोषों का उल्लेख किया।[2]

आचार्य मम्मट ने उपमादोषों का विवेचन नहीं किया है। आचार्य विद्यानाथ ने उपमादोषों को वाक्यगत दोषों के अन्तर्गत रखा तथा भामहादि के समान ही लिङ्गभेद, वचनभेद, न्यूनोपमा तथा आधिक्योपमा की संज्ञा से चार उपमादोषों का उल्लेख किया है।[3]

पण्डितराज जगन्नाथ ने उपमालङ्कार के प्रसङ्ग में उपमादोषों का उल्लेख किया है। उन्होंने चमत्कार के अपकर्ष को दोष कहा है।[4] इन्होंने जिन उपमादोषों का सोदाहरण उल्लेख किया है[5] उन पर रुद्रट की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। अप्रसिद्धि का स्पष्ट रूप में उन्होंने उल्लेख किया है। उक्त दोष-प्रसङ्ग के परीक्षण

1- हीनोपमं भवेदन्यदधिकोपममेव च ।
असदृशोपमं चान्यदप्रसिद्धोपमं तथा ।। - स० कं० 1/45

2- हीनं यत्रोपमानं स्यात्तद् हीनोपमं स्मृतम् ।
तदेव यदि मन्यादिकं तदाधिकोपमम् ।।
यत्रासदृश्योपमानं तदन्यदसदृशोपमम् ।
अप्रसिद्धोपमानं यदप्रसिद्धोपमं हि तत् ।।
- वही, 1/51-52.

3- द्वे भिन्नलिङ्गवचने द्वे च न्यूनाधिकोपमे ।
- प्र० रु०, पृ०- 347.

4- चमत्कारस्यापकर्षकं यावत्तत्सर्वमपि दोषः ।
- र० गं०, पृ०- 367

5- वही, पृ० 367 से 385.

से स्पष्ट है कि साधारण धर्मवाचक पद के लिङ्ग, वचन, काल, पुरुष, प्रमाण, जाति तथा विधि में भेद के कारण होने वाले उपमादोषों को उन्होंने स्वीकार किया है।[1] उन्होंने न तो भामहादि के समान लिङ्गभेद, वचनभेद, हीनत्व आदि को पृथक् - पृथक् संज्ञा दी है और न ही स्पष्ट रूप में रुद्रट के समान एक दोष में अनेक का समन्वय किया है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि रुद्रट ने पूर्ववर्तियों द्वारा निरूपित प्राय: सभी दोषों का विस्तृत, स्पष्ट तथा सरल विवेचन करते हुए विसन्धि, सङ्कीर्णता, अविमात्र तथा विरस इत्यादि कुछ नवीन दोषों का भी विवेचन किया है, साथ ही परवर्ती काव्यशास्त्रियों पर भी अपना प्रभाव स्पष्ट रूप से डाला है।

========

1- कविसमयप्रसिद्धिराहित्यम्, उपमानोपमेययोर्जात्या प्रमाणेन लिङ्गसंख्याभ्यां वाननुरूप्यम्, बिम्बप्रतिबिम्बभावे धर्माणामुपमानोपमेयगतानां न्यूनाधिकत्वम्, अनुगमितायामनुपपद्यमानकालपुरुषविध्यादिकत्वम्, एवमादि ।

- वही, पृ0- 367.

दशम अध्याय

रस - विवेचन

दशम अध्याय

रस- विवेचन -

आचार्य भरतमुनि ने सर्वप्रथम शृङ्गारादि रसों का न केवल उल्लेख किया है अपितु इनका अत्यधिक प्रौढ़, सांगोपाङ्ग तथा विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। नाट्यशास्त्र के छठवें अध्याय में इन्होंने रस निष्पत्ति तथा नव रसों को एवं सातवें अध्याय में भावों को विवेचित किया है।

परवर्ती काल में नाट्यशास्त्र से काव्यशास्त्र की विधा को पृथक् कर उसे स्वतंत्र अस्तित्व देने वाले आचार्य भामह, दण्डी तथा वामन ने भी विभिन्न रसों का उल्लेख तो किया है किन्तु इन्होंने इन रसों को अलङ्कारों की कोटि में रखते हुए इन्हें रसवत् इत्यादि संज्ञाओं से विवेचित किया है।[1] आश्चर्य की बात तो यह है कि पूर्ववर्ती लक्षण-ग्रन्थ "नाट्यशास्त्र" में रसों की स्वतन्त्र एवं विस्तृत व्याख्या प्राप्त होने पर भी इन आचार्यों ने रसों को अलङ्कारों में अन्तर्भूत क्यों कर दिया।

आचार्य रुद्रट के समकालिक तथा ध्वनि सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्यप्रवर आनन्दवर्धन ने यद्यपि रसों का स्वतन्त्र रूप से विवेचन नहीं किया है तथापि काव्य में उसके जीवितत्व को प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है - "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" । इस आत्मतत्व रूप ध्वनि के उन्होंने तीन भेद किए हैं- वस्तुरूप, अलङ्काररूप तथा रसादिरूप ।[2] इन तीनों में रसध्वनि का स्थान सर्वप्रमुख

1- [क] काव्यालङ्कार तृतीय परिच्छेद

[ख] काव्यादर्श द्वितीय परिच्छेद, पृ०-225.

2- स हि अर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्च ।

- ध्वन्या०, पृ०- 20.

है।[1] जिससे स्पष्ट है कि ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य में रस के न केवल अस्तित्व को अपितु उसके जीवितत्व को भी स्वीकार किया है।

हम यह कह सकते हैं कि भरतमुनि के पश्चात् रुद्रट ही वह प्रथम काव्यशास्त्री हुए हैं, जिन्होंने उनका अनुसरण करते हुए रसों का अलङ्कारों में अन्तर्भाव न करके उनका स्वतन्त्र विवेचन किया है। यद्यपि इन्होंने भरतमुनि की भाँति रसकी निष्पत्ति इत्यादि का विवेचन नहीं किया है। इन्होंने केवल प्रत्येक रस को लेकर उसके रूप को लक्षण तथा उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है। एक अन्य तथ्य भी ध्यातव्य है कि इन्होंने भरतमुनिकथित शृङ्गार इत्यादि नव रसों के अतिरिक्त प्रेयस् नामक दसवें रस का भी उल्लेख किया है।[2]

रसों की गणना के अनन्तर "रस" की परिभाषा करते हुए आचार्य रुद्रट ने स्पष्ट रूप से कहा है कि निर्वेदादि सञ्चारी भाव उसी प्रकार आस्वाद्यमानता के कारण रस की संज्ञा प्राप्त करते हैं, जिस प्रकार मधुरादि लौकिक रस आस्वाद्यमान होकर रसता को प्राप्त करते हैं।[3] इस प्रकार आचार्य का तात्पर्य यह है कि ऐसी कोई चित्तवृत्ति नहीं है जो विभावादि से परिपुष्ट होकर रस नहीं होती। टीकाकार नमिसाधु इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सहृदय के आस्वादकत्व को प्राधान्य देकर और संज्ञा का आश्रय लेकर भरतमुनि ने आठ या नव

1- तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते। - लोचन टीका, पृ0- 85.

2- शृङ्गारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः।
रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्या रसाः सर्वे॥
- का0 12/3.

3- रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः॥
- का0 12/4.

रस गिनाए हैं। स्पष्ट है कि रुद्रट ने निर्वेदादि की भी रसरूपता स्वीकार की है।[1]

किन्तु परवर्ती आचार्य धनञ्जय ने इनकी इस मान्यता का प्रबल शब्दों में खण्डन किया है। उनका विचार है कि जो भाव विरोधी तथा अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होते वे ही स्थायी भाव कहलाते हैं, निर्वेदादि भावों में यह गुण अर्थात् तद्रूपता नहीं होती अतः वे स्थायी भाव नहीं माने जा सकते तथा उनकी रसरूपता नहीं हो सकती। यदि यह मान भी लिया जाए कि अपने अपने चिन्तादि व्यभिचारी भावों से व्यवहित होकर भी वे निर्वेदादि भाव पुष्ट हो जाते हैं तो भी वे वैरस्य ही उत्पन्न करते हैं। अतः रति इत्यादि स्थायी भाव ही आस्वाद्यमान होकर रसत्व को प्राप्त करते हैं। निर्वेदादि नहीं।[2] इस प्रकार धनञ्जय ने रुद्रट की उपर्युक्त मान्यता का स्पष्ट शब्दों में सतर्क खण्डन किया है।

रुद्रट की उपर्युक्त मान्यता का धनञ्जय द्वारा जो खण्डन प्रस्तुत किया गया है, वह समीचीन ही है। इसका सबलतम साक्ष्य {प्रमाण} तो यह है कि रुद्रट के पश्चात् किसी अन्य काव्यशास्त्री ने निर्वेदादि अन्य चित्तवृत्तियों को रस नहीं कहा है। प्रायः सभी ने नाट्य अथवा काव्य के आठ अथवा नव रस ही प्रतिपादित

1- अयमाशयो ग्रन्थकारस्य - यतु नास्ति सा कापि चित्तवृत्तिर्या परिपोषं गता न रसो भवति। भरतेन सहृदयावर्जकत्वप्राधान्यात्तेषां वाभिहिताष्टौ नव वा रसा उक्ता इति। - वही, नमिसाधुकृत टीका

2- निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः॥
विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम्।
अतएव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं
नीयमाना वैरस्यमावहन्ति .... अतोऽस्थायित्वादेवैते-
षामरसता। - द० रू० 4/36.

किए हैं।[1] यदि रूद्रट की मान्यता में कुछ बल होता तो आचार्यप्रवर मम्मट, विश्वनाथ कविराज, विद्यानाथ इत्यादि में से कोई न कोई विद्वान् तो अवश्य ही इनके प्रतिपाद्य को समर्थन देता दृष्टिगोचर होता ।

यदि रूद्रट की इस मान्यता को येन-केन प्रकारेण स्वीकार भी कर लिया जाय, तब तो तैंतीस व्यभिचारी भाव तथा आठ या नव स्थायी कुल मिलाकर इकतालीस अथवा बयालीस रस होने लगेंगे। जो काव्यशास्त्रीय दृष्टि से उचित नहीं है।

अत: निर्वेदादि को भी रस कहने की धारणा असंगत है। काव्य अथवा नाट्य में आठ या नव ही रस होते हैं।

रूद्रट ने रस के लक्षण के अनन्तर शृङ्गारादि रसों का रूप-निर्देश किया है। सम्प्रति उनकी क्रमिक समीक्षा की जायगी।

शृङ्गार रस -

आचार्य रूद्रट ने शृङ्गार का स्थायी भाव "रति"[2] को स्वीकार किया है तथा उसके सम्भोग तथा विप्रलम्भ - ये दो भेद किए हैं। उनके इस विवेचन पर

1- [क] तेनाष्टौ स्थायिनो मता: ।   - ना०शा० 6/ पृ०-316.
   [ख] .... वेत्यष्टौ नाट्येरसा: स्मृता: ।।
                                   - का०प्र० 4/29 उत्तरार्द्ध
   [ग] .... नवेति निश्चिता बुधै: ।। - सा० 3/13 उत्तरार्द्ध
   [घ] .... इत्यष्टौ रसा: शान्तस्तथा मत: ।।
                                   - सा० द० 3/18.
   [ङ] .... वेति ते नव ।। - र०गं० 1/पृ०-132
   [च] स चाष्टधा ।   - द० रू० 1/पृ०-7.
2- रतिप्रकृति: । शृङ्गार स द्वेधा सम्भोगो विप्रलम्भश्च ।।
                                   - काव्यालङ्कार 12/5.

भरत का स्पष्ट प्रभाव है।[1] उनके अनुसार परस्पर अनुरक्त स्त्री तथा पुरुष का व्यवहार ही "रति" है।[2] इन्होंने स्त्री- पुरुष के संयोग को सम्भोग तथा वियोग को विप्रलम्भ कहकर इनका सामान्य स्वरूप स्पष्ट किया है।[3] समान मनः स्थिति वाले तथा प्रसन्न नायक एवं नायिका का परस्पर दर्शन, सम्भाषण आदि सम्भोग श्रृङ्गार है।[4] इस प्रकार सम्भोग का विशिष्ट रूप भी उन्होंने स्पष्ट किया है। प्रायः अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने श्रृङ्गार के उपर्युक्त दो भेदों को ही स्वीकार किया है।[5] किन्तु दशरूपककार इसे अयोग, विप्रयोग तथा सम्भोग के भेद से

1- तत्र श्रृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः । उज्ज्वलवेषात्मकः । स च स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तमयुवप्रकृतिः। तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च ।
- ना० शा० छठवाँ अध्याय

2- व्यवहारः पुंनार्योरन्योन्यं रक्तयो रतिप्रकृतिः ।
- का० 12/5 पूर्वार्द्ध

3- सम्भोगः सङ्गतयोर्वियुक्तयोर्यश्च विप्रलम्भोऽसौ ।
- वही, 12/6 पूर्वार्द्ध

4- अन्योन्यस्य सचित्तावनुभवतो नायकौ यदिद्धमुदौ ।
आलोकनवचनादि स सर्वः सम्भोगश्रृङ्गारः ।। - वही, 13/1.

5- [क] तत्र श्रृङ्गारस्य द्वौ भेदौ - सम्भोगो विप्रलम्भश्च ।
- का०प्र०, पृ०- 143.

[ख] संयोगो विप्रयोगश्चेत्येष तु द्विविधो मतः ।
-वाग्भटालङ्कार 5/3उत्तरार्द्ध

[ग] सम्भोगो विप्रलम्भश्च श्रृङ्गारो द्विविधो मतः ।
-चन्द्रालोक 6/3 उत्तरार्द्ध

[घ] विप्रलम्भोऽथ सम्भोग इत्येष द्विविधो मतः ।
- सा०द० 3/186.

[ङ] स च द्विविधः - सम्भोगो विप्रलम्भश्च। - रसमञ्जरी, पृ०-324.

[च] तत्र श्रृङ्गारो द्विविधः, संयोगो विप्रलम्भश्च ।
- रसार्णवसुधाकर 1/ पृ०- 150.

[छ] अनेन श्रृङ्गारो द्विविधः सम्भोगो विप्रलम्भश्चेति ।
- अ० कौ०, पृ०- 154.

[ज] स द्विविधः सम्भोगो विप्रलम्भश्च तदुक्तम् ।
- रसचन्द्रिका, पृ०- 48.

तीन प्रकार का मानते हैं।[1] इनका अयोग तथा विप्रयोग अन्य आचार्यों द्वारा कथित "विप्रलम्भ" में ही अन्तर्भूत हो जाता है। धनिक के अनुसार एक विशेष प्रकार की वञ्चना को ही विप्रलम्भ कहते हैं, इस प्रकार विप्रलम्भ शब्द के प्रयोग से विशेष प्रकार के अयोग तथा वियोग की ओर सड्.केत होता है।सामान्य अयोग तथा वियोग तो "विप्रलम्भ" शब्द से लक्षित नहीं होता। अतः इस शब्द का प्रयोग औपचारिक होगा।[2]

किन्तु अन्य आचार्यों द्वारा प्रस्तुत किए गए "विप्रलम्भ श्रृड्.गार" के लक्षणों[3] से स्पष्ट है कि प्रायः सभी ने वियोगसामान्य की अवस्था को "विप्रलम्भ" के अन्तर्गत रखा है। स्पष्ट है विप्रलम्भ को पारिभाषिक शब्द मानते हुए सभी प्रकार के विरह को अर्थात् संयोगाभाव की स्थिति को "विप्रलम्भ" शब्द से लक्षित किया गया है, चाहे वह विरह नायक द्वारा नायिका के प्रति एक विशेष प्रकार की वञ्चना के कारण हो अथवा अन्य किसी प्रकार का।

1- अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा ।
- दशरूपक 4/ पृ0- 365.

2- अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद्विप्रलम्भस्येतत्सामान्याभिधायित्वेन विप्रलम्भशब्द उपचरितवृत्तिर्मा भूदिति न प्रयुक्तः, तथा हि- दत्त्वा सड्.केतमप्राप्तेऽवध्यतिक्रमे साध्येन नायिकान्तरानुसरणाच्च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगो वञ्चनार्थत्वात् । - वही, 4/ पृ0- 365.

3- [क] भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति ।
नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते ।।
- स0 कं0 भ0 5/45

[ख] यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ ।
- सा0 द0 3/187 पूर्वार्द्ध

[ग] तत्र श्रृड्.गारो द्विविधः, संयोगो विप्रलम्भश्च। रतेः......
वियोगकालावच्छिन्नत्वे द्वितीयः । - रसगड्.गाधर 1/पृ0-130

आचार्य रुद्रट ने सम्भोग तथा विप्रलम्भ के साथ श्रृङ्गार के प्रच्छन्न एवं प्रकाश नामक भेदों का भी उल्लेख किया है,[1] जो इनकी मौलिक उद्भावना है। परवर्ती आचार्य वाग्भट ने इस प्रसङ्ग में रुद्रट का अनुसरण किया है।[2] भरत मुनि द्वारा विवेचित श्रृङ्गार के वाणी, नेपथ्य तथा क्रिया - इन तीन प्रभेदों का रुद्रट ने उल्लेख नहीं किया है।[3]

रुद्रट ने विप्रलम्भ के चार भेद बताए हैं - पूर्वानुराग, मान, प्रवास तथा करुण।[4] भोजराज,[5] वाग्भट तथा विश्वनाथ कविराज ने भी इन चारों भेदों का विवेचन किया है। रुद्रट के अनुसार दर्शनादि मात्र से अङ्कुरित तथा प्रवृद्ध प्रेम वाले नायक- नायिका की असंयोगावस्था में होने वाली चेष्टा पूर्वानुराग कहलाती है।[6] इन्होंने अभिलाष, चिन्ता, स्मरण, गुणकीर्तन, उदासीनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मरण - जो पूर्वानुराग की दस अवस्थायें वर्णित की गयी

1- पुनरथेव द्वेधा प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च ।। - का0 12/6 उत्तरार्द्ध

2- प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च पुनरेव द्विधा मतः।।- वा0 5/6 उत्तरार्द्ध

3- श्रृङ्गारं त्रिविधं विद्याद् वाङ्नैपथ्यक्रियात्मकम् ।

- ना0 शा0 6वाँ अध्याय

4- अथ विप्रलम्भनामा श्रृङ्गारोऽयं चतुर्विधो भवति ।
प्रथमानुरागमानप्रवासकरुणात्मकत्वेन ।। - का0 14/1

5- {क} पूर्वानुरागो मानश्च प्रवासः करुणश्च सः ।
चत्वारो प्रकाण्डेषु चतुःकाण्डः प्रकाशते ।। - स0क0भ0 5/46

{ख} पूर्वानुरागमानात्मप्रवासकरुणात्मकः ।
विप्रलम्भश्चतुर्धा स्यात्पूर्वपूर्वो ह्ययं गुरुः ।। - वा0 5/17

{ग} स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात् ।।
- सा0द0 3/187 उत्तरार्द्ध

6- आलोकनादिमात्रप्रवृद्धानुरागयोरसंगमप्राप्तौ ।
नायकयोर्या चेष्टा स प्रथमो विप्रलम्भ इति ।। - वही, 14/2

है,[1] अतः नाट्यशास्त्र में सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है।[2] अधिकांश आचार्यों ने रुद्रट कथित पूर्वानुराग के स्वरूप[3] तथा इन दस दशाओं को स्वीकार किया है।[4] विप्रलम्भ के उक्त भेद के प्रसङ्ग में नायिका की प्राप्ति के लिए करणीय प्रयत्नों पर भी रुद्रट ने प्रकाश डाला है।[5] दशरूपककार ने पूर्वानुराग की दस अवस्थाओं को स्व-कथित अयोग की अवस्थायें कहा है।[6]

1- अत्राभिलाषः स्याच्चिन्ता तदनन्तरं ततः स्मरणम् ।
   तदनु च गुणसङ्कीर्तनमुद्वेगोऽथ प्रलापश्च ॥
   उन्मादस्तदनु ततो व्याधिर्जडता ततस्ततो मरणम् ।
   इत्थमसंयुक्तानां रक्तानां दश दशा ज्ञेयाः ॥

   - रुद्रट, 14/ 4-5.

2- ना० शा०

3- (क) स० कं० भ० 5/47
   (ख) वा० 5/18
   (ग) सा० द० 3/188

4- (क) सा० द० 3/190
   (ख) र० म०, पृ- 328
   (ग) अ० शे० 5/76

5- का० 14/ 5-14

6- दशरूपक 4/ 51- 52.

रुद्रट के अनुसार "मान" वह विकार है, जो अन्य नायिका के सम्पर्क से नायक में दोष के कारण ईर्ष्यावश नायिका में चित्रित किया जाता है।[1] यह दोष परस्त्री के साथ गमन, आलाप तथा दर्शन के अनुसार क्रमशः महादोष, मध्यमदोष तथा स्वल्पदोष होता है, इन तीनों से भी बढ़कर अर्थात् महत्तमदोष उस स्थिति में होता है जब अन्य नायिका के साथ नायक का संलाप नायिका स्वयं देख लेती है।[2] नायक द्वारा ग्रहण किए गए वस्त्रादि वाह्य एवं क्षत अङ्ग, गोत्रस्खलनादि उसके चिह्न होते हैं।[3] उपर्युक्त तीन कोटि के दोषों के अनुसार नायिका में असाध्य, कठिनाई से साध्य तथा सरलता से साध्य क्रोध का निरूपण किया जाता है।[4] इन सबके साथ ही रुद्रट ने इस विप्रलम्भ- विकार के लिए देश एवं काल तथा नायिका के क्रोध के परिहार के साम, दाम, भेद, प्रणति एवं उपेक्षा इत्यादि कुछ उपायों का भी विवेचन किया है।[5] इनके इस मान- विवेचन में केवल ईर्ष्याजनित मान को ही स्थान दिया गया है, वाग्भट ने भी इन्हीं का अनुसरण करते हुए केवल ईर्ष्याजनित मान को "मान" विप्रलम्भ के अन्तर्गत रखा है[6] किन्तु परवर्ती आचार्यों ने प्रणय तथा मान - दो प्रकार से मान का विवेचन किया है।[7]

1- मानः स नायके यं विकारमायाति नायिका सेर्ष्या ।
उद्दिश्य नायिकान्तरसम्बन्धसमुत्थं दोषम् ।। - का० 14/15.

2- गमनं ज्यायान्दोषः प्रियतोयिति मध्यमस्तथालापः ।
आलोकनं कनीयान्मध्यो ज्यायान्स्वयं दृष्टः ।। - वही, 14/16

3- वसनादि नायकस्थं तदीयमाश्लिष्टं च तत्पादङ्कम् ।
दोषं तथागतं गोत्रस्खलनं लक्षितम् ।। - वही, 14/17

4- देशं कालं पात्रं प्रसङ्गमवगम्यमेत्य संविशिष्टम् ।
जनयति कोपमसाध्यं सुखसाध्यं दुःखसाध्यं वा ।- वही, 14/18

5- वही, 14/ 19-32.

6- मानोऽन्यवनितासङ्गाद्दीर्ष्याविकृतिरुच्यते । - वा० 5/19 पूर्वार्द्ध

7- [क] मानोऽपि प्रणयेर्ष्याभ्यां । - दश० 4/ पृ०-370.
[ख] मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः ।
- सा०द० 3/198 पूर्वार्द्ध
[ग] ईर्ष्याप्रणयसम्भूतो द्वेधा मानः प्रकीर्त्यते ।
- र० को० 5/77 पूर्वार्द्ध

रुद्रट ने "प्रवास" वियोग की वह अवस्था बतायी है, जिसमें नायक विदेश में रहता है।[1] धनञ्जय ने स्वकथित विप्रयोग के उपभेदों के रूप में मान तथा प्रवास का निरूपण किया है।[2] रुद्रट के अनुसार करुण विप्रलम्भ में नायक- नायिका में से एक के मर जाने पर दूसरे का विलाप चित्रित किया जाता है।[3] इस विप्रलम्भ में नायक अथवा नायिका के अङ्ग शिथिल हो जाते हैं, वह अचेतन तथा दुःखी रहता है, अश्रुपात होता है तथा दीर्घश्वास लेता है।[4] भोजराज तथा वाग्भट ने करुण विप्रलम्भ को इसी रूप में स्वीकार किया है।[5]

रुद्रट का यह करुण विप्रलम्भ आचार्य भरत के करुण रस के समान ही है।[6] अतः इसे श्रृङ्गार रस के अन्तर्गत रखना कहाँ तक उचित है? यह विचारणीय है, जबकि भरतमुनि विप्रलम्भ का स्वरूप इस प्रकार देते हैं -

---

1- यास्यति याति गतो वा यत्परदेशं नायकः प्रवासोऽसौ ।
   एष्यत्येत्यायातो यथा तयोरन्यथा च गृहान् ।। - का० 14/33

2- विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्रम्भयोर्द्विधा ।
   मानप्रवासभेदेन ....।। - द० रू० 4/57

3- करुणः स विप्रलम्भो यत्रान्यतरो म्रियते नायकयोः।
   यदि वा मृतकल्पः स्यात्तत्रान्यस्तद्गतं प्रलपेत् ।। - वही, 14/34

4- सर्वेष्वेषु जनः स्याच्छ्लथाङ्गतापतो विचेतनो म्लानः ।
   अविच्छिन्ननयनसलिलः सततं दीर्घोष्णनिःश्वासः ।। - वही, 14/35

5- [क] लोकान्तरगते यूनि वल्लभे वल्लभा यदा ।
      भृशं दुःखायते दीना करुणः स तदोच्यते ।।
                                    - स० कं० भ० 5/50

   [ख] स्यादेकतरपञ्चत्वे दम्पत्योरनुरक्तयोः ।
      श्रृङ्गार करुणाख्योऽयं वृत्तकर्मैव स: ।।
                                    - वा० 5/20

6- करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्ट जनविभवनाशवधबन्धसमुत्थो निरपेक्षभावः ।
                                    - ना० शा० 6/ पृ- 725.

"औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः।" वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि करुण रस तथा विप्रलम्भ शृङ्गार पृथक्- पृथक् है -

"एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति।" इस प्रकार रुद्रट ने करुण विप्रलम्भ का जो रूप दिया है, वह करुण रस से भिन्न नहीं है अतः इनका "करुण-विप्रलम्भ" कुछ अंशों तक दोषपूर्ण है। इसीलिए दशरूपककार ने करुण- विप्रलम्भ का स्पष्ट शब्दों में खण्डन किया है। उनके अनुसार एक के मर जाने पर दूसरे का प्रलाप "शोक" स्थायी भाव का उद्बोधक है, क्योंकि उसमें "रति" स्थायी भाव का आलम्बन नष्ट हो जाता है, साथ ही यदि उसके पुनरुज्जीवित होने की अथवा पुनर्मिलन की आशा हो तो वहाँ प्रवास विप्रलम्भ होगा, करुण विप्रलम्भ नहीं।[1] इस प्रकार उन्होंने करुण विप्रलम्भ का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार किया है। साहित्यदर्पणकार ने रुद्रट के करुण विप्रलम्भ के रूप को परिमार्जित करके स्वीकार किया है। उनके अनुसार नायक- नायिका में से एक के लोकान्तर चले जाने किन्तु पुनरुज्जीवित हो सकने की अवस्था में दूसरे के हृदय के शोकयुक्त रतिभाव का अभिव्यञ्जन करुण विप्रलम्भ होता है।[2] उन्होंने "कादम्बरी" के पुण्डरीक- महाश्वेता- वृत्तान्त में करुण विप्रलम्भ को स्वीकार किया है।[3]

1- [क] मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोकः एव सः ।
व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः ।।
- दशरूपक 4/67.

[ख] यथेन्दुमतीमरणादजस्य करुण एवं रघुवंशे, कादम्बर्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासशृङ्गार एवेति । -वही, वृत्ति, पृ0-380.

2- यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये ।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः ।।- सा0द0 3/209.

3- यथा- कादम्बर्यां पुण्डरीकमहाश्वेतावृत्तान्ते । — वही

उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि नायक- नायिका में से किसी एक की आत्यन्तिक मृत्यु से मिलन की अत्यन्त निराशा अथवा परलोक में मिलन की आशा की अवस्था में करुण रस अभिव्यङ्ग्य होगा, क्योंकि मिलन की आशा के अभाव में रति भाव नहीं हो सकता।[1] इस प्रकार उन्होंने उन आचार्यों के विभिन्न मतों का भी खण्डन किया है जो उपर्युक्त स्थल में आकाशवाणी से पूर्व करुण रस तथा उसके अनन्तर शृङ्गार को मानते हैं अथवा जो [धनञ्जयादि] मिलन की आशा के अनन्तर उक्त स्थल में प्रवास शृङ्गार मानते हैं अथवा जो मरणदशा का प्रतिपादक होने के कारण प्रवास तथा करुण से भिन्न एक विशेष प्रकार का विप्रलम्भ मानते हैं।[2]

आचार्य विश्वनाथ ने विप्रलम्भ के जिन चार प्रकारों का विवेचन किया है, उनमें से अभिलाष, ईर्ष्या, तथा प्रवास[3] रुद्रट के पूर्वानुराग, मान तथा प्रवास ही हैं किन्तु "विरह" नामक भेद[4] इनके करुण विप्रलम्भ से सर्वथा भिन्न है।

आचार्य मम्मट तथा कर्णपूर गोस्वामी विप्रलम्भ शृङ्गार को अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास तथा शापहेतुक - पाँच प्रकार का मानते हैं।[5]

1- पुनरलब्धे शरीरान्तरेण वा लब्धे तु करुणाख्य एव रसः ।
- वही, 3/ पृ0- 247 वृत्तिभाग

2- किन्त्वाकाशसरस्वतीभाषानन्तरमेव शृङ्गारः, सङ्गमप्रत्याशया रतेरुद्भावात्।
प्रथमं तु करुण एव, इत्यभियुक्ता मन्यन्ते ।
यच्चात्र सङ्गमप्रत्याशानन्तरमपि भवतो विप्रलम्भशृङ्गारस्य प्रवासाख्यो भेद
एव इति केचिदाहुः, तदन्ये मरणरूपविशेषसम्भवात्तद् भिन्नमेव इति मन्यन्ते ।
- वही, 247-48.

3- अभिलाषो नाम सम्भोगात् प्रागनुरागः । ईर्ष्या नाम नायकस्यान्यासक्तभावात् चित्तविक्रिया। पुनर्देशान्तरवृत्तित्वं प्रवासः । - अ0 र0, पृ0-318.
4- विरहो नाम लब्धसंयोगयोर्नायकयोः केनचित् कारणेन पुनः समागमकालातिक्षेपः।
- वही, पृ0- 320.

5- [क] अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः।
-का0प्र0 4/पृ0-145.
[ख] अपरस्त्वभिलाष विरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चधा ।
- अ0 कौ0 5/पृ0-154.

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रुद्रट के विस्तृत शृङ्गाररस विवेचन का परवर्ती काव्यशास्त्र पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है तथा उनके द्वारा विवेचित उक्त रस के भेद- प्रभेद एवं उनके स्वरूप को अधिकांश आचार्यों ने स्वीकार किया है।

शृङ्गार रस के साथ ही "शृङ्गाराभास" का भी रुद्रट ने निरूपण किया है। उनके अनुसार एक पात्र के विरक्त होने पर भी दूसरा उसमें आसक्त रहे तो उसे शृङ्गाराभास कहते हैं।[1]

सम्भवतः रुद्रट के इस शृङ्गाराभास-विवेचन से ही प्रभावित होते हुए आचार्यों ने परवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में रसाभास का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। अधिकांश आचार्यों ने अनुचित रूप में प्रवृत्त होने वाले रस अथवा भाव को क्रमशः रसाभास तथा भावाभास कहा है।[2] जहाँ रुद्रट एक के विरक्त होने पर भी दूसरे की उसमें आसक्ति के वर्णन में शृङ्गाराभास मानते है वहीं परवर्ती आचार्यों ने शृङ्गाराभास के अन्य भी प्रसङ्ग बताए हैं। शास्त्रों में प्रत्येक रस की अभिव्यञ्जना से सम्बन्धित कुछ नियम निर्धारित किए गए हैं, इन नियमों का उल्लङ्घन करने वाले वर्णन काव्य में निषिद्ध हैं, अतः इस प्रकार के वर्णनों में रस न होकर रसाभास होता है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार उपनायकनिष्ठ रतिभाव,

---

1- शृङ्गाराभास स तु यत्र विरक्तेऽपि जायते रक्तः ।
   एकस्मिन्नपरोऽसौ नाभाष्येषु प्रयोक्तव्यः ।। - का० 14/36.

2 (क) तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः। तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च ।
   - का०प्र० 4/सूत्र 49

(ख) तथाधारस्थौम्यमादिस्वरूपया ।
   अनौचित्या रसाभासा भावाभासाश्च कीर्तिताः।।-चन्द्रालोक 6/19

(ग) अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः । - सा०द० 3/262.

मुनिपत्नी अथवा गुरुपत्नी- विषयक रति, बहुनायकविषयक रति, केवल नायक अथवा केवल नायिका- विषयक रति, प्रतिनायकविषयक रति, अधमपात्रविषयक रति अथवा तिर्यग्गत रतिभाव की अभिव्यञ्जना श्रृङ्गाराभास है।[1]

इस प्रकार इन्होंने रुद्रट- सम्मत श्रृङ्गाराभास में रतिभाव की अन्य अनेक प्रकार की अनुचित अभिव्यञ्जनाओं का भी समावेश किया है। श्रीमद्भानुदत्त रुद्रट का अनुसरण करते हुए नायक अथवा नायिका में से एक की रति को अर्थात् अनुभय-निष्ठ रतिभाव की अभिव्यञ्जना को श्रृङ्गाराभास कहते हैं।[2] पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार जहाँ रस का आलम्बन विभाव अनुचित हो वहाँ रसाभास होता है।[3] किन्तु इस लक्षण से मुनिपत्नी, गुरुपत्नी आदि में होने वाली रति का संग्रह तो हो जाता है किन्तु बहुनायकविषयक रति अथवा दो में से केवल एकनिष्ठ रति का संग्रह नहीं होता, अतः रसाभास के लक्षण में अनुचित विशेषण विभाव में न लगाकर रत्यादि भाव में लगाना चाहिए अर्थात् जिसके रत्यादि स्थायी भाव अनुचित रूप से प्रवृत्त होते हैं, वह रसाभास कहलाता है,[4] इस प्रकार का लक्षण करने से सभी प्रकार की रतियों का संग्रह हो जाता है।

1- उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च ।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ।।
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते ।
श्रृङ्गारेऽनौचित्यं .... ।।-सा0द03/263-264

2- एकस्यैव रतिश्चेद्रसाभास एव। एकस्या एव रतिश्चेद्रसाभास एव ।
- रसतरङ्गिणी 8/पृ0-169.

3- अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम् । - र0 गं0 1/पृ0- 365.

4- मुनिपत्न्यादिविषयकरत्यादेः संग्रहेऽपि, बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च रतेरसंग्रहात् । तत्र विभावगतानौचित्यस्याभावात् । तस्मादनौचित्येन रत्यादिर्विशेषणीयः। इत्थं चानुचितविभावालम्बनाया बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च संग्रह इति । - वही, पृ0- 366 वृत्तिभाग

आचार्य रुद्रट ने केवल शृङ्गाराभास का ही विवेचन किया है किन्तु परवर्ती आचार्यों ने अन्य रसाभासों का भी उल्लेख किया है।

आचार्य रुद्रट ने किस रस में किस रीति तथा किस वृत्ति का प्रयोग होना चाहिए इसका भी विधान किया है। उनके अनुसार शृङ्गार रस के प्रसङ्ग में वैदर्भी अथवा पाञ्चाली रीति की रचना करनी चाहिए तथा मधुरा और ललिता वृत्ति का प्रयोग करना चाहिए।[1]

वीर रस -

शृङ्गार रस के विस्तृत विवेचन के पश्चात् आचार्य रुद्रट ने सम्पूर्ण पन्द्रहवें अध्याय में शेष नौ रसों का विवेचन किया है। उनके अनुसार "उत्साह" स्थायी भाव वाला वीर रस तीन प्रकार का होता है- युद्ध, धर्म तथा दान। इस रस में नायक क्षुब्ध न होने वाला तथा प्रसिद्ध होता है।[2] उक्त रस के त्रिभेदों को आचार्य रुद्रट ने नाट्यशास्त्र[3] से ग्रहण किया है। भरतमुनि ने वीररस का विवेचन इस प्रकार किया है - "वीर रस उत्साहात्मक उत्तमप्रकृति का होता है। असम्मोह, अध्यवसाय, नीति, विनय, बल, पराक्रम, शक्ति, प्रभाव, प्रताप आदि उसके विभाव होते हैं। स्थैर्य, धैर्य, शौर्य आदि उसके अनुभाव हैं तथा धृति, मति, गर्व, आवेगादि

1- इह वैदर्भी रीतिः पाञ्चाली वा विचार्य रचनीया ।
मधुराललिते कविना कार्ये वृत्ती तु शृङ्गारे ।। - वही, 14/37

2- उत्साहात्मा वीरः स त्रेधा युद्धधर्मदानेषु ।
विषयेषु भवति तस्मिन्नक्षोभो नायकः ख्यातः ।।
- काव्यालङ्कार 15/1

3- दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च ।
रसवीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधमेव च ।।
- ना० शा० 6/79.

व्यभिचारी भाव होते हैं।[1] उनके अनुसार वीर रस का नायक नीति, विनय, सेना, पराक्रम, गम्भीरता, उदारता, शूरता तथा कुशलता से युक्त प्रजाप्रिय, कर्त्तव्यपरायण तथा साहसिक कृत्यों वाला होता है।[2] नायक के गुण ही वीर रस के अनुभाव हैं।

परवर्ती आचार्यों ने वीररस के नाट्यशास्त्रकथित स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों को ही स्वीकार किया है,[3] किन्तु वीररस के प्रकारों के विषय में मतभेद है। दशरूपककार तथा भानुदत्त ने दया, युद्ध और दान के आधार पर वीर रस के तीन प्रकार माने हैं।[4] जयदेव, विश्वनाथ कवि-→

1- अथवीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः । स चासम्मोहाध्यवसायनयविनयबल-
पराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य स्थैर्यधैर्यशौर्यत्यागवैशार-
द्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । भावाश्चास्य धृतिमतिगर्वावेगौग्र्या-
मर्षस्मृतिरोमाञ्चाद्यः । - ना० शा० 6/पृ०- 324.

2- नयविनयबलपराक्रमगाम्भीर्यौदार्यशौर्यैः ।
युक्तोऽनुरक्तलोको निर्व्यूढभरो महारम्भः ।।- काव्यालङ्कार 15/2

3- [क] वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्वमोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः।
उत्साहभूः स च दयारणदानयोगात् त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः।।
- दशरूपक 4/72

[ख] उत्साहाख्यस्थायिभावः प्रभावादिविभावभूः ।
वीरोऽनुभावैः स्थैर्याद्यैर्विभावादिभिर्युतः ।। -च० 6/9

[ग] उत्साहस्थायिभावो वीरः ।
उत्साहाध्यवसायादविषादित्वाद् अविस्मयामोहात् ।
विविधार्थविशेषाद् वीररसो नाम सम्भवति ।।
स्थितिधैर्यवीर्यधैर्योत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः ।। - र०प्र०, पृ०-64

[घ] सा० द० 3/232-234

4- [क] उत्साहभूः स च दयारणदानयोगात् त्रेधा.....।-द०रू० 4/72
[ख] वीरस्तु- युद्धवीर-दयावीर-दानवीरभेदात् त्रिधा।-र०त०।/पृ०-15.

राज पण्डितराज जगन्नाथ तथा आचार्य विश्वेश्वर पण्डित ने नाट्यशास्त्र-कथित धर्मवीर, युद्धवीर तथा दानवीर के साथ धनञ्जय के दयावीर को लेकर वीर रस के चार प्रकार स्वीकार किए हैं।[1]

करुण रस -

वीर रस के पश्चात् आचार्य रुद्रट ने करुण रस का विवेचन किया है। उनके अनुसार करुण रस का स्थायी भाव "शोक" इष्ट के विनाश तथा अनिष्ट की प्राप्ति से होता है।[2] उक्त रस के प्रसङ्ग में नायक को भाग्यपीड़ित चित्रित किया जाता है।[3] निरन्तर अश्रुपात, प्रलाप, विवर्णता, मोह, निर्वेद, पृथ्वी पर छटपटाना, विलाप तथा भाग्य की निन्दादि इस रस के अनुभाव हैं।[4] आचार्य भरत ने इस रस के विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के साथ ही उनके[5]

1- [क] अयः दानवीर-धर्मवीर-युद्धवीर, दयावीरभेदाच्चतुर्धा भवति ।
- चन्द्रालोक 6/पृ०-207.

[ख] सा०द० 3/234 उत्तरार्द्ध

[ग] वीरश्चतुर्धा-दान-दया-युद्ध धर्मैस्तदुपाधिकोत्साहस्यचतुर्विधत्वात् ।
- र०गं०।/पृ०-164

[घ] एवं दानदयायुद्धधर्मरूपाणामुत्साहोपाधीनां भेदाच्चतुर्धा ।
-र०च०, पृ०-64.

2- करुणः शोकप्रकृतिः शोकश्च भवेद् विपत्तितः प्राप्तेः। -का० 15/3 पूर्वार्द्ध

3- इष्टस्यानिष्टस्य च विधिविहतो नायकस्तत्र ।। -वही, उत्तरार्द्ध

4- अविरलनयनसलिलप्रलापवैवर्ण्यमोहनिर्वेदाः ।
क्षितिलोठनपरिदेवनविधिनिन्दाश्चेति कर्मे स्युः।। -वही, 15/4

5- अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः। स च शापक्लेशविनिपतितेष्ट-जनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धविद्रवोपघातव्यसनसंयोगादिभिर्विभावैः समुपजायते। तस्याश्रुपातपरिदेवनमुखशोषणवैवर्ण्यस्रस्तगात्रतानिश्वास-स्मृतिलोपादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यावेगभ्रममोहश्रमभयविषाददैन्यव्याधिजडतोन्मादा-पस्मारत्रासालस्यमरणस्तम्भवेपथुवैवर्ण्याश्रुस्वरभेदादयः । -ना०शा० 6/पृ०-317.

भेदत्रय का भी निरूपण किया है। उनके अनुसार धर्म के नाश से, अर्थ के व्यय अथवा हानि से तथा शोक से उत्पन्न होने के कारण करूण रस, तीन प्रकार का होता है।[1] प्राय: सभी परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने इस रस के भावसम्बन्धी विवेचन में भरतमुनि का ही अनुसरण किया है।[2] किन्तु इन आचार्यों ने करूण के भेद नहीं किए हैं।

बीभत्स रस -

करूण के पश्चात् आचार्य रूद्रट ने बीभत्स रस का विवेचन किया है।[3] भरतमुनि का अनुसरण करते हुए उन्होंने भी इस रस का स्थायी भाव "जुगुप्सा" बताया है। उनके अनुसार अत्यन्त अरमणीक दृश्यों को देखने, सुनने तथा वर्णन करने से जुगुप्सा उत्पन्न होती है, अत: ये विभाव हैं।[4] हृदय का काँपना, कुल्ला करना, मुख सिकोड़ना, शरीर को मरोड़ना तथा उद्वेग इत्यादि इसके अनुभाव हैं किन्तु ये अनुभाव उत्तम पात्रों में चित्रित नहीं किए जाने चाहिए क्योंकि ये (उत्तम) पात्र गम्भीर

1- धर्मोपघातजश्चैव तथार्थापचयोद्भव: ।
तथा शोककृतश्चैव करूणस्त्रिविध: स्मृत: ।।
- वही, 6/78

2- (क) दशरूपक 4/81-82
(ख) चन्द्रालोक 6/7
(ग) सा0द0 3/222- 225.

3- अथ बीभत्सो नाम जुगुप्सास्थायिभावात्मक: । स च हृद्याप्रियाचोष्यनिष्ट-श्रवणदर्शनकीर्तनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य सर्वाङ्गसंहारमुखविकूणनोल्लेखन-निष्ठीवनोद्वेजनादिभिरनुभावैरभिनय: प्रयोक्तव्य:। भावाश्चास्यापस्मारो-द्वेगावेगमोहव्याधिमरणादय: । - ना0 शा0 6/ पृ0- 328.

4- भवति जुगुप्साप्रकृतिर्बीभत्स: सा तु दर्शनाच्छ्रवणात् ।
सङ्कीर्तनात्तथेन्द्रियविषयाणामत्यहृद्यानाम् ।। -काव्यालङ्कार 15/5

स्वभाव वाले होते हैं।[1] परवर्ती आचार्यों ने भी भरतमुनि का अनुसरण करते हुए बीभत्स रस का वैसा ही विवेचन किया है।[2]

उपर्युक्त रसों की भाँति ही आचार्य रुद्रट ने अन्य रसों के विवेचन में भी भरतमुनि का ही अनुसरण किया है।

भयानक रस -

जिसके अनुसार भयानक रस का स्थायी भाव भय है, अत्यधिक भीषण शब्दादि से यह उत्पन्न होता है तथा यह नीच स्त्री, बालक आदि में चित्रित किया जाता है। दिशाओं में देखना, मुख का सूखना, विवर्णता, स्वेद आना इत्यादि इसके अनुभाव हैं।[3]

1- हृल्लेखननिष्ठीवनमुखकूणनसर्वगात्रसंहारा: ।
उद्वेग: सन्त्यस्मिन्गाम्भीर्यान्नोत्तमानां तु ।।
- वही, 15/6

2- {क} दशरूपक 4/73 {ख} वाग्भटालङ्कार 5/31.
{ग} चन्द्रालोक 6/11 {घ} सा० द० 3/239- 241.

3- {क} सम्भवति भयप्रकृतिर्भयानको भयमतीव घोरेभ्य: ।
शब्दादिभ्यस्तस्य च नीचस्त्रीबालनायकता ।।
दिक्प्रेक्षणमुखशोषवैवर्ण्यस्वेदगद्गदत्रासा: ।
करचरणकम्पसम्भ्रमनोदाश्च भयानके सन्ति ।।
- काव्यालङ्कार 15/7-8

{ख} अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मक: ।
स च विकृतरवसत्त्वदर्शनशिवोलूकत्रासोद्वेगशून्यागारारण्यगमनस्वजनवधबन्धदर्शनश्रुतिकथादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य प्रवेपितकरचरणनयनचपलपुलकमुखवैवर्ण्यस्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनय: प्रयोक्तव्य:। भावश्चास्य स्तम्भस्वेदगद्गदरोमाञ्चवेपथुस्वरभेदवैवर्ण्यशङ्कामोहदैन्यावेगचापलजडता त्रासापस्मारमरणादय: । - ना० शा० 6/ पृ0-326.

अद्भुत रस -

इसका स्थायी भाव विस्मय, असम्भाव्य, स्वयं अनुभूत अर्थ अथवा अनुभव करके दूसरे के द्वारा कहे जाने से उत्पन्न होता है, नेत्रों का विकास, पुलक, स्वेद तथा नेत्रों का निर्निमेष होना इस रस के अनुभाव होते हैं, ये सभी अनुभाव उत्तमपात्रों में चित्रित किए जाते हैं।

हास्य रस -

इसका स्थायी भाव हास है, जो विकृत अङ्ग, चेष्टा तथा वेष इत्यादि से उत्पन्न होता है। इसका प्रायः स्त्री, नीच तथा बालक इत्यादि में चित्रण किया जाता है। उत्तम, मध्यम तथा अधम- तीनों कोटि के पात्रों में हास- चित्रण भिन्न अवस्थाओं वाला होता है। उत्तम पात्रों के नेत्र और कपोल विकसित हो जाते हैं। कुछ- कुछ दाँत भी दिखायी देते हैं, मध्यम पात्रों का मुख खुल जाता है तथा नीच

1- [क] स्यादेव विस्मयात्मा रसोऽद्भुतो विस्मयोऽप्यसम्भाव्यात् ।
स्वयमनुभूतादर्थादनुभूयान्येन वा कथितात् ।।
नयनविकासोऽवाष्पः पुलकः स्वेदोऽनिमेषनयनत्वम् ।
सम्भ्रमगद्गदवाणीसाधुवादास्युत्तमे सन्ति ।। - काव्यालङ्कार 15/9-10

[ख] अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः । स च दिव्यजनदर्शनेप्सितमनोरथा-
वाप्त्युपवनदेवकुलादिगमनसभाविमानमायेन्द्रजालसम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।
तस्य नयनविस्ताराऽनिमेषप्रेक्षितरोमाञ्चाश्रुस्वेदहर्षसाधुवाददानप्रबन्धहाहाकार-
बाहुवदनचेलाङ्गुलिभ्रमणादिभिरभिनयः प्रयोक्तव्यः । भावाश्चास्य स्तम्भाश्रु-
स्वेदगद्गदरोमाञ्चावेगसम्भ्रमजडताप्रलयादयः ।।
- ना० शा० 6/ पृ०- 329.

पात्र में अट्टहास का चित्रण किया जाता है, इस अट्टहास के कारण उनके नेत्रों में जल आ जाता है।

रौद्र रस -

इस रस का स्थायी भाव क्रोध है, शत्रु द्वारा किए गए पराभव से उत्पन्न होता है। इसमें नायक अत्यन्त भीषण चेष्टाओं वाला, अमर्षयुक्त तथा अत्यन्त प्रचण्ड होता है। अंसस्फालन टेढ़ी भृकुटियों से देखना, शस्त्र उठाना, तथा अपनी शक्ति की प्रशंसा इत्यादि इस रस के अनुभाव हैं।[2]

1- [क] हास्यो हासप्रकृतिर्हासो विकृताङ्गवेषचेष्टाभ्यः ।
भवति परस्थाभ्यः स च भूम्ना स्त्रीनीचबालगतः ।।
नयनकपोलविकासी किञ्चिल्लक्ष्यद्विजोऽथसौ महताम् ।
मध्यानां विवृतास्यः सशब्दबाष्पश्च नीचानाम ।।
- काव्यालङ्कार 15/11-12.

[ख] अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मकः ।
स च विकृतपरवेषालङ्कारधाष्ट्र्यलौल्यकुहकासत्प्रलाप -
व्यङ्गदर्शनदोषोदाहरणादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्योष्ठनासाकपोल-
स्पन्द..................निद्रालस्यावेगादयः।। -ना0शा06/पृ0-312.

2- [क] रौद्रः क्रोधप्रकृतिः क्रोधोऽरिकृतात्पराभवाद्भवति ।
तत्र क्रुद्धात्मचेष्टः सामर्षोनायकोऽत्युग्रः ।।
तत्र निजांसस्फालनविषमभ्रुकुटीक्षणायुधोत्क्षेपाः ।
तत्र स्वशक्तिश्लाघाप्रतिभटाक्षेपणानि ।।
- काव्यालङ्कार 15/13-14

[ख] अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रकृतिः
सङ्ग्रामहेतुकः । - ना0 शा0, पृ0- 319.

परवर्ती आचार्यों ने भी उक्त रसों के स्थायी आदि भावों के विषय में भरत मुनि का ही अनुसरण किया है।[1] यद्यपि आचार्य रुद्रट ने अधिक विस्तार से इन रसों का विवेचन नहीं किया है तथापि पूर्वोक्त विवेचन में ही इन रसों से सम्बन्धित कुछ ध्यातव्य तत्वों की ओर स्पष्टरूपेण इङ्गित किया है। यथा- भयानक रस के प्रसङ्ग में भय का चित्रण नीच स्त्री, बालक आदि में किया जाता है अर्थात् इसमें नीच स्त्री, बालक आदि नायक होते हैं।[2] इसी प्रकार अद्भुत रस में विस्मय का चित्रण उत्तम पात्रों तक में किया जाता है।[3] हास्य रस में उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों का हास भिन्न- भिन्न प्रकार का होता है। उत्तम पात्रों के नेत्र और कपोल विकसित हो जाते हैं और दांत कुछ- कुछ दिखायी पड़ते हैं, मध्यम पात्रों का मुख खुल जाता है और अधम पात्र अट्टहास करते हैं।[4] भरतमुनि ने हास्य रस के आत्मस्थ और परस्थ दो भेद[5] एवं इनके अतिरिक्त अङ्ग नेपथ्य एवं वाक्य- ये तीन प्रभेद हास्य तथा रौद्र रस के बताए हैं,[6] किन्तु आचार्य रुद्रट ने इनका उल्लेख नहीं किया है।

1- [क] दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश [ख] चन्द्रालोक षष्ठ मयूख
[ग] वाग्भटालङ्कार, पञ्चम परिच्छेद, [घ] सा०द० तृतीय परिच्छेद ।

2- ....नीचस्त्रीबालनायकता ।। - काव्यालङ्कार 15/7

3- ....उत्तमे तन्ति ।। - वही, 15/10

4- नयनकपोलविकासी किञ्चिल्लक्ष्यद्विजोऽधमो महताम् ।
मध्यानां विवृतास्यः सशब्दमात्यन्त नीचानाम् ।।
- वही, 15/12

5- द्विविधश्चायमात्मस्थः परस्थश्च । यदा स्वयं हसति तदात्मस्थः ।
यदा तु परं हासयति तदा परस्थः ।।- ना०शा० 6/पृ०-313.

6- अङ्गनैपथ्यवाक्यैश्च हास्यरौद्रौ त्रिधा स्मृतौ ।
- वही, पृ०- 331.

शान्त रस -

नवें रस के रूप में रुद्रट ने शान्त रस का विवेचन किया है। उनके अनुसार "सम्यग्ज्ञान" इस रस का स्थायी भाव है। इस रस में नायक विगतेच्छ होता है। सम्यग्ज्ञान विषयों में अज्ञान तथा राग के नाश से उत्पन्न होता है। जन्म, वृद्धावस्था तथा मृत्यु के भय एवं वासनाविषयों में विरक्ता, सुख-दुःख में रागद्वेष का अभावादि इस रस के अनुभाव होते हैं।[1] नाट्यशास्त्र के कुछ संस्करणों में शान्त रस का भी विवेचन[2] प्राप्त होता है। उसके अनुसार उक्त रस का स्थायी भाव "शम" है। साहित्यदर्पणकार ने भी "शम" को ही शान्त का स्थायी भाव माना है,[3] किन्तु परवर्ती आचार्यों में से अधिकांश ने "निर्वेद" को इसका स्थायी भाव कहा है।[4] वाग्भट ने रुद्रट का अनुसरण करते हुए "सम्यग्ज्ञान" को ही उक्त रस का स्थायी भाव माना है।[5]

1- सम्यग्ज्ञानप्रकृतिः शान्तो विगतेच्छनायको भवति ।
सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य चापगमात् ॥
जन्मजरामरणादित्रासो वैरस्यवासनाविषये ।
सुखदुःखयोरनिच्छाद्वेषाविति तत्र जायन्ते ॥
- काव्यालङ्कार 15/15-16

2- अथ शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः । स तु तत्त्वज्ञानवैराग्याशयशुद्ध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य यमनियमाध्यात्मध्यानधारणोपासनसर्वभूतदयालिङ्गग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदस्मृतिधृतिसर्वाश्रमशौचस्तम्भरोमाञ्चादयः । - ना0शा0 6/पृ0-332.

3- शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः । - सा0द0 3/245 पूर्वार्द्ध

4- [क] निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः । -का0प्र0 4/पृ0-157.
[ख] निर्वेदस्थायिकः शान्तः .... ।-चन्द्रालोक 6/13पूर्वार्द्ध
[ग] तत्र निर्वेदः स्थायिभावः । -रसचन्द्रिका, पृ0-66

5- सम्यग्ज्ञानसमुत्थानः शान्तो.............। - वाग्भटालङ्कार 5/32.

प्रेयान् रस -

जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है प्रेयान् नामक दसवें रस की उद्भावना रुद्रट की अपनी है। उनके अनुसार इसका स्थायी भाव स्नेह है। इसमें नायक शिष्ट स्वभाव वाला होता है। दो मित्रों का परस्पर व्यवहार ही इस रस का विभाव है। आर्द्र अन्तःकरण के कारण नेत्रों में अत्यधिक अश्रु का आना, स्नेहपूर्वक स्फारित नेत्रों से देखना आदि अनुभाव हैं। इस रस में मनोवृत्ति छलरहित होती है, कोमल सद्भावपूर्ण तथा मधुर आलाप होता है[1] किन्तु इस रस को परवर्ती आचार्यों ने मान्यता नहीं दी। पूर्ववर्ती आचार्यों ने जिसे प्रेयस् अलङ्कार कहा है, उसको झलक रुद्रट के प्रेयान् रस में स्पष्ट प्रतीत होती है। भामह ने उक्त अलङ्कार का लक्षण तो नहीं किया है किन्तु जो उदाहरण[2] उन्होंने प्रस्तुत किया है, उससे स्पष्ट है कि वे प्रीति या स्नेह के प्रकाशन को ही प्रेयोऽलङ्कार मानते हैं। दण्डी ने भी प्रियतर उक्ति या आख्यान को प्रेयस् अलङ्कार कहा है[3] तथा भामहकृत उदाहरण को उद्धृत किया है। इस अलङ्कार के विषय में उद्भट की दृष्टि भामह तथा दण्डी की अपेक्षा विस्तृत है। उन्होंने

1- स्नेहप्रकृतिः प्रेयान्संगतशीलार्यनायको भवति ।
स्नेहस्तु साहचर्यात्प्रकृतेरुपचारसम्बन्धात् ॥
निर्व्याजमनोवृत्तिः सनर्मसद्भावपेशलालापाः ।
अन्योन्यं प्रति सुहृदोर्व्यवहारोऽयं मतस्तत्र ॥
प्रस्यन्दिप्रमदाश्रुः स्निग्धस्फारितलोचनालोकः ।
आर्द्रान्तःकरणतया स्नेहपदे भवति सर्वत्र ॥- काव्यालङ्कार 15/17-18-19

2- प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा ।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ॥- का० 3/4-5

3- प्रेयः प्रियतराख्यानम् .... ।- काव्यादर्श 2/275

रत्यादि भावों को विभावादि के द्वारा सूचना को "प्रेयस्" अलङ्कार कहा है[1]। अर्थात् भामह तथा दण्डी के मतानुसार गुरु, नृपति, पुत्र तथा देवादि विषयक प्रीति प्रेयस्वत् है जबकि उद्भट के अनुसार भाव मात्र का वर्णन "प्रेयस्वत्" अलङ्कार है।

प्रसङ्गप्राप्त भामहादि के रसवद् अलङ्कार पर भी दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। भामह के अनुसार रसवद् अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ स्पष्टतः शृङ्गारादि रस दर्शित हों[2]। दण्डी ने रसों से रमणीय वर्णन को रसवद् अलङ्कार कहा है[3]। उन्होंने आठों रसों के आधार पर इसके आठ भेद किये हैं। उद्भट ने भी विभावादि से परिपुष्ट रस की प्रतीति को रसवद् की संज्ञा देते हुए "शान्त" नामक नवें रस को नाट्य में भी स्वीकार किया है[4]।

उपर्युक्त समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिन रसों को अलङ्कारों में अन्तर्भूत करके पूर्ववर्तियों ने गौण रूप में विवेचित किया था उन्हीं रसों का रुद्रट ने स्वतन्त्र रूप से तथा विस्तृत विवेचन किया है तथा रस- सम्बन्धी कुछ नवीन तथ्यों

1- रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः ।
 यत्काव्यं बध्यते सद्भिः तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ।।
 - का० सा० सं० 4/2

2- रसवद् दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा ।
 - काव्यालङ्कार 3/6

3- ....रसवद् रसपेशलम् ।
 - काव्यादर्श 2/ 275

4- रसवद्दर्शितस्पष्ट- शृङ्गारादिरसादयम् ।
 स्वशब्दस्थायिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम् ।।
 शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
 बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः।।
 - का० सा० सं० 4/3-4

को भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने विभिन्न रसों में किन- किन रीतियों का प्रयोग किया जाना चाहिए- इस पर भी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार प्रेयान्, करुण, भयानक तथा अद्भुत रसों में वैदर्भी अथवा पाञ्चाली रीतियों की रचना करनी चाहिए। रौद्र रस में लाटीया अथवा गौडीया रीतियों की रचना करनी चाहिए।[1] शेष रसों में रीतियों का कोई नियम नहीं है। औचित्य रस का परिपोषक होता है, अतः औचित्य के अनुसार ही रीतियों की रचना करनी चाहिए।[2] श्रृङ्गार से सम्बन्धित रीतियों- वृत्तियों का पहले ही विवेचन किया जा चुका है।

स्पष्ट है कि काव्यशास्त्रियों में रुद्रट ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने रस का इतना विस्तृत, स्वतन्त्र और व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत किया ।

1- वैदर्भीपाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः ।
लाटीयगौडीये रौद्रे कुर्याद् ॥ - काव्यालङ्कार 15/20

2- .... कुर्याद् यथौचित्यम् । - वही

ए का द श अ ध्या य

पात्र - विवेचन

एकादश अध्याय

पात्र- विवेचन -

शृङ्गार रस के प्रसङ्ग में रुद्रट ने तत्सम्बन्धी नायक- नायिका के प्रकार आदि पर भी विचार किया है। सर्वप्रथम उन्होंने शृङ्गार रस के नायक के गुण बताए हैं। उनके अनुसार नायक को रतिव्यवहार में कुशल, कुलीन, रूपवान्, आरोग्य, अग्राम्य, उज्ज्वल वेष वाला, मधुर [अनुल्बण] चेष्टाओं वाला, स्थिर स्वभाव वाला, सुभग, कलाओं में निपुण, तरुण, त्यागी, प्रियभाषी, कुशल, गम्या नायिकाओं में विश्वास करने वाला तथा प्रसिद्ध होना चाहिये[1]।

शृङ्गार रस का नायक चार प्रकार का होता है- अनुकूल, दक्षिण, शठ तथा धृष्ट[2]। इनमें से अनुकूल नायक वह होता है, जो केवल एक ही नायिका वाला होता, प्रेम की इस स्थिरता के कारण वह अनुकूल नायक कहलाता है[3]। दक्षिण नायक अन्य नायिका में राग होने पर भी पूर्व नायिका के प्रति सद्भाव, प्रेम, गौरव तथा भय का त्याग नहीं करता[4]। शठ नायक अत्यधिक प्रिय भाषण करता है, किन्तु कांत

1- रत्युपचारे चतुरस्तुङ्गकुली रूपवानरुङ्मानी ।
अग्राम्योज्ज्वलवेषोऽनुल्बण चेष्टः स्थिरप्रकृतिः ।।
सुभगः कलासु कुशलस्तरुणस्त्यागी प्रियंवदो दक्षः ।
गम्यासु च विस्रम्भी तत्र स्यान्नायकः ख्यातः ।।
- का० 12/7-8

2- एवं स चतुर्धा स्यादनुकूलो दक्षिणः शठो धृष्टः ।
- वही, 12/9 पूर्वार्द्ध

3- तत्र प्रेम्णः स्थैर्यादनुकूलोऽनन्यरमणीकः ।
- वही, उत्तरार्द्ध

4- उज्झति न पूर्वस्यां सद्भावं गौरवं भयं प्रेम ।
अभिजातोऽन्यमना अपि नार्यां यो दक्षिणः सोऽयम् ।।
- वही, 12/10-

में अपराध [विप्रिय] करता है, ऐसा असरल चेष्टाओं को करने वाला यह नायक निरपराध की भाँति आचरण करता है।[1] धृष्ट नायक जैसा कि इसकी संज्ञा से ही स्पष्ट है, अपराध करने पर भी निर्भीक रहता है, भर्त्सना किए जाने पर भी लज्जित नहीं होता तथा दोष के कह दिए जाने पर भी झूठ बोलता है।[2]

रुद्रट से पूर्व आचार्य भरतमुनि ने बाइसवें अध्याय में अन्तःपुर से सम्बन्धित जो विवेचन प्रस्तुत किया है, उसी में प्रिय, कान्त, स्वामी, नाथ इत्यादि विभिन्न शब्दों के लक्षण भी निरूपित किए हैं,[3] इनमें से प्रिय, कान्त, विनीत, नाथ, स्वामी, जीवित एवं नन्दन- ये प्रीतिकर वचनविन्यास हैं अर्थात् प्रेमवश प्रिय के लिए ये शब्द प्रयुक्त होते हैं[4] किन्तु क्रोध में प्रिय के लिए धृष्ट, दुःशील, दुराचारी, शठ, वाम, विकत्थन, निर्लज्ज तथा निष्ठुर - ये शब्द कहे जाते हैं।[5]

सम्भवतः रुद्रट ने इन्हीं शब्दों से प्रभावित होते हुए नायक की पूर्वोक्त चार अवस्थाएँ विवेचित की हैं। इनमें से अनुकूल एवं दक्षिण नायक का स्वरूप

1- वक्ति प्रियमन्यस्मिन् यः कुरुते विप्रियं तथा निभृतम् ।
   आचरति निरपराधवदसरलचेष्टः शठः स इति ।। - वही, 12/11।

2- कृतविप्रियोऽप्यशङ्को यः स्यान्निर्भर्त्सितोऽपि न विलक्षः ।
   प्रतिपादितेऽपि दोषे वक्ति च मिथ्येत्यसौ धृष्टः ।।
   - वही, 12/12

3- नाट्यशास्त्र 22/301-319

4- प्रियः कान्तो विनीतश्च नाथः स्वामी च जीवितम् ।
   नन्दनश्चेत्यभिप्रीते वचनानि भवन्ति हि ।।

5- दुःशीलोऽथ दुराचारः शठो वामो विकत्थनः ।
   निर्लज्जो निष्ठुरश्चैव प्रियः क्रोधेऽभिधीयते ।।
   - वही, 302-303

भरतमुनि के प्रियकान्त, विनीत इत्यादि के अन्तर्गत मिलता है[1] तथा धृष्ट एवं शठ का स्वरूप धृष्ट, दुःशील, दुराचारी इत्यादि अप्रिय वचनों के स्वरूप से प्रभावित होते हुए निर्धारित किया गया है।[2]

1- यो विप्रियं न कुरुते न चायुक्तं प्रभाषते ।
   तथार्जवसमाचारः स प्रियस्त्वभिधीयते ।।
   अन्यनारीसमुद्भूतं चिह्नं यस्य न दृश्यते ।
   अधरे वा शरीरे वा स कान्त इति भाष्यते ।।
   संक्रुद्धेऽपि हि नार्यां नो रूक्षं प्रतिभाषते ।
   परुषं वा न वदति विनीतः साभिधीयते ।।
   हितैषी रक्षणे शक्तो न मानी न च मत्सरी ।
   सर्वकार्येष्वसम्मूढः स नाथ इति संज्ञितः ।।
   सामदानार्थसम्भोगैस्तथा लालनपालनैः ।
   नारीं निषेवते यस्तु स स्वामीत्यभिधीयते ।।
   नारीप्रियैरभिप्रायैर्निपुणं शयनक्रियाम् ।
   करोति यस्तु सम्भोगे स जीवितमिति स्मृतः ।।
   कुलीनो धृतिमान्दक्षो दक्षिणो वाग्विशारदः ।
   श्लाघनीयः सखीमध्ये नन्दनः सोऽभिधीयते ।।
   - वही, 304-31।

2- निष्ठुरश्चातिविज्ञश्च मानी धृष्टो विकत्थनः ।
   अनवस्थितचित्तश्च दुःशील इति स स्मृतः ।।
   ताडनं बन्धनं चापि यो विमृश्य समाचरेत् ।
   तथा परुषवाक्यश्च दुराचारः स उच्यते ।।
   वाचैव मधुरो यस्तु कर्मणा नोपपादकः ।
   योषितः किञ्चिदप्यर्थं स शठः परिभाष्यते ।।
   वार्यते यत्र यत्नेन तत्तदेव करोति यः ।
   विपरीतनिवेशी च उद्दाम इति संज्ञितः ।।
   सरत्नचिह्नो यः स्त्रीणां शोभाभिः विकत्थनः ।
   अतिमानी तथा स्तब्धो विकत्थन इति स्मृतः ।।
   वार्यमाणोऽद्भुततरं यो नारीमुपसर्पति ।
   सचिह्नः सापराधश्च स निर्लज्ज इति स्मृतः ।।
   योऽपराधस्तु सहसा नारीं सेवितुमिच्छति ।
   अप्रसादनवर्जित निष्ठुरः सोऽभिधीयते ।।
   -312-19

इस प्रकार काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम रुद्रट ने ही स्वतन्त्र रूप से श्रृङ्गार रस के नायक के गुण तथा उसकी चार अवस्थाओं का विवेचन किया है। उनका अनुसरण करते हुए परवर्ती आचार्य विद्यानाथ, विश्वनाथ कविराज तथा दशरूपककार इत्यादि ने भी श्रृङ्गारी नायक की उक्त चार अवस्थाएँ बतायी हैं।[1]

नायक के पश्चात् उसके सहायक के प्रकार तथा उनके लक्षण निरूपित करते हुए रुद्रट ने उसके पीठमर्द, विट तथा विदूषक- ये तीन प्रकार बताए हैं।[2] तीन प्रकार का यह नर्मसचिव उस नायक का भक्त, गुप्त मन्त्रणा को छिपाने वाला, नर्म में निपुण, पवित्र, कुशल, वाचाल, चित्त को जानने वाला तथा प्रतिभावान् होता होता है।[3] स्पष्ट है कि ये गुण पीठमर्द, विट तथा विदूषक में समान रूप से होते हैं। इन गुणों से युक्त पीठमर्द उसे कहते हैं जो नायक के गुणों से युक्त तथा उसका

1- [क] दक्षिणोऽस्यां सहृदयः गूढविप्रियकृच्छठः ।
व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टोऽनुकूलस्त्वेकनायिकः ॥
- शृ० ति० 2/7

[ख] अयं च त्रिविधोऽन्यत्रोऽनुकूलो दक्षिणः शठः ।
धृष्टश्चेति चतुर्धा स्यात् ....॥
- वा० 5/8

[ग] एकायत्तोऽनुकूलः स्यात् तुल्योऽनेकत्र दक्षिणः ।
व्यक्तागा गतभीर्धृष्टः गूढविप्रियकृच्छठः ॥
- प्र० रु०, पृ०- 29-32

[घ] एभिर्दक्षिणधृष्टानुकूलशठरूपिभिस्तु...।
- सा० द० 3/35 पूर्वार्द्ध

[ङ] अनुकूलादिभेदेन चातुर्विध्यं प्रतिपद्यति ।
अनुकूलो दक्षिणश्च शठो धृष्ट इतीर्यते ॥
- भा० प्र० 4/12।

2- त्रिविधः स पीठमर्दः प्रथमोऽथ विटो विदूषकस्तदनु ।
- का० 12/14 पूर्वार्द्ध

3- भक्तः संवृतमन्त्रो नर्मणि निपुणः शुचिः पटुर्वाग्मी।
चित्तज्ञः प्रतिभावांस्तस्य भवेन्नर्मसचिवस्तु ॥
- वही, 12/13

अनुचर होता है,[1] विट किसी एक विद्या को जानता है तथा विदूषक क्रीड़ा में रुचि रखने वाला, अपने ही गुणों से युक्त मूर्ख तथा हास्यपूर्ण आकार, वेष तथा वचन वाला होता है।[2]

दशरूपककार ने भी इन तीनों का लक्षण किया है, किन्तु रुद्रट की भाँति इनके सामान्य गुणों का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। उन्होंने पीठमर्द को पताका नायक भी कहते हुए उसे चतुर, नायक का अनुचर, भक्त तथा उसके गुणों से कुछ न्यून गुणों वाला प्रतिपादित किया है।[3] स्पष्ट ही इनका यह विवेचन रुद्रट से प्रभावित है। साहित्यदर्पण तथा भावप्रकाशन में भी इसी प्रकार का लक्षण है।[4] इन ग्रन्थों में विट तथा विदूषक के लक्षण भी लगभग एक से ही किए गए हैं।[5] सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र में इन तीनों का स्वरूप-निर्धारण प्राप्त होता है।[6] इन आचार्यों का उक्त विवेचन उसी का अनुसरण करता है।

1- नायकगुणयुक्तोऽथ च तदनुचरः पीठमर्दोऽत्र ।। - वही, 12/14 उत्तरार्द्ध

2- विट एकदेशविद्यो विदूषकः क्रीडनीयकप्रायः ।
   निजगुणयुक्तो मूर्खो हास्यकराकारवेषवचाः ।।- वही, 12/15

3- पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः ।
   तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिदूनश्च तद्गुणैः ।। - द०रू० 2/8

4- {क} किञ्चित्तद्गुणहीनः सहाय एवास्य पीठमर्दाख्यः ।।
   - सा०द० 3/39उत्तरार्द्ध

   {ख} पीठमर्दाख्य पुरतः प्रोक्ता नायकवद् ।
   स पीठमर्दो विख्यातः कुपित स्त्रीप्रसादकः ।।-भा०प्र० 4/129

5- {क} एकविद्यो विटश्चान्यो हास्यकृच्च विदूषकः । -द०रू० 2/9पूर्वार्द्ध

   {ख} किञ्चिदूनः पीठमर्द एकविद्यो विटः स्मृतः ।
   ....हास्यप्रायो विदूषकः ।। -प्र०रू०, पृ०-33

   {ग} सम्भोगहीनसम्पद् विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः ।
   वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ।।
   - सा०द० 3/41

   कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः ।
   हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः ।।- वही, 3/42.

   {घ} एकविद्यो विटस्तस्य कामतन्त्रेषु कौशलम् ।
   विकृताङ्गवचोवेषैर्हास्यकृत्त्वाद् विदूषकः ।।
   - भावप्रकाशन 4/127-28

नायिका विवेचन -

रुद्रट ने शृङ्गार रस की नायिकाओं का भी विवेचन किया है। सर्वप्रथम उन्होंने नायिका के तीन प्रमुख भेद किए हैं - स्वकीया [आत्मीया], परकीया तथा सवाङ्गना, ये नायिकायें नायक के सचिव के गुणों से युक्त, सखियों वाली, लज्जायुक्त तथा यथोक्त गुण वाली होती हैं, अपने [नायक], दूसरे तथा सबमें आसक्ति के भेद से ये स्वकीया, परकीया तथा वेश्या होती हैं।[1]

इनमें से पवित्र, सदाचारिणी, चरित्रपूर्ण, सरलता तथा क्षमा से युक्त आत्मीया नायिका मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा के भेद से तीन प्रकार की होती हैं।[2] इनमें से मुग्धा नवविवाहिता, नवयौवन से उत्पन्न काम के उत्साह वाली, रति की निपुणता से अनभिज्ञ अर्थात् सरल तथा भय एवं लज्जा से अव्यक्त प्रेम वाली होती है।[3] काव्यों की प्रसिद्धि के अनुसार यह एक ही प्रकार की होती है अर्थात् इस नायिका के अन्य प्रकार नहीं होते हैं।[4] उसकी प्रकृति के विषय में रुद्रट का कहना है कि वह शय्या पर करवट सोती है, आलिङ्गन के समय उन्नत अङ्गों को चुराती है, चुम्बन में मुख को छिपाती है तथा [नायक द्वारा] अनेकशः पूछे जाने पर अस्पष्ट रूप में

1- आत्मान्यसर्वसक्ताहितयो लज्जान्विता यथोक्तगुणाः ।
सचिवगुणान्वितसख्यस्तस्य स्युर्नायिकास्तेषाः ।। - का० 12/16

2- शुचिपरोदाचाररता चरित्रशरणार्जवक्षमायुक्ता ।
आत्मीया तु त्रेधा मुग्धा, मध्या प्रगल्भा च।। -वही, 12/17

3- मुग्धा तत्र नवोढा नवयौवनजनितमन्मथोत्साहा ।
रतिनैपुणानभिज्ञा साध्वसपिहितानुरागा च ।। -वही, 12/18

4- मुग्धा त्वनन्यभेदा काव्येषु तथा प्रसिद्धत्वात् ।।
- वही, 12/23 उत्तरार्द्ध

बोलती है। नायक द्वारा परकीया गमन करने पर उस पर क्रुद्ध होती है तथा केवल उसके समक्ष रोती है तथा सरल उपायों से सन्तुष्ट भी हो जाती है।[1]

मुग्धा की अपेक्षा मध्या कुछ निपुण होती है, यह उन्नत यौवन से युक्त होती है, उत्पन्न कामेच्छाओं वाली, किञ्चित {कुछ} प्रगल्भता वाली तथा कुछ - कुछ काम में निपुण होती है। ऐसी मध्या नायिका सम्भोग में थककर आनन्दित होती है, नायक के अङ्गों में प्रवेश सा करती है तथा सम्भोग के अन्त में आनन्दयुक्त नेत्रों को निमीलित किए हुए वह शिथिल हो जाती है। इस प्रकार की मध्या नायिकाओं में धीरा, अधीरा तथा मध्या- ये तीन कोटियाँ होती हैं, धीर प्रवृत्ति की नायिका नायक के दोष करने पर उस पर क्रोध करती है और व्यङ्ग्य- योक्ति से प्रहार करती है, अधीरा नायिका कठोरवचनों से प्रहार करती है तथा मध्या अश्रुपूर्ण होकर उपालम्भ देती है।[2]

प्रगल्भा नायिका जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, अत्यन्त निपुण होती है। यह रतिकर्म में पारङ्गत, अत्यन्त कुशल तथा चातुर्य {पटुता} युक्त होती है, यह नायक के मन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने वाली तथा अत्यधिक विलासयुक्त होती

1- तल्पे परिवृत्यास्ते स्पर्शमालिङ्गनेऽङ्गमम्बरति ।
वदनं च चुम्बने सा पृष्टा बक्तोऽस्फुटं वचित ।।
अन्यां निषेवमाणे सा कुप्यति नायके समक्षतस्य ।
रोदिति केवलमसौ मृदुलोपायेन तुष्यति च ।।- वही, ।2/19-20

2- आरूढयौवनभरा मध्याविर्भूतमन्मथोत्साहा ।
उद्भिन्नप्रागल्भ्या किञ्चिद्बहुसुरतचातुर्या ।।
व्याप्रियते सायस्ता सुरते विशतीव नायकाङ्गेषु ।
सुरतान्ते सानन्दा निमीलिताक्षी विमुह्यति च ।।
कुप्यति तत्र सदोषे वक्रोक्त्या प्रतिभिनत्ति तं धीरा।
परुषवचोभिरधीरा मध्या साश्रूपालम्भैः ।। - वही, ।2/21-23

हैं। ऐसी नायिका सुख में व्याकुल न होती हुई नायक के अङ्गों में घुलमिल सी जाती है तथा उस समय किसी भी प्रकार का [यह कौन है, मैं कौन हूँ, यह क्या है] विवेक नहीं कर पाती।[1] मध्या नायिका की भाँति इस श्रेणी की नायिकायें भी तीन प्रकार की होती हैं - धीरा, अधीरा तथा मध्या। धीरा नायिका नायक के अपराध करने पर क्रोध छिपाकर अत्यन्त आदर करती है, इस प्रकार नायक के सामने क्रोध को छिपा लेती है किन्तु एकान्त में उदासीन हो जाती है, मध्या प्रगल्भा कोपित पूर्ण मीठे वचनों से अपमानित [तिरस्कृत] करती हैं। अधीरा क्रोध से ताड़ना दे देकर शीघ्रतापूर्वक पीड़ित करती है।[2]

ये मध्या तथा प्रगल्भा ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा के भेद से दो- दो प्रकार की होती हैं।[3] इस प्रकार रुद्रट के अनुसार इन दोनों के छः- छः प्रकार होते हैं। कुल मिलाकर आत्मीया तेरह प्रकार की होती है।

1- लब्धायतिः प्रगल्भा रतिकर्मणि पण्डिता विभुर्दक्षा ।
आक्रान्तनायकमना निर्व्यूढविलासविस्तारा ॥
सुखे निराकुलासौ द्रवतामिव याति नायकस्याङ्गे ।
न च तत्र विवेक्तुमलं कोऽयं काहं किमेतदिति ॥
- वही, 12/ 24-25.

2- तत्र कुपितापराधिनि सम्वृत्याकारमधिकमाद्रियते ।
कोपमनहृत्यास्ते धीरा हि रहस्युदासीना ॥
मध्या तु साधुवचनैस्तमीदृशैः प्रतिभिनत्ति सोत्प्रासैः ।
ताडयति मङ्क्ष्वधीरा कोपात्सन्तर्ज्य सन्तर्ज्य ॥
- वही, 12/26-27.

3- ज्येष्ठकनिष्ठत्वेन तु पुनरपि मध्या द्विधा प्रगल्भा च ।
- वही, 12/ 28 पूर्वार्द्ध

परकीया नायिका दो प्रकार की होती हैं - कन्या तथा ऊढ़ा।[1] ये नायिकायें नायक को देखकर अथवा भलीभाँति उनके विषय में सुनकर अत्यधिक काम से पीड़ित हो जाती हैं।[2] इन नायिकाओं को नायक का साक्षात् दर्शन कराना चाहिए अथवा स्वप्न-दर्शन या इन्द्रजाल में दर्शन कराना चाहिए तथा देश- काल के अनुरूप भड़्•गि {बहाने से} द्वारा नायिका को नायक के विषय में सुनना चाहिए।[3] रुद्रट ने कवि के लिए इस विधान का उल्लेख किया है। परकीया कन्या नायिका न तो नायक को सामने से देख सकती है और न ही नायक के बोलने पर बोल सकती है। वह सखी से कहती है और उस सन्देश को सखी नायक से कहती है। नायक जब नहीं देखता रहता, तब वह स्नेहपूर्ण स्फारित नेत्रों से उसे सतत देखती रहती है तथा नायक द्वारा दूर से देखे जाने पर वह गोद में लिए हुए बालक का आलिड़्•गन करती है, अकारण ही हँसती हुई सखी से प्रेमपूर्वक कुछ भी बात करती है तथा अपने सुन्दर अड़्•गों को बहाने से प्रकाशित करती है।[4] सखी द्वारा अस्तव्यस्त किए गए केश,

---

1- .... परकीया तु द्वेधा कन्योढा चेति .... ।
- वही, 12/30 पूर्वार्द्ध

2- .... ते हि जायेते ।
गुरुमदनार्ते नायकमालोक्याकर्ण्य वा सम्यक् ।।
- वही, 30

3- साक्षाच्चित्रे स्वप्ने स्याद् दर्शनमेषामिन्द्रजाले वा ।
देशे काले भड़्•गया साधु तदाकर्णनं च स्यात् ।।- वही, 31

4- द्रष्टुं न सम्मुखीनं कन्या शक्नोति नायकं हृष्टा ।
वक्तुं न च ब्रुवाणं वक्ति रहो तं सखी चास्मै ।।
पश्यत्यलोक्यमानं सुस्निग्धस्फारलोचना सततम् ।
दूरात्पश्यति तस्मिन्नालिड़्•गति बालमड़्•कगतम् ।।
अनिमित्तं च हसन्ती सादरमाभाषते सखीं किमपि ।
रम्यं वा निजमड़्•गं सव्यपदेशं प्रकाशयति ।।
- वही, 32-34

मेखलादि आभूषणों को सँवारती है तथा अपने अङ्गों की सुन्दर भङ्गिमाओं से विविध चेष्टायें करती है।[1] इस प्रकार रुद्रट ने कन्या की विविध हावभाव तथा चेष्टाओं का उल्लेख किया है।

परकीया ऊढा {विवाहिता} भी प्रेमयुक्त होकर उन्हीं हावभाव तथा चेष्टाओं का प्रदर्शन करती है, जो कन्या करती है।[2] किन्तु ऊढा नायक के समक्ष निःसङ्कोच पूर्वक प्रेम को अभिव्यक्त करती है[3] जबकि कन्या नायिका अत्यन्त कष्ट पाने पर भी नायक के प्रति स्वयं प्रेम को अभिव्यक्त नहीं करती, अपितु उसकी अतिस्नेही सखी नायक से उसकी दुरवस्था का निवेदन करती है।[4] स्पष्ट है कि कन्या में सङ्कोच का चित्रण किया जाता है तथा ऊढा में निःसङ्कोच प्रवृत्ति का। निःसङ्कोच प्रवृत्ति वाली ऊढा नायक को देखकर अति प्रसन्न हो उठती है तथा जघनस्थली से आर्द्र वस्त्र खिसकाकर नायक को निर्निमेष देखने लगती है।[5]

1- सख्या पर्यस्तं वा रचयत्यलकावतंसरशनादि ।
चेष्टां करोति विविधामनु स्वाङ्गभङ्गैर्वा ।।
- वही, 12/35

2- अन्योढापि तथैतत्सर्वं कुरुतेऽनुरागमापन्ना ।
- वही, 12/36 पूर्वार्द्ध

3- नायकमभिमुखमवते सा प्रगल्भभावेन पुरतस्तु।
- वही, उत्तरार्द्ध

4- कन्या पुनरभिमुखं वक्ते न स्वयमेवं गतापि दुरवस्थाम् ।
सुस्निग्धा तदवस्थां सखी तु तस्मै निवेदयति ।।
- वही, 38

5- उत्फुल्लानन्दभरा प्रस्तुतजघनस्थलाद्रवसना च ।
निष्पन्दतारनयना भवति तदालोकनादेव ।।
- वही, 37

स्वाङ्गना वेश्या काम से अधिक धन की इच्छा करती है। उसका गुणहीन अथवा गुणवान्- किसी में न तो द्वेष होता है और न ही प्रेम होता है। यह नायिका स्पष्ट ही अनुरक्ता की भाँति अभिसरण करके तथा गम्य पुरुष को देख कर प्रसन्न होती है तथा उसकी समस्त सम्पत्ति निकालकर उसे [पुरुष को] निकाल देती है।[1]

इस प्रकार तेरह आत्मीया, दो परकीया तथा एक स्वाङ्गना को मिला कर कुल सोलह नायिकायें होती हैं। पुनः अभिसारिका तथा खण्डिता के भेद से ये सोलह नायिकायें दो- दो प्रकार की हो जाती हैं।[2] इस प्रकार कुल बत्तीस नायिकायें हुईं। इनमें से छब्बीस प्रकार की आत्मीया नायिका स्वाधीनपतिका तथा प्रोषितपतिका के भेद से[3] द्विगुणित होकर "बावन" हो जाती हैं, इनमें छः प्रकार की पूर्वकथित परकीया तथा स्वाङ्गना को मिलाकर नायिका के कुल अट्ठावन प्रकार रुद्रट ने बताए हैं।

अभिसारिका, खण्डिता, स्वाधीनपतिका तथा प्रोषितपतिका- इनके लक्षण रुद्रट ने इस प्रकार बताए हैं- दूती अथवा दूत के साथ अथवा अकेले ही सङ्केत स्थल पर जाकर प्रिय के साथ अभिसार करने वाली नायिका अभिसारिका कहलाती है।[4] आत्मीया तथा परकीया अभिसारिका वर्षा, अन्धकार अथवा ज्यो-

---

1- स्वाङ्गा तु वेश्या सम्यग्लो लिप्सते धनं, कामात् ।
 निर्गुणगुणिनोस्तस्या न द्वेष्यो न प्रियः कश्चित् ।।- वही, 39
 गम्यं निरूप्य सा स्फुटमनुरक्तेवाभियुज्य रञ्जयति ।
 आकृष्टसकलसारं क्रमेण निष्कासयत्येनम् ।। - वही, 40
2- द्वेधाभिसारिका खण्डितात्वयोगादभवन्ति तास्ताः ।
3- स्वीया स्वाधीनपतिः प्रोषितपतिका पुनर्द्वेधा ।।- वही, 12/41
4- अभिसारिका तु या या दूत्या दूतेन वा सकैका वा ।
 अभिसरति प्रार्थितं कुलसङ्केता यथास्थानम् ।। - वही, 12/42

रत्नादि के छिप जाने पर अर्थात् छिपे (गुप्त) रूप से अभिसार करती है किंतु वेश्या रशनादि की रणत् ध्वनि के साथ संसार में व्यक्त रूप से अभिसार करती है।

खण्डिता नायिका वह होती है जिसका प्रिय परकीया के सङ्ग से उसके प्रेम को खण्डित कर देता है, उस खण्डिता की कथा अनेक प्रकार की होती है।[2]

स्वाधीनपतिका वह होती है, जिसका पति उसके वश में होता है, उसके साथ रतिक्रीड़ा में प्रसन्न रहता है, रतिमण्डन रूप लालसा में वह आसक्त रहती है।[3]

जिसका पति अनिश्चित अथवा निश्चित अवधि के लिए देशान्तर चला जाता है अथवा जाने वाला रहता है अथवा जा रहा होता है उसे प्रोषितपतिका नायिका कहते हैं।[4]

इस प्रकार रुद्रट ने अत्यन्त विस्तारपूर्वक नायिका- चित्रण किया है।

यद्यपि भरतमुनि ने भी नाट्यशास्त्र के बाइसवें अध्याय में विभिन्न प्रकार की नायिकाओं का निरूपण किया है, किन्तु रुद्रट ने जो नायिकाभेद प्रस्तुत किया है, उसका तर्कविध वर्गीकरण अपने में सर्वथा मौलिक है। कुलजा, कन्यका,

---

1- काञ्च्यादिरणत्कारं व्यक्तं लोके प्रयाति सर्वस्त्री ।
गुप्तितमोज्योत्स्नादिकन्नं स्वीया परस्त्री च ।।
- वही, 12/43

2- यस्याः प्रेम निरन्तरमन्यासङ्गेन खण्डयेत्कान्तः ।
स खण्डितेति तस्याः कथाशरीराणि भूयांसि ।।
- वही, 12/44

3- यस्याः पतिरायत्तः क्रीडासु तया समं रतो मुदितः ।
सा स्यात्स्वाधीनपती रतिमण्डनलालसासक्ता ।।- का0 12/45.

4- सा स्यात् प्रोषितपतिका यस्या देशान्तरं पतिर्यातः।
नियतानियतावधिको यास्यति यात्येत्युपैष्यति च ।।-का0 12/46.

स्वाधीनपतिका, प्रोषितपतिका, अभिसारिका तथा खण्डिता के लक्षण नाट्यशास्त्र में भी किये गये हैं।[1]

इनके अतिरिक्त 40वीं तथा 41वीं के मध्य चौदह कारिकायें और हैं, जिनके विषय में "प्रास्ताविक" अध्याय में विस्तारपूर्वक यह सिद्ध किया जा चुका है कि वे प्रक्षिप्त हैं। इसीलिए मूल अंश की समीक्षा के पश्चात् सम्प्रति इन कारिकाओं से सम्बन्धित समीक्षा की जा रही है। इनमें से प्रथम कारिका में स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, अभिसारिका, उत्कण्ठिता, अभिसन्धिता, प्रगल्भा, प्रोषितपतिका तथा खण्डिता- ये आठ प्रकार उल्लिखित हैं।[2] तदनन्तर आठ कारिकाओं में इन आठों के स्वरूप वर्णित हैं। इसके पश्चात् भी दसवीं कारिका में प्रत्येक नायिका के उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा के तीन- तीन भेद हो जाते हैं। अन्त की तीन कारिकाओं में इन तीनों के लक्षण किए गए हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर तीन सौ चौरासी भेद हो जाते हैं।[3] क्योंकि पूर्वकथित तेरह स्वकीया, दो परकीया तथा एक सर्वाङ्गना- इन सोलह नायिकाओं में से प्रत्येक के आठ- आठ भेद तथा उनमें से भी प्रत्येक के तीन- तीन भेद करने से गणना तीन सौ चौरासी तक पहुँचती है।

1- सुरतातिरसैर्बद्धो यस्याः पार्श्वे तु नायकः ।
सान्द्रामोदगुणप्राप्ता भवेत् स्वाधीनभर्तृका ॥ - 215

व्यासङ्गादुचिते यस्या वासके नागतः प्रियः ।
तदनागमदुःखार्ता खण्डिता सा प्रकीर्तिता ॥ - 217

नानाकार्यार्थि सम्बन्धाद् यस्या वै प्रोषितः प्रियः ।
स रूढालककेशान्ता भवेत् प्रोषितभर्तृका ॥ - 219

हित्वा लज्जां तु या श्लिष्टा मदेन मदनेन च ।
अभिसारयते कान्तं सा भवेद् अभिसारिका ॥

- ना०शा० 22/220

2- सा स्वाधीनपतिर्वासकसज्जाभिसारिकोत्का च ।
अभिसन्धिता प्रगल्भा प्रोषितपतिखण्डिते चाष्टौ ॥ - का० 12

3- इति सर्वाः एवैताः शतत्रयं चतुरशीतिश्च ॥

इन कारिकाओं[1] में जिन आठ प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख है, वे नाट्य-शास्त्र से ली गयी हैं। पूर्व प्रतिपादन के अनुसार यह प्रक्षिप्त अंश है। "प्रस्तावना" नामक अध्याय में इसके विषय में सविस्तार विचार किया जा चुका है।

परवर्ती काव्यशास्त्रियों में साहित्यदर्पणकार ने नायिकाओं के तीन सौ चौरासी[2] भेद किए हैं। दशरूपककार ने रुद्रट की सरणि पर ही स्वकीया, परकीया तथा सर्वा-ङ्गना के क्रमशः तेरह, दो तथा एक— इस प्रकार सोलह भेद किये हैं किन्तु इसके साथ ही उनकी स्वाधीनपतिका इत्यादि आठ अवस्थायें भी बतायी हैं।[3] वाग्भट ने स्वकीया, परकीया तथा सर्वाङ्गना के साथ अनूढा को भी नियोजित करके नायिका के केवल चार प्रकार प्रतिपादित किये हैं।[4] वास्तव में इनकी अनूढा[5] रुद्रट की परकीया कन्या ही है। आचार्य विद्यानाथ ने स्वकीया इत्यादि का उल्लेख न करके सीधे-सीधे उनकी आठ अवस्थाओं का निरूपण किया है।[6]

1- तत्र वासकसज्जा च विरहोत्कण्ठितापि वा ।
   स्वाधीनभर्तृका चापि कलहान्तरितापि वा ॥
   खण्डिता विप्रलब्धा वा तथा प्रोषितभर्तृका ।
   तथाभिसारिका चैव ज्ञेयास्त्वष्टौ तु नायिकाः ॥
   — ना० शा० 22/ 211-12

2- चतुरधिकाशीतियुतं शतत्रयं नायिकाभेदाः ।
   — सा० द० 3/37 उत्तरार्द्ध

3- दशरूपक द्वितीय प्रकाश, पृ०- 134- 120

4- अनूढा च स्वकीया च परकीया पणाङ्गना ।
   — वा० 5/11 पूर्वार्द्ध

5- .... स्वीयैका प्रियं वदेत् ॥ — वही, 5/14 उत्तरार्द्ध

6- प्र० रु० 1/ पृ०- 33-52.

उपर्युक्त विवेचन से नायक के पूर्ववर्ती अवस्थाओं तथा नायिका-भेद में रुद्रट की मौलिकता स्पष्ट है, जिससे परवर्ती काव्यशास्त्रीय और नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ अधिकाधिक रूप से प्रभावित हुए हैं।

द्वादश अध्याय

उपसंहार

द्वादश अध्याय

उपसंहार -

प्रस्तुत प्रबन्ध के विगत अध्यायों में रुद्रटकृत "काव्यालङ्कार" में विवेचित विविध तत्वों की पूर्ववर्ती तथा परवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में समीक्षा की गयी है। रुद्रट ने श्रव्य काव्य के साथ-साथ दृश्य काव्य के भी तत्वों का निरूपण किया है। उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों का यथास्थान अनुसरण भी किया है तथा कहीं- कहीं उनका खण्डन भी किया है। साथ ही उक्त ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर उनकी मौलिकता भी स्पष्ट ही दृष्टिगत हुई है। अनेक नवीन अलङ्कारों तथा दोषादि का भी विवेचन किया गया है, जिनमें से कुछ परवर्ती साहित्य-शास्त्र में मान्य भी हुए हैं।

रुद्रट ने भामह का अनुसरण करते हुए "शब्दार्थौ काव्यम्" काव्य लक्षण किया है, किन्तु विशेषणों से रहित "शब्दार्थौ" पद काव्य का सही स्वरूप उपस्थित न कर पाने के कारण पूर्णतया निर्दुष्ट तथा समीचीन नहीं कहा जा सकता ।

उनका काव्य-हेतु विवेचन यद्यपि सर्वथा नवीन नहीं है, क्योंकि शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास - इन तीनों को ही पूर्ववर्तियों ने भी काव्य-हेतु कहा था, किन्तु इन तीनों की समष्टि को हेतु रूप में सर्वप्रथम रुद्रट ने ही प्रतिपादित किया, इस दृष्टि से उनका यह विवेचन मौलिक है तथा उपादेय होने के कारण ग्राह्य भी है।

रुद्रट ने श्रोता तथा कर्ता- दोनों की ही दृष्टि से काव्य- प्रयोजनों का निर्धारण किया है। उनके इस विवेचन में प्राय: सभी प्रयोजनों का उल्लेख है, किन्तु इसमें एक सबसे बड़ा अभाव यह है कि उन्होंने सकलप्रयोजनमौलिभूत "आनन्द" तत्व को छोड़ दिया है।

इन्होंने प्रबन्ध-भेद निरूपण भी किया है, जिसमें उत्पाद्य- अनुत्पाद्य तथा महत् - लघु की दृष्टि से किया गया वर्गीकरण उनकी मौलिकता तथा व्यापक दृष्टि का परिचायक है।

अलङ्कार, रस तथा दोष की दृष्टि से अनेक उपादेय तत्व उनके ग्रन्थ में विवेचित हैं। अलङ्कारों से सम्बन्धित विवेचन में - सर्वप्रथम अर्थश्लेष के साथ-साथ शब्द-श्लेष का भी पृथक् रूप से स्पष्ट शब्दों में विवेचन काव्यशास्त्र के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण तथ्य है, जिसको परवर्ती आचार्यों ने पूर्णतया ग्रहण करते हुए तदनुसार विवेचन प्रस्तुत किया है।

अर्थालङ्कारों के प्रसङ्ग में अनेक नवीन तथ्यों का रुद्रट ने प्रतिपादन किया है, जिनमें से उनका चतुर्विध विभाजन सर्वथा मौलिक तथा उनकी वैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है। इसके साथ ही श्लेषमूलक अर्थालङ्कार {अर्थश्लेष} के विशेष, विरोध, अवयवादि विभिन्न सूक्ष्म भेदों का भी रुद्रट ने विवेचन किया है, जो उनकी सूक्ष्मदृष्टि के स्पष्ट प्रमाण हैं। मीलित, प्रत्यनीक, समुच्चय, परिसंख्या, पर्याय, सार, एकावली इत्यादि अनेक नवीन अलङ्कारों को उन्होंने प्रस्तुत किया, जिनमें से अधिकांश को परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने मान्यता प्रदान की है किन्तु साथ ही पूर्व, अवसर, अहेतु इत्यादि कुछ अलङ्कारों को छोड़ भी दिया है।

इनके चतुर्विध वर्गीकरण को परवर्ती काव्यशास्त्र में मान्यता प्राप्त नहीं हुई। इसका एक ही कारण हो सकता है और वह है-कुछ अलङ्कारों का एक से अधिक वर्गों में विवेचन, क्योंकि प्रत्येक अलङ्कार में वास्तव अथवा औपम्य अथवा अतिशय अथवा श्लेष एक ही तत्व हो, ऐसा सम्भव नहीं, यथा उत्प्रेक्षा के ही औपम्यमूलक भेदों में औपम्य के कारण चमत्कृति उत्पन्न होती है तथा अतिशयमूलक भेदों में अतिशय के कारण। इन दोनों में "सम्भावना" तत्व मूल रूप में विद्यमान है,

इस दृष्टि से दोनों वर्गों के भेद एक ही संज्ञा [उत्प्रेक्षा] से कथित हैं। इसी प्रकार वास्तवमूलक सहोक्ति के दो अर्थों में कार्य- कारण भाव रहता है तथा औपम्यमूलक सहोक्ति में उपमान- उपमेय भाव किन्तु इनका मूल दो अर्थों की सह उक्ति ही है, अतः दोनों को पृथक्- पृथक् संज्ञाएँ न देकर एक ही संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार मूलतः अलङ्कार तो एक ही है, किन्तु चमत्कार की दृष्टि से उन्हें दो वर्गों में विभक्त किया गया है।

रूद्रट ने अलङ्कारों की ही भाँति दोषों के भी कुछ नवीन रूप प्रस्तुत किए हैं यथा विरस,अतिमात्र इत्यादि, जिनका विवेचन परवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी किया गया है।

उनकी मौलिकता रस- प्रसङ्ग में भी सराहनीय है क्योंकि इन्होंने ही सर्व-प्रथम रसों का स्वतन्त्र रूप से विवेचन किया। अलङ्कारों के अन्तर्गत रसों को रख कर पूर्ववर्तियों की भाँति इनको उपमादि की अपेक्षा गौण नहीं बनाया अपितु इनको अलङ्कारों के समकक्ष रखा अर्थात् दोनों के प्रति समान दृष्टि रखते हुए जिस प्रकार अलङ्कारों का स्वतन्त्र एवं विस्तृत विवेचन किया उसी प्रकार रसों का भी। अतः काव्यशास्त्र की दिशा को नवीन दिशा देने में इनका पूर्ण योगदान रहा है।

रस-प्रसङ्ग में इन्होंने श्रृङ्गार- सम्बन्धी पात्रों का भी विवेचन किया है, जो नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों को भी प्रभावित करता है। यही कारण है कि काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों के साथ- साथ नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों पर भी इनका पूर्ण प्रभाव पड़ा है। दशरूपक तथा भावप्रकाशन जैसे सुविख्यात ग्रन्थों के उक्त विषयगत विवेचनों में इनका अनुसरण अधिक अंशों में किया गया है।

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त शब्द, वाक्य, वृत्ति तथा रीति इत्यादि कुछ स्फुट विषयों पर भी रुद्रट ने विचार किया है, जो साहित्यशास्त्र में अपने-अपने स्थान पर समान रूप से महत्वपूर्ण है। वृत्तियों के आधार पर रीतियों का विभाजन तथा उन सभी को समान महत्व देना, रुद्रट की मौलिक उद्भावनाएं हैं, जिनका परवर्ती काव्यशास्त्र पर प्रभाव लक्षित होता है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि रुद्रट ने काव्यशास्त्र के लिए महत्वपूर्ण योगदान देते हुए अपनी विलक्षण बुद्धि की नवीन उद्भावनाओं से उसे सिञ्चित किया है, जो उत्तरवर्ती शास्त्र में अनेक रूपों में तथा अनेक प्रकार से पुष्पित एवं पल्लवित हुआ ।

==========

ग्रन्थ- सूची (ग्रन्थ सङ्केत सहित)

1- अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (अ0 पु0 का का0 भा0) नालन्दा प्रेस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण ।

2- अलङ्कार- शास्त्र का इतिहास - डॉ0 कृष्णकुमार

3- अभिनव - भारती (अ0 भा0) अभिनवगुप्तविरचित नाट्यशास्त्र की संस्कृत टीका

4- अलङ्कार सर्वस्वम् (अ0 स0) राजानक रुय्यक - चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वितीय संस्करण ।

5- अलङ्कार कौस्तुभ (अ0 कौ0) - कर्णपूर गोस्वामी- परिमल पब्लिकेशन्स, शक्तिनगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

6- अलङ्कार मुक्तावली (अ0 मु0) - विश्वेश्वर पण्डित- विष्णुप्रसाद भण्डारी द्वारा संशोधित (1927)

7- अलङ्कार शेखर: (अ0 शे0)- केशव मिश्र - निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, (1926)

8- ऋक्प्रातिशाख्य

9- काव्यालङ्कार: (का0) रुद्रट - चौखम्बा विद्याभवन- प्रथम संस्करण

10- काव्यालङ्कार: (का0) भामह- विद्यानिवास प्रेस, वाराणसी वि0 सम्वत् 2038

11- काव्यादर्श (का0 द0) दण्डी- श्री भारत भारती प्रा0 लिमिटेड, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

12- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति: (का0 सू0 वृ0)- वामन - चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण ।

13- काव्यालङ्कारसारसंग्रह लघुवृत्ति टीका सहित - (का0सा0सं0) - उद्भट- हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण ।

14- काव्यानुशासन: (का0 शा0) - हेमचन्द्र

15- काव्यानुशासन: [का० शा०] वाग्भट

16- काव्यमीमांसा [का०मी०] राजशेखर

17- काव्य-प्रकाश: [का० प्र०] मम्मट - साहित्य भण्डार, मेरठ, षष्ठमसंस्करण

18- कुवलयानन्द: [कु०] - अप्पयदीक्षित- चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण ।

19- काव्यप्रदीप: [का० प्र०] गोविन्द - चौखम्बा संस्कृत संस्थान- द्वितीय संस्करण।

20- चन्द्रालोक: [च०] - जयदेव - चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण ।

21- तर्कभाषा - केशवमिश्र - साहित्य भण्डार, मेरठ, तृतीय संस्करण ।

22- दशरूपकम् [द० रू०] - अवलोक टीका सहित, साहित्य भण्डार, मेरठ, चतुर्थ संस्करण ।

23- ध्वन्यालोक: लोचन टीका सहित [ध्व०]- आनन्दवर्द्धन, मोतीलाल बनारसीदास, द्वितीय संस्करण ।

24- नाट्यशास्त्रम् [ना० शा०]-भरतमुनि- काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, संस्कृत संस्करण, साहित्य अनुसन्धान समिति, वि० सं० 2028 - 2032

25- निरूक्तम् [प्रथम अध्याय] - साहित्यभण्डार, मेरठ

26- प्रतापरूद्रीयम् [प्र० रू०] - विद्यानाथ- कृष्णदासअकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण

27- भाव- प्रकाशन [भा० प्र०]- शारदातनय

28- भारतीय साहित्य- शास्त्र का इतिहास

29- मनुस्मृति

30- रसगङ्गाधर: [र० गं०] पण्डितराज जगन्नाथ- चौखम्बा सुरभारती प्रकाश, चतुर्थ संस्करण ।

31- रसतरङ्गिणी [र० त०]- भानुदत्त - अमर प्रिंटिंग प्रेस, विजयनगर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

32- रसमञ्जरी {र० म०} - भानुदत्त - चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण ।

33- रसचन्द्रिका {र० च०} विश्वेश्वर पण्डित, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी {1983}

34- वक्रोक्तिजीवितम् {व० जी०} - कुन्तक - चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण ।

35- वाग्भटालङ्कार: {वा०} - वाग्भट - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।

36- वाजसनेय प्रातिशाख्य

37- वाक्यपदीय

38- सरस्वतीकण्ठाभरणम् {स० क० भ०} भोजराज - नारायण प्रेस, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण ।

39- साहित्यदर्पण: {सा०द०} - विश्वनाथ कविराज - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, षष्ठम संस्करण ।

40- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - भाग एक - डॉ० सुशील कुमार डे ।

41- हिन्दी व्यक्तिविवेक {हि० व्य० वि०} व्याख्याकार रेवाप्रसाद द्विवेदी

42- शाङ्गधर पद्धति ।

<u>Books and Journals</u>

1- Bhoja's Sringara Prakash (Bhoja's Sri.Pra.) Dr. V. Raghavan

2- History of Sanskrit Poetics - by Dr. P.V. Kane

3- Early History and Culture of Kashmir - Dr. S.C. Rai

4- Geneology in " The struggle for Empire ". Vol V

5- Bhartiya Vidya Bhawan's History and Culture of Indian People

6- Studies in the Geography of Ancient and Medieval India

7- A Classical Dictionary of Hindu Mythology

8- History of Dharmshastra Vol. IV

9- 'Catalogue of Sanskrit Manuscripts ' The Maharaja of Bikaner (1880)

10- A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in Government Oriental Manuscripts Library Madras Vol. XXII 1918

11- Indian Office Catalogue

12- Z.D.M.G. Vol. 27 and Vol. 36.